आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

पुस्तक में क्या है—

भारत की एकता और अखण्डता तथा अनेकविध समस्याओं के मूल में कुछ लोगों के यहाँ के मूल निवासी होने और कुछ (आर्यों) के बाहर से आ यहाँ के मूल निवासियों को युद्ध में पराजित कर इस देश पर बलात् अधिकार कर लेने की धारणा है। अंग्रेज़ों ने अपने राजनैतिक स्वार्थ के कारण इस मिथ्या धारणा को जन्म दिया था, किन्तु देश के स्वतन्त्र होजाने के ४२ वर्ष बाद भी हम इन्हीं मिथ्या धारणाओं में जी रहे हैं।

इस पुस्तक में ऐतिहासिक, पुरातात्त्विक तथा वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। मानवसृष्टि, जलप्लावन, हड़प्पा व मोहन-जोदड़ो की सभ्यता, भाषाविज्ञान, आर्य और द्रविड़, आर्य-दास-दस्यु, आर्यों के मूलस्थान विषयक विभिन्न मतों, आर्यों के धार्मिक विश्वासों, यज्ञों, खान-पान, सामाजिक जीवन व शासन व्यवस्था आदि विषयों पर एक सौ से अधिक ग्रन्थों के आधार पर विवेचन हुआ है। इस प्रकार की सामग्री अन्यत्र दुर्लभ है।

@VaidicPustakalay

आर्यों का आदिदेश
और
उनकी सभ्यता

लेखक
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

भूमिका
डॉ० बलराम जाखड़
अध्यक्ष, लोकसभा

प्रस्तावना
श्रीकृष्णचन्द्र पन्त
रक्षामन्त्री

इण्टरनेशनल आर्यन फ़ाउण्डेशन, बम्बई

प्रकाशक :
इण्टरनेशनल आर्यन फ़ाउण्डेशन,
३०२, कैप्टन विल्ला
मौंट मेरी रोड, बान्दरा,
बम्बई-४०००५०

प्रथम संस्करण १९८९

मूल्य : साठ रुपये

मुद्रक :
दुर्गा मुद्रणालय,
सुभाषपार्क एक्सटेंशन,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

भूमिका

आज देश में विघटनकारी तत्त्वों द्वारा प्रादेशिकता, जातीयता आदि पर आधारित संकीर्ण विचारों को बढ़ावा देकर जनमानस को भ्रमित करने का जो प्रयास किया जा रहा है उसे रोकने के लिए आवश्यक है कि हम अपने भारत देश और उसकी सभ्यता के अतीत का सही मूल्यांकन करें। स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने, अपनी कृति 'आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता' में इस कर्त्तव्य को भलीभाँति निभाया है। निश्चय ही उनकी यह सामयिक रचना राष्ट्र में एकता की भावना को उभारने में सहायक होगी।

स्वामीजी ने इस मत की पुष्टि में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं कि आर्यजन इसी देश के आदिवासी हैं और वेद मानव को ईश्वर द्वारा प्रदत्त आदि ज्ञानपुंज है। वैदिककालीन सभ्यता अति उन्नत थी। उस काल में नारी की स्थिति अति उच्च, सम्मानित तथा गौरवमयी थी। यद्यपि वैदिककालीन शासन-व्यवस्था मूलतः राजतन्त्रात्मक थी, परन्तु वह लोकतन्त्र पर आधारित थी।

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती की इस कृति के बारे में अपने मनोद्गार व्यक्त करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। मुझे पूर्ण विश्वास है स्वामीजी की इस शोधपूर्ण कृति का विद्वानों के बीच समादर होगा।

नई दिल्ली
१६।६।८६

बलराम जाखड़
(डॉ० बलराम जाखड़)
अध्यक्ष, लोकसभा

प्रस्तावना

विश्वप्रसिद्ध इतिहासवेत्ताओं ने अलग-अलग समय में आर्यों के आदिदेश के बारे में अलग-अलग धारणाएँ निरूपित की हैं। स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने अपने शोधकार्य 'आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता' में इन धारणाओं का विश्लेषण किया है।

आर्य भारत के बाहर से आक्रामक के रूप में आये या वे यहाँ के मूल निवासी थे—इसकी तह में जाने के लिए लेखक ने वेदों, पुराणों, उपनिषदों, शतपथ ब्राह्मण, मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों का ही अध्ययन नहीं किया, बल्कि इस दिशा में काम करनेवाले सभी सुप्रसिद्ध भारतीय और पाश्चात्य इतिहास-वेत्ताओं द्वारा रचित ग्रन्थों का भी अनुशीलन किया है। भारत में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में किये गये उत्खनन में प्राप्त सामग्री उन्हें अपने निष्कर्ष पर पहुँचने में काफ़ी सहायक हुई। उनका स्पष्ट मत है कि आर्य लोग इसी देश के मूल निवासी हैं और उनसे पहले यहाँ कोई जाति नहीं रहती थी। कला, संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से उनका जीवन स्तर वैदिक काल से ही काफ़ी ऊँचा था। उत्तर और दक्षिण भारत की भाषाओं का उद्गमस्रोत प्रायः संस्कृत ही रहा है जिसका उपयोग वैदिक काल से ही होता चला आया है। लेखक के अनुसार आर्यों और द्रविड़ों के बीच सम्बन्धों के बारे में यह धारणा निर्मूल है कि ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं या इनमें से किसी एक ने दूसरे पर आक्रमण किया था।

लेखक का यह शोधकार्य भारत के आदिकालीन इतिहास पर एक ऐसा प्रकाश डालने का प्रयास है जिससे भारत में रहनेवाली सभी जातियों, धर्मों और भाषाओं के लोग अपने आपको वैदिक काल के सभ्य और सुसंस्कृत समाज से सम्बद्ध होने पर निःसन्देह गौरवान्वित अनुभव कर सकें।

इतिहासवेत्ताओं को यह पुस्तक रुचिकर लगेगी, क्योंकि इसमें हमारे इतिहास की एक नई व्याख्या की गई है। एक इतिहासवेत्ता न होने के कारण इस विषय पर जिसके सम्बन्ध में विद्वानों में विभिन्न मत है, अधिकारपूर्वक कोई निर्णायक दृष्टिकोण अपनाने की चेष्टा करना मेरे लिए धृष्टता होगी, परन्तु इतना तो सर्व-मान्य है कि हमारे अनुभवों ने हमें विभिन्न देशों के बीच मैत्री एवं सौहार्द्रपूर्ण ढंग से रहने की शिक्षा दी है।

मैं समझता हूँ कि यह पुस्तक भारत की एकता को और पन्थ-निरपेक्षता के सिद्धान्त को बल देने के अपने उद्देश्य में सफल होगी।

१० सितम्बर १९८९

—कृष्णचन्द्र पन्त
(रक्षामन्त्री, भारत)

आशीर्वचन

वेद में आये 'आर्य', 'दस्यु' आदि शब्द गुणवाचक हैं, जातिविशेष के वाचक नहीं। इन शब्दों के वास्तविक अर्थों को न समझकर पाश्चात्य विद्वानों ने यह सिद्ध करने का यत्न किया कि आर्य नाम से पुकारे जानेवाले लोग भारत के मूल निवासी नहीं हैं। इस देश के मूल निवासी वे लोग हैं जिन्हें आज आदिवासी या पिछड़ी जातियाँ कहा जाता है। यह कल्पना हमें आपस में लड़ाने के लिए की गई। वेद-मन्त्रों के काल्पनिक अर्थ करके यह भी कहा गया कि उत्तर भारतीय आर्य विदेशी आक्रान्ता हैं जिन्होंने बाहर से आकर यहाँ के मूल निवासियों = द्रविड़ों पर तरह-तरह के अत्याचार किये और उन्हें परास्त कर इस देश की धरती पर बलात् अधिकार कर बैठे।

पाश्चात्य मतानुसार जिन आर्यों ने ऋग्वेद जैसा महान् (और निर्विवाद रूप से संसार का सबसे पहला) ग्रन्थ लिखा, उन्होंने अपनी इतनी भारी विजय का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया। संसार में कौन ऐसी सभ्य जाति है जिसने अपनी विजयगाथा न लिखी हो। यदि लंका विजय का उल्लेख रामायण में और पाण्डवों की विजय का उल्लेख 'जय' (महाभारत) में यहाँ के कवि कर सकते थे तो आर्यों ने तथाकथित द्रविड़ों पर जो महान् विजय प्राप्त की, उसका संकेत तक भी किसी ग्रन्थ में क्यों नहीं मिलता? स्पष्ट है कि न आर्य बाहर से आये और न यहाँ के तथाकथित पूर्व निवासी द्रविड़ आदि को यहाँ से खदेड़ा गया। यह पाश्चात्यों की एक कूटनीतिक चाल थी।

आर्यों के विदेशी आक्रान्ता होने की मिथ्या तथा राष्ट्रविरोधी मान्यता का प्रत्याख्यान होना नितान्त आवश्यक है। श्री स्वामी विद्यानन्द सरस्वती इस दिशा में प्रयास कर रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी का परिणाम है। प्रभु उन्हें इस अभियान में सफलता प्रदान करे।

सर्वानन्द सरस्वती
अध्यक्ष
वैदिक यतिमण्डल, दीनानगर (पंजाब)

प्रकाशकीय वक्तव्य

यदि किसी का भविष्य बिगाड़ना हो तो उसके अतीत को बिगाड़कर यह काम आसानी से किया जा सकता है। अतीत को सर्वथा मिटाना किसी प्रकार सम्भव नहीं, किन्तु उसके स्वरूप को विकृत कर उसके प्रति घृणा उत्पन्न करना सम्भव है। अंग्रेज़ों के भारत में आने का प्रयोजन इस देश पर शासन करना था। अपनी सत्ता को स्थायित्व प्रदान करने के लिए यहाँ के लोगों में फूट डालना आवश्यक समझा गया। इसके लिए उन्होंने कुछ लोगों के इस देश के मूल निवासी (आदिवासी) होने और कुछ के विदेश से आकर यहाँ के मूल निवासियों को पराजित कर इस देश पर अधिकार कर बैठने के विचार को जन्म दिया।

आज भारत की एकता व अखण्डता तथा उसकी अनेकविध समस्याओं के समाधान में सबसे बड़ी बाधा आर्यों के विदेशी कहे जाने की मिथ्या धारणा है। आश्चर्य और दुःख की बात तो यह है कि देश के स्वतन्त्र होने के चालीस वर्ष बाद भी हम इन्हीं मिथ्या कल्पनाओं में जी रहे हैं। अब यह भी कहा जाने लगा है कि यदि दो सौ वर्ष पूर्व आनेवाले अंग्रेज विदेशी थे तो तीन हज़ार वर्ष पूर्व बाहर से आनेवाले आर्य विदेशी क्यों नहीं ?

आज से कुछ वर्ष पूर्व 'आर्यों का आदिदेश' नाम से इस विषय की एक छोटी-सी पुस्तक स्वामी विद्यानन्दजी ने लिखी थी। ३२ पृष्ठों की उस पुस्तक का सर्वत्र भारी स्वागत हुआ और शीघ्र ही उसका देश की सभी प्रमुख भाषाओं तथा दो विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो गया और हाथों हाथ लगभग ५० हजार प्रतियाँ निकल गयीं। तब इस विषय की पूरी जानकारी देने के लिए ऐतिहासिक, पुरातात्त्विक तथा वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में लिखी गई युक्ति-प्रमाण पुरःसर सर्वांगपूर्ण पुस्तक की आवश्यकता अनुभव हुई जिससे इस देश की एकता, अखण्डता और उसके प्राचीन गौरव की रक्षा हो सके। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रस्तुत पुस्तक लिखी गई है। प्रख्यात शिक्षाशास्त्री और संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी में विभिन्न विषयों के प्रामाणिक, पुरस्कृत तथा देश-विदेश में प्रशंसित अनेक ग्रन्थों के लेखक स्वामी विद्यानन्दजी सरस्वती ने हमारे अनुरोध पर इस खोजपूर्ण पुस्तक की रचना की है जिसके लिए हम उनके आभारी हैं।

अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी लोकसभाध्यक्ष डॉ० बलराम जाखड़ ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की भूमिका और रक्षामन्त्री श्री कृष्णचन्द्र पन्त ने इसकी प्रस्तावना खिलने की कृपा की—एतदर्थ उनका अनेकशः धन्यवाद।

देवेन्द्रकुमार कपूर

अध्यक्ष, इण्टरनेशनल आर्यन फ़ाउण्डेशन

Ravi Shastri

विषय-सूची

प्रस्तावना

भारत पर लिखे गये इतिहासों पर दृष्टिपात करने पर एक बात जो सबसे पहले उभरकर सामने आती है, वह यह है कि अब तक के लिखे गये इतिहास राज-नैतिक स्वार्थ, जातीय पक्षपात व साम्प्रदायिक हितों के तक़ाज़ों से लिखे गये हैं, जिन्हें वस्तुपरक नहीं माना जा सकता। प्राचीन इतिहास का लोप होने या उसके विकृत होने का एक कारण विजेता जातियों द्वारा विजित जाति की सभ्यता, संस्कृति और साहित्य का लोप होना है। भारत पर अनेक बार शक, हूण, यवन जैसी बर्बर जातियों के आक्रमण हुए। इनके पश्चात् तुर्क, मंगोल, अरब आदि जातियों के आक्रमण कितने घातक थे, इसे सब इतिहासवेत्ता जानते हैं। इन बर्बर जातियों ने न केवल इस देश के धर्म, सभ्यता और संस्कृति का विनाश किया, अपितु विपुल वाङ्मय को भी भस्मसात् कर दिया। नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयों के विशाल पुस्तकालय जलाये जाने की घटनाएँ इतिहासप्रसिद्ध हैं।

जिस इतिहास को हम आज भारत का इतिहास मानते हैं, वह विशेष उद्देश्य को लेकर योजनाबद्ध रूप से ऑक्सफ़ोर्ड के विद्वानों का रचा हुआ इतिहास है। भारतीयों का उद्धार करने की आड़ में अपने साम्राज्य का निर्माण करना उनका लक्ष्य था। ईसाइयत के प्रचार से भारत का उद्धार करने के उत्सुक अंग्रेज़ों के लिए यह सिद्ध करना ज़रूरी था कि भारत के लोग सदा से बर्बर और असभ्य रहे हैं। कारण ? यदि उन्हें सभ्य मान लिया जाय तो फिर वे उन्हें सभ्य बनाने का दावा कैसे करते ? १७५७ में प्लासी की लड़ाई में सफलता प्राप्त करने के कुछ ही दिन बाद लॉर्ड मेकाले ने अपने मित्र मिस्टर राउस को लिखा था—"अब केवल नाममात्र नहीं, हमें सचमुच नवाब बनना है और वह भी कोई पर्दा रखकर नहीं, खुल्लमखुल्ला बनना है।"[1] इसी योजना के अन्तर्गत १८६६ में आर्थर ए० मैकडानल ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' लिखा। उसके कुछ अंश यहाँ दिये जा रहे हैं। ये उद्धरण १६३६ में प्रकाशित संस्करण से हैं—

---

१. मिल्स-कृत 'भारत का इतिहास', खण्ड ४, पृ० ३३२

१. आर्यों के आक्रमण के बाद बड़ी तेज़ी से आर्यसभ्यता ने भारत उपखण्ड में एक अनोखा विस्तार कर लिया।—पृष्ठ ७

२. वास्तव में भारत में इतिहास का अस्तित्व ही नहीं है। ऐतिहासिक अस्मिता का इतना अभाव है कि सारे संस्कृत साहित्य पर इसकी छाया पड़ी है और कालक्रम का तो संस्कृत साहित्य में सर्वथा अभाव है।—पृष्ठ १०

३. भारतीयों ने इतिहास लिखे ही नहीं, क्योंकि उन्होंने कभी कोई ऐतिहासिक कार्य नहीं किया।—पृष्ठ ११

४. भारत पर प्रथम आक्रमण पश्चिम से आर्यों ने किया। वे पश्चिमोत्तरी घाटियों पर उतरे जहाँ भारत की समतल भूमि पर सदा से आक्रमणों की लहरें आती रहीं।—पृष्ठ ४०

५. इस प्रकार छठी शताब्दी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से हटकर महान् राजा विक्रमादित्य किंवदन्ती के क्षेत्र में चला जाता है।—पृष्ठ ३२३

६. इतिहासपूर्व काल में जिन आर्यों ने भारत को जीता था, वे स्वयं पुराने समय से बाहरी आक्रमणों के शिकार होते चले आये थे।—पृष्ठ ४०८

७. बेहिस्तून तथा पर्सीपोलिस के शिलालेख बताते हैं कि सायरस १ का पुत्र दरायूस हिस्तेस्पीस केवल गान्धार पर ही नहीं, भारत के लोगों पर भी राज करता था। हिरोडोटस भी कहता है कि वह बादशाह उत्तर भारत पर शासन करता था। ईरानी साम्राज्य को भारत सबसे क़ीमती भेंट देता था तथा जिस सोने के रूप में वह भेंट दी जाती थी वह किसी पूर्वी मरुस्थल से आता था जिसे खोदने वाली चींटियाँ लोमड़ी से भी बड़ी होती थीं।—पृष्ठ ४०९

८. ईसा-पूर्व १२० से १७८ ईसा के बाद तक कुशान जातियाँ भारत पर आक्रमण करने में अगुआ थीं···उसकी स्मृति भारत के लोगों ने 'शक वर्ष' के रूप में आज तक सँजोकर रक्खी है। इसका आरम्भ ईसवी सन् ७८ से होता है जब उस जाति के सबसे बड़े राजा कनिष्क का राज्याभिषेक हुआ था।···इसके बाद शकों के आक्रमण होते रहे···भारत के अनेक राज्यों के टुकड़े हो गये।···ईसवी सन् १००० के आसपास भारत को मुसलमानों ने जीता।—पृ० ४१३

इस प्रकार भारत सदा से हारने वाला देश रहा है—यह सार-संक्षेप है उस इतिहास का जिसे मिथ्या होते हुए भी हमने अपनी मानसिक दासता के कारण 'आंग्लवाक्यं प्रमाणम्' के अनुसार स्वीकार किया हुआ है।

वास्तव में इस मत के प्रवर्त्तक मैक्समूलर थे। अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए उन्होंने बलपूर्वक कहा कि पाणिनि के समय तक तो भारतीय लोग लिखना-पढ़ना भी नहीं जानते थे। अपनी पुस्तक 'प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास' में उन्होंने अपने पूर्वाग्रह को खुलकर व्यक्त किया, परन्तु वैदिक सभ्यता के इतने ऊँचे शिखर पर पहुँचा हुआ समाज लेखन से अपरिचित रहे, इसकी कोई

कल्पना भी नहीं कर सकता। वस्तुत: वेदों की भाषा, काव्य-सौष्ठव, अन्तर्वस्तु और वैचारिक गम्भीरता को देखते हुए कौन मान सकता है कि इनकी रचना निरक्षर लोगों द्वारा सम्भव थी? सन् १७८६ में रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल के मंच से दिये गये अपने भाषण में सर विलियम जोन्स ने कहा था—"संस्कृत भाषा की प्राचीनता चाहे जो भी हो, उसका गठन अद्भुत है। वह ग्रीक से अधिक निर्दोष, लेटिन से अधिक सक्षम और इनमें से किसी की भी तुलना में अधिक परिमार्जित है।"[1] संस्कृत के सम्बन्ध में कही गई इस बात को उच्छल भावोद्गार नहीं माना जा सकता। भाषा का विकास शून्य में नहीं होता। वह मानव-समाज के सांस्कृतिक संघर्ष के बीच अर्जित ज्ञान, अनुभव, कौशल, चिन्तन और प्रत्ययन का, उसकी अनुभूति, अभिरुचि और सौन्दर्य-दृष्टि का, उसके भौतिक योगक्षेम, नैतिक मूल्य, चेतना और सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं और व्यवस्थाओं का याथातथ्य प्रतिबिम्ब होता है। यह एक सार्वभौम निरपवाद नियम है। वैदिक भाषा की यह समृद्धि इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि वैदिकजन वैदिक काल में एक अत्यधिक विकसित सभ्यता के निर्माता थे। उन्हें सामान्य पशुचारी यायावर के रूप में प्रस्तुत करना तथ्यों के विपरीत है।

मैक्समूलर के अनुसार वेदों को श्रुति इसलिए कहा जाता रहा है, क्योंकि इनका संक्रमण और प्रसार श्रुत-परम्परा से ही होता रहा है। यह इस बात का सूचक है कि वैदिक काल में लेखन का प्रचलन नहीं था, परन्तु मैक्समूलर की इस मान्यता के अनुसार तो वेद ही नहीं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, और उपनिषदों आदि तक के काल में, यहाँ तक कि पाणिनि के समय तक, लेखन का प्रचलन नहीं था। इससे तो इन सबका संक्रमण और प्रसार श्रुत-परम्परा से ही सिद्ध होता है। तब वेदों की तरह इन सबका नाम भी श्रुति क्यों नहीं है? यदि मैक्समूलर इस प्रश्न का उत्तर ढूंढते तो उन्हें 'श्रुति' शब्द के पीछे कोई अन्य कारण दिखाई देता। सच तो यह है कि यदि वैदिक भारत लेखन से परिचित सिद्ध हो जाता है तो उनका यह कहना मिथ्या सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन काल में भारतीयों का कोई इतिहास उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा गढ़े गये इतिहास की प्रामाणिकता कैसे रह सकती थी? इसलिए वह ऐसे प्रत्येक साक्ष्य का प्रत्याख्यान करते चले गये जिससे उस काल में लेखन के प्रचलन की पुष्टि हो सकती।

रैप्सन के अनुसार "पाणिनि के युग-प्रवर्त्तक ग्रन्थ में वर्णित उच्च और शुद्ध भाषा से वैदिक वाङ्मय की भाषा निश्चित पूर्वकालीन है। यह आवश्यक नहीं कि वह बहुत पूर्वकालीन हो। सूत्रग्रन्थ भी, जो निस्सन्देह ब्राह्मणग्रन्थों के उत्तरवर्त्ती हैं, एक स्वच्छन्दता दिखाते हैं जो पाणिनि के पूर्ण प्रभाव के पश्चात् आसानी से

---

१. Jesperson : Language, its Nature, Origin and Development.

समझ में नहीं आता।"[1]

इस लेख में इतनी सचाई है कि सूत्रग्रन्थ पाणिनि से पूर्वकालिक हैं, पर रैप्सन को पाणिनि के काल का पता नहीं। वह पाणिनि को ३०० ईसा-पूर्व का मानता है, जबकि पाणिनि का वास्तविक काल विक्रम से लगभग २६५० वर्ष पूर्व है। अनेक सूत्रग्रन्थ उससे कई सौ वर्ष पूर्व के हैं। पाणिनि स्वयं उनका स्मरण करता है—**'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु'** (अष्टा० ४।३।१०५)—अर्थात् पाणिनि से पहले पुरातन और उनसे अपेक्षाकृत नवीन दोनों प्रकार के सूत्रग्रन्थ बन चुके थे। पैङ्गीकल्प और आरुणपराजी (आरुण पाराशरी) आदि नूतन सूत्रग्रन्थ थे और आश्मरथ्यकल्प अपेक्षाकृत नूतन सूत्रग्रन्थ थे, किन्तु थे ये सभी पाणिनि से पूर्व-कालीन। इससे भी अधिक पाणिनि के अगले सूत्र (४।३।१०६) के अनुसार शौनक की शिक्षा, शौनक की बृहद्देवता, शौनक का प्रातिशाख्य आदि भी बन चुके थे। पाणिनि से पहले अनेक वैयाकरण हो चुके थे जिन्हें पाणिनि ने स्मरण किया है। इतने अधिक व्याकरण-ग्रन्थों की रचना से पूर्व अन्यान्य साहित्य भी रचा गया होगा। उसमें चिकित्सा, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, दर्शन, विज्ञान आदि अन्यान्य विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थ रहे होंगे। इतना विशाल साहित्य मौखिक रूप से रचित, प्रसारित तथा सुरक्षित रहा—यह कथन सर्वथा उपहासास्पद है। ये ग्रन्थ महाभारत-युद्ध के ३०० वर्ष पश्चात् तक अथवा विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व तक बन चुके थे, अतः रैप्सन का अन्यत्र (पृष्ठ ७०) यह लिखना कि ईसा से २५०० वर्ष पूर्व आर्यों ने भारत में प्रवेश किया था, सर्वथा अयुक्त है।

सूत्रों तथा पुरातन स्मृतियों की भाषा महाभारत-सदृश है। महाभारत सदृश भाषा यास्कीय निरुक्त में भी है, अतः यदि यास्क और सूत्रकार ऋषि पाणिनि से पहले के हैं तो महाभारत भी पाणिनि से पहले का है। महाभारत (पूना-संस्करण) में यद्यपि शोध का स्थान है, तथापि उसमें पाणिनि से पूर्व के और सूत्र-सदृश प्रयोग अधिक हैं। महाभारत में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि महर्षि वेदव्यास ने महाभारत लिखने के लिए गणेश से अनुरोध किया था। गणेश अपने समय के आशुलिपि में लिखनेवाले कुशल लेखक (Stenographer) थे। उन्होंने कुछ नियत शर्तों पर महाभारत लिखना स्वीकार कर लिया था।

---

१. The language also of the Vedic literature is definitely anterior, though not necessarily much anterior, to the classical speech as prescribed in the epoch-making work of Panini; even the Sutras which are undoubtedly later than the Brahmanas, show a freedom which is hardly conceivable after the period of the influence of Panini"

—Cambridge History of India, P. 113

वेदों, ब्राह्मणों, दर्शनों, उपनिषदों, व्याकरण-ग्रन्थों आदि का विभाग करते हुए मण्डल, सूक्त, काण्ड, अध्याय, प्रपाठक, पाद, खण्ड आदि का उल्लेख मिलता है। ये सब लिखित ग्रन्थों के ही विभाग-उपविभाग हो सकते हैं। अन्य किसी भी रीति से इन नामों का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। मौखिक रूप में भी एक दिन का पाठ विभिन्न शिक्षकों, पाठशालाओं और पीढ़ियों में वही बना रहे, और वह भी तब जब उनका आकार भिन्न हो, लिखित रचना के अभाव में असम्भव है। शतपथ ब्राह्मण और काठक संहिता आदि में वाणी को लिपिबद्ध करने का स्पष्ट उल्लेख है।[1] अथर्ववेद में एक स्थल पर कोश अथवा पेटिका से निकालकर वेद का पाठ करने और फिर उसे सँभालकर उसी में रख देने का उल्लेख इन शब्दों में मिलता है—

यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्।

—अथर्व० १९।७२।१

अर्थात् जिस प्रकार पेटी से वेद का ग्रन्थ उठाते हैं और पढ़ चुकने पर उसी में रख देते हैं, उसी प्रकार जिस परमेश्वर से हम वेदमय ज्ञान प्राप्त करते हैं, पुनः उसी के भीतर उसे समाया पाते हैं। कोश अर्थात् पेटिका में बड़े आकार के ग्रन्थों को सँभालकर रखने का प्रचलन पुराना है और शायद इसी कारण पिटक और कोश विशाल आकार के ग्रन्थों के पर्याय बन गये प्रतीत होते हैं। वेद का यह कथन लिखित या मुद्रित ग्रन्थों के लिए ही सार्थक हो सकता है।

अथर्ववेद (७।५०।५) में '**संलिखितम्**' शब्द पठित है। 'लिख्' का अर्थ होता है—'अक्षरों का विन्यास'। इस प्रकार '**संलिखितम्**' का अर्थ हुआ 'लिखा गया या लिखा हुआ'। 'सम्' उपसर्ग के साथ इसका अर्थ 'अच्छी प्रकार लिखा हुआ या शिला आदि पर खुदा हुआ' भी हो सकता है। इस प्रकार वेद में लिखने का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध है। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद का यह मन्त्र भी महत्त्वपूर्ण है—'**उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः न शृणोत्येनाम्**' (१०।७१।४)। अर्थात् कोई वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और कोई वाणी को सुनता हुआ भी नहीं सुनता। वाणी को 'देखना' और 'सुनना' पृथक्-पृथक् क्रियाएँ हैं। देखना दृष्टि का काम है और सुनना कान का। वाणी तभी देखी जा सकती है, जबकि वह लिखित रूप में हो।

पाणिनि ने 'लोप' का लक्षण करते हुए कहा है—'**अदर्शनं लोपः**' (अष्टा० १।१।५९) जो कोई वस्तु होकर न रहे, दिखाई न पड़े, उसे 'अदर्शन' कहते हैं, अर्थात् विद्यमान के अदर्शन की लोप संज्ञा होती है। जो कभी दृश्य ही न रहा हो

---

१. यज्ञमुखे वै यज्ञं रक्षांसि जिघांसन्ति यत् परिलिखति रक्षसां अपहत्यै तिसृभिः परिलिखति—का० सं० १९।३।७

उसको अदर्शन नहीं कहा जा सकता ।[1] यदि भाषा लिपिरूप में न होकर श्रुतरूप में ही होती तो **'अदर्शनं लोपः'** के स्थान पर **'अश्रवणं लोपः'** कहा गया होता और 'वर्णविनाश' न कहकर 'ध्वनिविनाश' कहा गया होता ।

पुरातत्त्व की खोजों के अनुसार ब्राह्मी लिपि के नमूने मौर्य युग से मिले बताये जाते हैं, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उक्त लिपि का आविष्कार उसी समय हुआ था। यदि मौर्य राजाओं के आदेश की खुदाई करने के लिए ही उस लिपि का सर्वप्रथम प्रयोग हुआ था तो उसका नाम ब्राह्मी क्यों हुआ ? 'ब्रह्म' शब्द का प्रसंगप्राप्त अर्थ वेदमन्त्र है। वेदमन्त्रों को लिपिबद्ध करने के लिए जिस लिपि का प्रयोग किया गया है, वह ब्राह्मी लिपि कहा सकती है। देवनागरी का ही प्राचीन नाम ब्राह्मी है, क्योंकि इसका सर्वप्रथम प्रयोग ब्रह्मदेव ने किया था। लिपि-ज्ञान का संकेत ऋग्वेद के 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्' (१०।७१।४) मन्त्र में किया जा चुका है। वाणी का दर्शन श्रवण के प्रतिपक्ष में ही सम्भव है। इसी आधार पर ब्रह्मा ने ब्राह्मी लिपि की रचना की। स्वामी दयानन्द के अनुसार अक्षर, स्याही आदि से लिखने की रीति लोग इक्ष्वाकु के समय में प्रचार में लाये, क्योंकि इक्ष्वाकु के समय में वेद को कण्ठस्थ करने की रीति का ह्रास होने लग गया था। जिस लिपि में अक्षर लिखे जाते थे, उसका नाम देवनागरी था।

पौराणिक साहित्य एवं परम्पराओं में जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्मों का लेखा-जोखा रखने के लिए यमराज के कार्यालय में चित्रगुप्त के नाम का उल्लेख मिलता है। ईरान में भी जिधर से आर्यों के भारत में आने की सम्भावना मानी जाती है, स्वर्ग में कर्मों का लेखा रखने विषयक लेख को हर्त्सफ़ील्ड ने प्राचीन ईरानियों में लेखन के प्रचलन का प्रमाण माना है।[2] आर्यों के ईरान से भारत में आया मानने या भारत से ईरान में गया मानने—दोनों विकल्पों में से किसी भी अवस्था में भारतीय आर्यों को लेखनकला से अनभिज्ञ मानने में कोई तुक नहीं है।

भारत में इतिहास-लेखन

अल्बेरूनी ने लिखा है—"दुर्भाग्य से हिन्दू घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम पर पूरा ध्यान नहीं देते। वे अपने राजाओं के राज्यारोहण के तिथिक्रम की उपेक्षा करते हैं।"[3] प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० भण्डारकर ने अल्बेरूनी के इस कथन का

---

१. न दर्शनम् अदर्शनम्, नञ् तत्पुरुषः। यद् भूत्वा न भवति तद् अदर्शनम् = अनुपलब्धिः, वर्णविनाशस्तस्य लोप इति संज्ञा भवति अर्थात् प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञकं भवति।

२. हर्त्स 'फ़ील्ड —ज़ोरास्ट एण्ड हिज़ वर्ल्ड, १९४७', पृ० ३०७

३. Unfortunately the Hindus do not pay much attention to the historical order of things. They are very careless in relating the chronological succession of their Kings.

प्रत्याख्यान करते हुए लिखा है कि अल्बेरूनी का यह कथन उस समय के लिए कुछ सत्य हो सकता है जब वह भारत में आया था और जब उसकी (भारत की) सभ्यता और संस्कृति पतनोन्मुख थी, किन्तु यह कहना कि मध्यकाल से पहले भारतीयों को इतिहास की समझ नहीं थी, तथ्यों के विपरीत होगा। भारतीय लोगों ने इतिहास लिखा ही नहीं, यह सफ़ेद झूठ है। प्राचीनकाल में इतिहास और पुराण दोनों शब्दों से इतिहास का बोध होता था। अथर्ववेद (१५।६।११-१२) में लिखा है—"**तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।**" अमरकोश में इतिहास का पर्याय '**पुरावृत्त**' लिखा है। **इति-ह-आस**=ठीक ऐसा हुआ था। **पुरा-वृत्तम्**=जो पहले हुआ। इस प्रकार साधारणतया दोनों शब्दों से अतीत की घटनाओं के संकलन की इतिहास या पुराण संज्ञा ठहरती है। यास्क के निरुक्त में आये '**इत्यैतिहासिका:**' अर्थात् 'ऐसा इतिहास माननेवाले कहते हैं' से भी उस काल में इतिहास का अस्तित्व सिद्ध होता है। परन्तु भारतीय तथा अन्य इतिहास लेखकों के दृष्टिकोण में अन्तर है। भारत के लोगों की दृष्टि में इतिहास का हेतु यह है—"**धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्। पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।**"[1] सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित लक्षणयुक्त 'पुराण' कहाते हैं। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रेयी आदि कथाओं का नाम 'गाथा' है। वंशावलियाँ तैयार करनेवाले 'पुराविद्' कहाते थे। कौटिल्य (चाणक्य) के समयमें इतिहास का इतना महत्त्व बढ़ गया था कि कौटिल्य ने राजा के लिए प्रतिदिन मध्याह्नोत्तर इतिहास सुनना अनिवार्य ठहराया। उसके अनुसार पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र इतिहास के अन्तर्गत हैं। वर्तमान में हमारे विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में धर्मशास्त्र (Law) तथा अर्थशास्त्र (Political Science) को एक-दूसरे के पूरक के रूप में स्वीकार किया गया है। कौटिल्य ने इन्हें इतिहास का अनिवार्य अंग माना था। प्रो० भण्डारकर कहते हैं कि क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि कौटिल्य ने उस समय इन्हें राजकुमारों और प्रशासकों के प्रशिक्षण के लिए अनिवार्य विषयों के रूप में निर्धारित किया था?

भारतीय दृष्टिकोण से रामायण, महाभारत, पुराण, राजतरंगिणी, नेपाल-राजवंशावली, कलियुग-राजवृत्तान्त, अनेक नाटक तथा चम्पूग्रन्थ आदि सब इतिहास के उपजीव्य हैं। इनके बिना केवल अधूरे शिलालेखों, सिक्कों, मूर्तियों तथा परदेसी-प्रवास-वर्णनों के सहारे तो ऑक्सफ़ोर्ड के विद्वान् भी अपने 'भारत के इतिहास' नहीं लिख सकते थे। भारत के प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् महामहोपाध्याय

---

१. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्।

डॉ० हरप्रसाद शास्त्री ने (जिनकी शिक्षा इंग्लैण्ड में हुई थी) लिखा है—

"उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में मेरे यूरोपीय मित्र मुझे कहते थे कि भारत के इतिहास के लिए रामायण, महाभारत तथा पुराणों को हाथ मत लगाइये। उनका लक्ष्य था केवल सिक्के, शिलालेख, परदेशियों के प्रवास-वर्णन, पुरातत्त्वीय शिल्प इत्यादि से इतिहास तथा कालक्रम निश्चित करना। परन्तु अब मिस्टर पार्जिटर तथा मिस्टर जायसवाल ने पुराणों से ही कालक्रम ढूंढ निकाला है। पार्जिटर का अन्तिम कार्य पुराणों का महत्त्व प्रकट करता है। तात्पर्य यह है कि हमारे पुराणों जैसे साधन और परम्पराएँ जो पहले अविश्वसनीय मान ली गई थीं, उनका महत्त्व पुनः प्रतिष्ठित हो गया है।"[1]

भारतीय इतिहास परिषद् (Indian History Congress) के इलाहाबाद में १९३८ में हुए अधिवेशन के अवसर पर प्रो० भण्डारकर ने अपने अध्यक्षीय भाषण में उन भारतीय इतिहासकारों की बड़े ज़ोर से भर्त्सना की थी जो पाश्चात्यों की विचारधारा से प्रभावित होकर यह कहते रहते हैं कि भारतीयों को इतिहास की समझ नहीं थी। एक इतिहासकार के रूप में कल्हण को न केवल भारतीयों ने, अपितु सर आँरेल स्टीन (Aurel Stein) जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी मान्यता प्रदान की है।

कल्हण ने अपने से पहले के लगभग एक दर्जन ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिनसे उसने अपना ग्रन्थ लिखने में सहायता ली है। इसी प्रकार कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र के लिखने में सहायक पूर्ववर्ती अनेक विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त किया है। हमें यह न भूलना चाहिए कि विदेशी बर्बर, अधर्मी व विधर्मी आक्रान्ताओं द्वारा हमारे सरस्वती भण्डारों (पुस्तकालयों) में सुरक्षित हज़ारों नहीं, लाखों हस्तलेखों को नष्ट किया जा चुका है। इसी प्रकार यह कहना भी मिथ्या है कि मुसलमानों के आने से पहले भारतीयों को लेखन-सामग्री का पता नहीं था। वास्तव में वे भोजपत्रों व ताड़पत्रों का ही नहीं, कपास से बने काग़ज़ और चिकने कपड़े का भी लिखने के लिए प्रयोग करते थे। स्वयं अल्बेरूनी के लेख से पता चलता है कि विजयनगर के राजाओं के यहाँ महिला सचिव होती थीं जिनका काम राज्य में घटनेवाली प्रत्येक घटना को लिखते रहना था।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

जब पाश्चात्यों का संस्कृत भाषा से सर्वप्रथम परिचय हुआ तो उनकी प्रवृत्ति संस्कृत को आदिम और मूल भाषा मानने की थी। जर्मन संस्कृतज्ञ श्लेगल एवं फ्रेंच बॉप आदि की यही भावना थी, परन्तु कालान्तर में जब उन्होंने इस सत्य के फलितार्थ को समझा तो वे शीर्षासन करने लगे। तब तक प्रो० मैक्समूलर लॉर्ड

---

१. 'जर्नल ऑफ़ बिहार ओरियण्टल स्टडीज़', ग्रन्थ १४, पृष्ठ ३२५-२६।

मेकाले से पूरी तरह प्रभावित हो चुका था। इसलिये जब फ्रेंच वैयाकरण बॉप ने ग्रीक, लैटिन आदि शब्दों का मूल संस्कृत को बताना शुरू किया तो मैक्समूलर ने प्रलाप किया कि कोई अच्छा विद्वान् कभी भी ग्रीक या लैटिन शब्दों के संस्कृत से निष्पन्न होने की बात नहीं सोच सकता।[१] उसने आगे लिखा कि "अब संस्कृत को ग्रीक, लैटिन और ऐंग्लो-सैक्सन का मूल मानने की कोई कल्पना नहीं कर सकता।"[२]

कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति भाँप लेगा कि यहाँ मैक्समूलर जान-बूझकर सत्य के साथ अन्याय कर रहा है। इसका कारण था मेकाले से मिलने और उसकी अधीनता स्वीकार करने के पश्चात् उसका भारतीय इतिहास के विरुद्ध रचा गया षड्यन्त्र। मैक्समूलर ने परिस्थितियों से विवश होकर मेकाले की दासता स्वीकार की थी और भारतीय इतिहास के विरुद्ध रचे गये षड्यन्त्र में वह अपनी आत्मा का हनन करके शामिल हुआ था। यह बात उसने २८ दिसम्बर १८५५ को मेकाले से भेंट होने के पश्चात् भारी मन से इन शब्दों में व्यक्त की—"मैं पहले की अपेक्षा अधिक दुःखी, किन्तु बुद्धिमान् बनकर ऑक्सफ़ोर्ड लौटा।"[३] दुःखी इसलिये कि विद्वान् होकर उसने एक राजनीतिज्ञ के आगे आत्म-समर्पण कर दिया था और बुद्धिमान् इसलिये कि अब वह संसार के सुखों का उपभोग करते हुए जीवित रह सकेगा। वास्तव में उन दिनों जर्मनी में राजनैतिक उथल-पुथल के कारण मैक्समूलर आर्थिक अभावों में जी रहा था। मेकाले ने उसे इस ओर से निश्चिन्त कर दिया तो मैक्समूलर दुधारी तलवार लेकर इस देश के सर्वनाश पर पिल पड़ा।

अंग्रेज़ों ने भारतीय संस्कृति की जड़ को देखा, समझा और मुसलमानों के समान तलवार का सहारा न लेकर कूटनीति से काम लिया। वे भारतीय संस्कृति से संशक थे, क्योंकि यह पहले अनेक संस्कृतियों को आत्मसात् कर चुकी थी। वे यह जानते थे कि युद्ध में पराजित भारतीय, सांस्कृतिक दृष्टि से अब भी अपने-आपको अंग्रेज़ों से उत्कृष्ट मानते हैं। अतः उन्होंने एक ऐसा मायाजाल रचा जिससे स्वयं भारतीय संस्कृति के भीतर से ही उसका विरोध होने लगा। मेकाले के मार्ग-दर्शन में उन्होंने अंग्रेज़ी शिक्षा का जाल बिछाया। इस जाल में फँसनेवालों को

---

१. 'No sound scholar can ever think of deriving any Greek or Latin words from Sanskrit.'—Maxmueller : 'Science of Language, Vol. I, P. 449

२. 'No one supposes any longer that Sanskrit was the common source of Greek, Latin or Anglo-Saxon.'—India, What can it teach us ?

३. 'I went back to Oxford a sadder but a wiser man.'—Camb, 'Hist. of India', Vol. VI, 1932

बड़े-बड़े प्रलोभन दिये गये। कॉलिजों से संस्कृत में एम० ए० करनेवाले मेधावी छात्रों को उच्चतम छात्रवृत्ति देकर ऑक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज में भेजा जाता था। वहाँ से शिक्षा प्राप्त करके स्वदेश लौटनेवालों को यत्र-तत्र प्रिंसिपल या उच्च कोटि का प्रोफ़ेसर नियुक्त किया जाता था। लाहौर के ओरियण्टल कॉलिज और बनारस के क्वींस कॉलिज में ऑक्सफ़ोर्ड में निर्धारित पाठ्यक्रम रक्खा गया और इस प्रकार भारतीयों को ऑक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज के रंग में रंगा जाने लगा। उन्हें इस बात का विश्वास दिलाया गया कि पाश्चात्य संस्कृति की तुलना में उनकी अपनी (भारतीय) संस्कृति हेय है। कालान्तर में दास को अपनी दासता में ही आनन्द की अनुभूति होने लगी और इस प्रकार विजेता की विजय हो गई।

पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके पालित भारतीय विद्वानों ने वेद, उपनिषद् आदि पर ऐसे मतों को आरोपित किया कि भारतीय नवयुवकों के दिमाग़ फिर गये। उनके मन में अपने साहित्य और संस्कृति के प्रति हीनता की भावना भर गई। स्कूलों-कॉलिजों में सिखाया गया कि 'आर्य' नाम से अभिहित इस देश की ८० प्रतिशत आबादी विदेशी है, इसलिए कि उनको यह अभिमान न हो सके कि यह सुजला-सुफला-शस्यश्यामला भारतभूमि उनकी अपनी है। इससे नई पीढ़ी के मन में यह भाव अंकुरित हुआ कि भारतवर्षरूपी धर्मशाला में जिस प्रकार आर्य, शक, हूण, मंगोल, तुर्क और अफ़ग़ान आये उसी प्रकार अंग्रेज़ भी आये और उनका भी इस देश पर वैसा ही अधिकार बनता है जैसा अन्य पूर्ववर्त्ती लोगों का। इसके लिए उनके अनुकूल प्रमाणों को उजागर किया गया और प्रतिकूल प्रमाणों को दबा दिया गया। उदाहरणार्थ यहाँ मैगेस्थनीज़ के एक उद्धरण को प्रस्तुत करना उपयोगी होगा जो लगभग २३०० वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में आया बताया जाता है और जिसके उद्धरणों को बड़े प्रामाणिक रूप में बार-बार प्रस्तुत किया जाता है। मैकक्रिण्डल द्वारा सम्पादित Ancient India of Megasthanese के पृष्ठ ३४ पर उद्धृत है—"भारत के एक विशाल देश होने के कारण उसमें विभिन्न एवं बहु-संख्यक जातियाँ बसती हैं जिनमें मूलतः एक भी विदेशी नहीं है।"[१]

आधुनिक पाश्चात्य इतिहासविदों तथा पुरातत्त्ववेत्ताओं के मत से 'अनुमानतः २५०० से १५०० ईसा-पूर्व तक आर्यजाति भारत में प्रविष्ट हुई और उसने इस देश के आदिम निवासियों को पराजित कर इस देश पर अधिकार कर लिया। ये आर्य हिन्दू, पारसी, काकेशीय, ग्रीक तथा अन्यान्य यूरोपीय जातियों के पूर्वज थे।

---

१. 'It is said that India, being of enormous size when taken as a whole, is peopled by races both numerous and diverse, of which not even one was originally of foreign descent, but all were evidenlty indigenous; and moreover that India neither received a colony from abroad, nor sent out a colony to any other nation.'—Mac Crindle : Ancient India, Megathanese.

भारत के बाहर किसी स्थान में इनकी प्राचीन बस्ती थी।' यदि यह सचमुच सत्य है तो आर्यों का यह अभियान मैगेस्थनीज़ के भारत में आने के प्राय: १२०० वर्ष पूर्व हो चुका था। परन्तु मैगेस्थनीज़ ने बलपूर्वक कहा है कि भारत में रहनेवाले सभी लोग यहाँ के मूल निवासी हैं। इससे स्पष्ट है कि अब से २३०० वर्ष पूर्व बसे भारतीयों और तथाकथित विदेशियों में भी किसी को पता नहीं था कि आर्यजाति के रूप में हम कहीं बाहर से आकर यहाँ बस गये हैं।

अब मुसलमानों और ईसाइयों की ओर से यह कहा जाने लगा है कि इस देश के लोगों में से मुसलमान और ईसाई बननेवाले लोगों में अधिसंख्य छोटी जातियों—अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों तथा गिरिजनों आदि में से हैं। क्योंकि इन्हीं वर्गों के लोग भारत के आदि=मूल निवासी हैं, इसलिए हिन्दू से मुसलमान और ईसाई बने लोग ही इस देश के असली मालिक हैं, अन्य सब विदेशी हैं। अंग्रेज़ चले गये, परन्तु भारत पर सबसे पहले आक्रमण करनेवाले आर्यों को पहले निकलना चाहिए था।[1]

४ सितम्बर १९७७ को संसद् में राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सदस्य फ्रैंक एन्थोनी ने माँग की थी कि संविधान के आठवें परिशिष्ट में परिगणित भारतीय भाषाओं की सूची में से संस्कृत को निकाल देना चाहिए, क्योंकि यह विदेशी आक्रान्ताओं=आर्यों के द्वारा लाई जाने के कारण विदेशी भाषा है।[2] सन् १९७८ के प्रारम्भ में भारत ने अपना पहला उपग्रह अन्तरिक्ष में छोड़ा था। उसका नाम भारत के प्राचीन

---

१. इस सन्दर्भ में दिल्ली से प्रकाशित 'Muslim India' के २७ मार्च, १९८५ के अंक में प्रकाशित यह वक्तव्य द्रष्टव्य है—

"This land (India) belongs to those who are its original inhabitants and hence its rightful owners. It is they who built the Harappa and Mohenjodaro, the world's most ancient civilisation. Most of India's Muslims and Christians are converts from these sons of the soil. They are either Dalits or tribals. In all foreign invasions, it is these people who defended India. They (Aryans) don't belong to India and hence don't love India. They are foreigners, the enemy within. As Aryans, they are India's first foreigners. If Muslims and Charistians are foreigners and must get out of India, as India's first foreigners, the Aryans are dutybound to get out first. Those who came first must leave first."

२. 'Sanskrit should be deleted from the 8th schedule of the constitution because it is a foreign language brought to this country by foreign invaders, the Aryans.'

—Indian Express, 5.9.77

वैज्ञानिक आर्यभट्ट के नाम पर रक्खा गया था। इस अवसर पर २३ फ़रवरी १९७८ को द्रमुक (द्रमुक मुनेत्र कषगम) के प्रतिनिधि के० लक्ष्मणन ने राज्यसभा में माँग की थी कि भारतीय उपग्रह का नाम 'आर्यभट्ट' नहीं रक्खा जाना चाहिए था, क्योंकि यह विदेशी नाम है। कुछ वर्ष हुए, तमिलनाडु के सलेम नामक नगर में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के आर्य होने के कारण उनकी मूर्त्ति के गले में जूतों का हार पहनाकर झाड़ुओं से मारते हुए बाज़ारों में जलूस निकाला गया था। इस प्रकार एक ओर उनके साहित्य को विकृत कर भारतीयों के मन में अनेकविध शंकाएँ व भ्रान्तियाँ उत्पन्न की गईं और उन्हें अपने धर्म व संस्कृति से वितृष्ण करके अपने आत्मसम्मान से वंचित करने का प्रयास किया गया तो दूसरी ओर अंग्रेज़ी के माध्यम से उन्हें ईसाइयत की ओर प्रेरित किया गया।

इसी षड्यन्त्र के परिणामस्वरूप पाश्चात्यों ने भाषाविज्ञान के नाम पर एक भारोपीय भाषा की कल्पना की जिसे संस्कृत का भी मूल बताया गया, और भारतीय एवं यूरोपीय भाषाओं की तुलना करके उनसे उल्टे परिणाम निकालकर उल्टी गंगा बहाना शुरू किया। तब उन्होंने घोषणा की कि भाषा का साक्ष्य अकाट्य है जो प्रागैतिहासिक युगों के विषय में विश्वसनीय है।[1] जर्मन संस्कृतज्ञों ने यहाँ तक दम्भ करना शुरू कर दिया कि वेद का अर्थ जर्मन-भाषाविज्ञान से अच्छी तरह समझा जा सकता है। इतना ही नहीं, वे जर्मनी को भाषाविज्ञान का जन्मदाता भी कहने लगे।[2] मिथ्या भाषाविज्ञान के आधार पर प्रागैतिहासिक युग में आर्य-प्रव्रजन की कथा गढ़ी गई। इसी के नाम पर इण्डो-यूरोपियन की कल्पना करके उसके आधार पर आर्यों का मूल अभिजन किसी यूरोपियन देश में बताया गया जहाँ से वे भारत आदि देशों में उपनिविष्ट हुए।

सारा संसार जानता है कि भाषा और व्याकरण का जैसा अप्रतिम अध्ययन भारत में हुआ वैसा संसार में कहीं नहीं हुआ। इन्द्र से लेकर पाणिनि तक शतशः महान् भाषाशास्त्री इस देश में हो चुके हैं, और वे भी तब जब यूरोप के लोगों को प्रायः पढ़ना-लिखना भी नहीं आता था। परन्तु राज्याश्रय के बल पर एक ज्ञान-लवदुर्विदग्ध संस्कृतज्ञ को एक महानतम विद्वान् के रूप में प्रस्तुत करके वैदिक धर्म और संस्कृति की जड़ें खोदने के लिए उसके वेदभाष्य तथा उसपर आधारित

---

१. 'The evidence of language is irreferable and it is the only evidence worth listening with regard to ante-historical periods.' —History of Sanskrit Literature, P. 13

२. The principles of German school are the only one which can ever guide us to an understanding of the Vedas. Germany is far more than any other country, the birth-place and home of the science of language.' —'Language' by W. D. Whitney

अनेकानेक ग्रन्थों को भारत के विद्यालयों-महाविद्यालयों-विश्वविद्यालयों में पाठ्य-क्रम में प्रतिष्ठित कर दिया गया। मेकाले द्वारा मैक्समूलर की अँगुलियों में ज़बरदस्ती पकड़ाई गई क़लम से निःसृत वेदों के विद्रूप अर्थों का उद्देश्य क्या था, इसे हम अपने शब्दों में न कहकर स्वयं मैक्समूलर के शब्दों से प्रमाणित करना चाहते हैं। वेदों के सम्बन्ध में अपनी भावना को स्पष्ट करते हुए मैक्समूलर ने लिखा—"वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या बिल्कुल बचकानी, निकृष्ट, जटिल और अत्यन्त साधारण है।"[1]

चन्द्रनगर के प्रधान न्यायाधीश फ्रेंच विद्वान् लुई जैकालियट (Louis Jacolliot) ने संवत् १६२६ (सन् १८६६) में 'La Bible Dans Linde' (भारत में बाइबल) नामक एक ग्रन्थ लिखा। एक वर्ष पश्चात् उसका अंग्रेज़ी संस्करण प्रकाशित हुआ। भारत को मानवता का दोला (Cradle of humanity) बताते हुए उसने सिद्ध किया कि संसार की समस्त विचारधाराएँ आर्य विचार से निकली हैं। भारत की प्रशंसा पढ़कर मैक्समूलर बौखला उठा। पुस्तक की समीक्षा करते हुए उसने लिखा—"जैकालियट अवश्य ब्राह्मणों के बहकावे में आ गया है।"[2]

मैक्समूलर को इतने से सन्तोष नहीं हुआ। अपनी खीज मिटाने के लिए उसने अपने पुत्र को लिखे एक पत्र में अपनी भावना इन शब्दों में व्यक्त की—"संसार की सब पुस्तकों में नया अहदनामा (बाइबल या New Testament) सर्वोत्कृष्ट है। इसके पश्चात् क़ुरान को, जो एक प्रकार से बाइबल का रूपान्तर है, रक्खा जा सकता है। तत्पश्चात् पुराना अहदनामा (Old Testament), बौद्ध त्रिपिटक, वेद और अवेस्ता हैं।"[3]

जैसे हम वेदों को कण्ठस्थ करनेवाले दाक्षिणात्य ब्राह्मणों के ऋणी हैं, वैसे ही हम पाश्चात्य विद्वानों के भी ऋणी हैं। भारतीय ब्राह्मणों ने वेदों को नष्ट होने से बचाया तो पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को भारत में ही सीमित न रहने देकर विश्व की सम्पत्ति बना दिया। यूरोपीय विद्वानों के प्रयत्न से सारे संसार में वेदों की चर्चा

---

१. 'A large number of Vedic hymns are childish in the extreme, tedious, low and commonplace.'
—Chips from a German Workshop, Ed. 1866, P. 27

२. 'The author seems to have been taken in by the Brahmans in India.'

३. Would you say that any one sacred book is superior to all others in the world? ...I say The New Testament. After that I should place the Koran, which, in its moral teachings, is hardly more than a later edition of the New Testament. Then would follow...the Old Testament, the Buddhist Tripitaka ···The Veda and The Avesta.'

होने लगी। किन्तु जैसे सायणादि का दृष्टिकोण यज्ञपरक था और उनके अनुसार वेद के हर मन्त्र का लक्ष्य यज्ञ की किसी प्रक्रिया को सामने रखकर मन्त्र का नियोजन करना था, वैसे ही पाश्चात्य विद्वानों का लक्ष्य वेदों का भाष्य करते हुए उनपर विकासवादी दृष्टिकोण से विचार करना था। मैक्समूलर के भाष्य पर सायण और डार्विन दोनों छाये हुए हैं। मैक्समूलर ने विकासवाद को सामने रखकर सायणभाष्य का अनुवाद किया। वस्तुतः पाश्चात्य भाष्यकारों की विचारधारा का आधारभूत सिद्धान्त विकासवाद का विचार है। इन लोगों के लिए विकासवाद पहले है, उसके बाद जो कुछ आया उसे विकासवाद के सिद्धान्त पर घटाकर देखा जाता है। विकासवाद की कसौटी पर परख कर ही ये लोग किसी बात के सही या ग़लत होने का निश्चय करते हैं। इस प्रकार का चिन्तन वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। श्री अरविन्द घोष पाश्चात्य विद्वानों के वेदभाष्य पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

"पाश्चात्य भाष्यकारों का मत है कि वेद का ऋषि जब अग्नि की उपासना करता था, तब उसमें उन गुणों का भी वर्णन कर देता था जो किसी भी अन्य देवता में पाये जाते हैं और जब वह वायु की उपासना करता था तो वायु में उन सब गुणों का समावेश कर देता था जो किसी भी अन्य देवता में पाये जाते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि वह एक देवता का उपासक न होकरअनेक देवताओं में विश्वास करता था। यह बात युक्तिसंगत भी है जब यह मान लिया जाता है कि एकेश्वर-वाद का विचार तो मानव-मस्तिष्क में बहुत देर में आया था। जब उनसे यह कहा जाता है कि वेद में **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'** — इस मन्त्र द्वारा यह कहा गया है कि ईश्वर एक ही है, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि उस एक ही ईश्वर के भिन्न-भिन्न नाम हैं, तब पाश्चात्य विद्वान् कह उठते हैं कि यह मन्त्र पीछे से डाला गया है। इस विचारधारा पर चलते हुए मैक्समूलर ने बहुदेवतावाद (Polytheism) तथा एकेश्वरवाद (Monotheism) के एक नये मत की कल्पना की जिसे उन्होंने हीनोथीइज्म (Henotheism) का नाम दिया। हीनोथीइज्म का अर्थ है–जब किसी देवताविशेष की उपासना की जाये, तब उसी में सारे गुण आरोपित कर दिये जायें और इस प्रकार अन्य देवताओं को उससे हीन कल्पित कर लिया जाय।"[1]

---

१. 'The Oxford English Dictionary defines Henotheism as the belief in a single God, without asserting that he is the only God; a stage between Polytheism and Monotheism. According to prof. Clayton, it denotes that each of the several divinities is regarded as the highest, the one which was worshipped and, therefore, treated as if he were the absolute being, independent and supreme for the worshipper.'

परन्तु यह कल्पना सिर्फ इसलिए की जाती है, क्योंकि मैक्समूलर विकासवाद के विपरीत यह मानने को तैयार नहीं कि मानव-संस्कृति के प्रारम्भिक काल में एकेश्वरवाद जैसा उत्कृष्ट विचार मानव के मस्तिष्क में आ सकता था। मैक्समूलर इस बात का प्रमाण नहीं दे सके कि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' यह मन्त्र वेद में पीछे से डाला गया है।[1] यह मन्त्र वेद का अभिन्न अंग है, और यदि इससे विकास-वाद खण्डित होता है तो पाश्चात्य विचारकों को इसके लिए तैयार रहना चाहिए। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अपने अर्थ को स्पष्ट करने के लिए स्वयं वेद की अन्तः-साक्षी प्रमाण होगी या रुडोल्फ़, राथ तथा मैक्समूलर जो कहेंगे वह प्रमाण होगा। वेदों का अर्थ यदि वेदों से ही स्पष्ट होता है, तब उस प्रक्रिया का सर्वोच्च स्थान होना चाहिए। स्वयं वेद कहता है—'एकं सत्' ईश्वर एक है, 'बहुधा वदन्ति' उसे अनेक नामों से पुकारा जाता है। स्वयं वेद में एकेश्वरवाद का इतना स्पष्ट वर्णन होते हुए मैक्समूलर के हीनोथीइज्म को कैसे माना जा सकता है? श्री अरविन्द लिखते हैं—

"We are aware how modern scholars twist away from the evidence. This hymn, they say, was a late production; this lofty idea which it expresses with so clear a force rose up somehow in the mind or was borrowed by those ignorant fire-worshippers, sky-worshippers from their cultured and philosophical Dravadian enemies. But throughout the Veda we have confirmatory hymns and expressions. Agni or Indra or another is expressed hymned as one with all the other Gods. Agni contains all other divine powers within himself; the Maruts are described as all the Gods; the one deity is addressed by the names of others as well as his own, or, more commonly, he is given as Lord and King of the universe, attributes only appropriate to the Supreme Deity. Why should not the foundation af Vedic thought be natural monotheism rather than this new fangled monstrocity of henotheism? Well, because

१. मैक्समूलर के प्रमुख शिष्य मैक्डानल ने अपनी पुस्तक 'A Vedic Grammar for Students' की भूमिका में लिखा है—"ऋग्वेद के १० मण्डलों में से ८ मण्डल पहले लिखे गये, फिर नौवाँ और अन्त में दसवाँ।" उनके लिखने का अभिप्राय यह है कि पहले ८ और अगले २ मण्डलों के लिखे जाने का समय भिन्न-भिन्न है। परन्तु 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' तो पहले मण्डल के १६४वें सूक्त का ४६वाँ मन्त्र है। फिर भी इसे प्रक्षिप्त माना जाता है। केवल इसलिए कि यह विकासवादी विचारधारा में फ़िट नहीं बैठता।

primitive barbarians could not possibly have risen to such high conceptions, and if you allow them to have so risen, you imperil our theory of evolutionary stages of human development. Truth must hide itself, commonsense disappear from the field so that a theory should flouriesh. I ask, in this point, and it is the fundamental point, who deals most straightforwardly with the text, Dayanand or the western scholars ?"

श्री अरविन्द का कहना है कि वेदों के पाश्चात्य भाष्यकार वेदों का भाष्य करते हुए विकासवाद के पूर्वाग्रह को साथ लेकर चलते हैं। अगर वेदों का अर्थ विकासवाद के सिद्धान्त को पुष्ट नहीं करता तो वे अर्थ को तोड़-मरोड़कर अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करते हैं। श्री अरविन्द के कथनानुसार दयानन्द का भाष्य इस प्रकार की तोड़-मरोड़ नहीं करता। फिर भी, जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले ! यद्यपि पाश्चात्य भाष्यकार विकासवादी पूर्वाग्रह से पीड़ित हैं, तो भी वेदों में इतने उच्चस्तरीय विचार मिलते हैं कि वे कभी-कभी बरबस इस सन्देह में पड़ जाते हैं कि उनका पूर्वाग्रह उचित भी है या नहीं। ऋग्वेद-संहिता के भाष्य के चौथे खण्ड में मैक्समूलर ने लिखा—

"It is impossible for one scholar, it will probably be impossible for one generation of scholars to decipher the hymns of the Rigveda to a satisfactory conclusion."

अर्थात्—मैक्समूलर के विचार में एक वैदिक विद्वान् अथवा विद्वानों की एक पीढ़ी द्वारा भी ऋग्वेद की ऋचाओं के रहस्यों को खोज निकालना असम्भव है। ऋग्वेद के सम्बन्ध में इस प्रकार की भावना व्यक्त करने के लिए मैक्समूलर तभी विवश हुए होंगे जब उन्हें वहाँ इतने ऊँचे विचार दीख पड़े होंगे जिनके मुक़ाबिले में विकासवाद की दीवारें हिलती जान पड़ी होंगी। ऐसी स्थिति में वेदभाष्य करते हुए उनका विकासवाद के खूंटे से बंधे रहना दुराग्रहमात्र है।

धर्मान्तरण और वेदार्थ

यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों पर बहुत परिश्रम किया, तो भी वे उनमें निहित ज्ञान की थाह न पा सके। सचाई तक पहुँचने में विकासवाद के अतिरिक्त उनका पूर्वाग्रह और स्वार्थ भी आड़े आया। यूरोपीय समाज भारत को ईसाई बनाने के कार्य में प्राणपण से जुटा हुआ था। ब्रिटेन के लोग समझते थे कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को स्थायी बनाने के लिए भारतवासियों को ईसाइयत के साँचे में ढालना आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान् भी इस काम में काफ़ी रुचि रखते थे। इसलिये उन्होंने वेदों का ऐसा भाष्य किया जिसे देखने के बाद इस देश के लोग

अपनी प्राचीन सांस्कृतिक विचारधारा को हेय दृष्टि से देखने लगे। विदेशी विद्वानों का उद्देश्य ही भारतीय जनता में अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता तथा साहित्य के प्रति अश्रद्धा और घृणा पैदा करना था। इस दृष्टि से उन्हें सायण-भाष्य अपने अनुकूल जान पड़ा। उन्होंने वेद और वैदिक वाङ्मय के जो अनुवाद अंग्रेज़ी में किये, वे सब प्रायः सायण के आधार पर ही किये और वेदों को गडरियों के गीत, जंगलियों की बड़बड़ाहट और धार्मिक विश्वासों के विजड़ित पोथे सिद्ध करने में सफल हो गये।

वेद के अनुसन्धान और अनुवाद-कार्य में लगने के अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए मैक्समूलर ने सन् १८६६ में अपनी पत्नी को भेजे पत्र में लिखा था—"मेरा यह संस्करण और वेद का अनुवाद कालान्तर में भारत के भाग्य को दूर तक प्रभावित करेगा। यह उनके धर्म का मूल है। मेरा यह निश्चित मत है कि उन्हें यह दिखाना कि यह मूल कैसा है, गत तीन हज़ार वर्षों में इससे उत्पन्न होनेवाली सब चीजों को जड़-समेत उखाड़ फेंकने का एकमात्र उपाय है।"[१] १६ दिसम्बर १८६८ को भारत-सचिव ड्यूक ऑफ़ आर्गाइल को एक पत्र में मैक्समूलर ने लिखा—"भारत का प्राचीन धर्म अब नष्टप्राय है। अब यदि ईसाइयत उसका स्थान नहीं लेती, तो यह किसका दोष होगा?"[२] ईसाइयत के प्रचार की दिशा में मैक्समूलर के प्रयासों की सराहना करते हुए उसके घनिष्ट मित्र ई० बी० पुसे ने लिखा था—"भारत को ईसाई बनाने की दिशा में किया गया आपका प्रयास एक नये युग का सूत्रपात करनेवाला होगा।"[3]

इसमें सन्देह नहीं कि विदेशी विद्वानों ने संस्कृत-साहित्य में, विशेषतः वैदिक वाङ्मय में, अनुकरणीय उद्योग किया, परन्तु जातीय पक्षपात, राजनैतिक स्वार्थ तथा शास्त्र-विषय में अज्ञानमूलक अनेकविध भ्रान्तियों के कारण वे वैदिक साहित्य को उसके यथार्थरूप में प्रस्तुत न कर सके। जिस ध्येय को लक्ष्य में रखकर उन्होंने

---

१. 'This edition of mine and the translation of the Veda will, hereafter, tell to a great extent on the fate of India. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years.' Life and letters of Frederick Maxmueller, Vol. I, Chap. XV. P. 34.

२. 'The ancient religion of India is doomed. Now, if Christianity does not step in, whose fault will it be?'

—Ibid, Chap. XVI, P. 378.

३. Your work will mark a new era in the efforts for the conversion of India.

इतना परिश्रम किया उसका पता मोनियर विलियम्स द्वारा अपनी संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी की भूमिका में लिखे इन शब्दों से लग जाता है—"(ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी में) बोडन पीठ के संस्थापक कर्नल बोडन ने अपने स्वीकार-पत्र (अगस्त १८११) में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा था कि उसकी इस विपुल राशि की भेंट का मुख्य उद्देश्य यह है कि धर्मग्रन्थों का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया जाये जिससे उसके देशवासियों को भारतीयों को ईसाई बनाने के काम में आगे बढ़ने में सहायता मिले।"[1] कुछ समय बाद इसी मोनियर विलियम्स ने लिखा—"जिस दिन ब्राह्मण-(वैदिक)-धर्म के क़िले की दीवारें क्रॉस के सैनिकों (ईसाई पादरियों) द्वारा आक्रान्त होकर ध्वस्त हो जायेंगी, वह ईसाइयत की पूर्ण और अपूर्व विजय का दिन होगा।"[2]

मोनियर विलियम्स बोडन पीठ का दूसरा उत्तराधिकारी था। इस पीठ का प्रथम प्राध्यापक होरेस हेमन विलसन अपने-आपमें एक भला आदमी था, पर अपने अन्नदाता के भावों के प्रति कर्त्तव्य-भावना से विवश था। उसने एक पुस्तक लिखी—'Religious and Philosophical Systems of the Hindus'. इस पुस्तक के प्रणयन के उद्देश्य के विषय में लिखा गया है—"ये व्याख्यान जॉन म्यूर के दो सौ पौण्ड पुरस्कार के प्रत्याशियों को सहायता देने के लिए लिखे गये हैं। हिन्दू धर्म के खण्डन में लिखे गये सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ का लेखक इस पुरस्कार का अधिकारी होगा।"[3] इसी जॉन म्यूर ने 'The Oriental Studies' नामक एक ग्रन्थ

---

१. 'The founder (of the Boden Chair at Oxford) Col. Boden had stated most explicitly in his will (dated August 15, 1811) that the special object of his munificent bequest was to promote the translation of the scriptures into English to enable his countrymen to proceed in the conversion of the natives of India to the Christian religion—

—Sanskirt-English Dictionary by Monier Williams, 1899, Preface, P. IX.

२. 'When the walls of the mighty fortress of Brahmanism are encircled, undermined and finally stormed by the soldiers of the cross, the victory of Christianity must be signal and complete'

—Modern India and the Indians, Ed. 3, 1879, P. 261

३. 'These lectures werc written to help candidates for a prize of £ 200 given by John Muir, the well-known old Haileybury man and great Sanskrit scholar, for the best refutation of the Hindu Religious System.

—Eminent Orientalists, Madras P. 72

लिखा था। इसके प्रकाशकों ने उसके ऊपर लिखा था–'यह पुस्तक ईसाई पादरियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।'[1]

पादरी बाप-दादा की सन्तान मेकाले तो जन्म से ही ईसाई मिश्नरी था। उसके प्रभाव में आकर मैक्समूलर (जो मूलतः विद्याव्यसनी था) भी मिश्नरी बन गया था। मेकाले कूटनीतिज्ञ था तो उसके हाथ की कठपुतली मैक्समूलर क़लम का धनी था। दोनों की मंज़िल एक थी—ईसाइयत का प्रचार करके भारत में विदेशी शासन की नींव को सुदृढ़ करना।

विदेशी शासन और ईसाइयत का चोली-दामन का साथ रहा। भारत की दासता की कड़ियों को सुदृढ़ करने में ईसाई पादरियों ने ब्रिटिश शासकों के कन्धे से कन्धा मिलाकर काम किया है। भारतीय स्वाधीनता के प्रथम युद्ध की समाप्ति के दो वर्ष बाद ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधानमन्त्री लॉर्ड पामर्स्टन ने घोषणा की कि "यह हमारा कर्त्तव्य ही नहीं, अपितु हमारा अपना हित इसी में है कि भारत-भर में ईसाइयत का प्रचार-प्रसार हो।"[2] इससे पूर्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर्स के चेयरमैन मिस्टर मेंगल्स ने पार्लियामेण्ट में कहा था—"विधाता ने हिन्दुस्तान का विशाल साम्राज्य इंगलैण्ड के हाथों में इसलिये सौंपा है कि ईसा-मसीह का झण्डा इस देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक लहराये। प्रत्येक ईसाई का कर्त्तव्य है कि समस्त भारतीयों को अविलम्ब ईसाई बनाने के महान् कार्य में पूरी शक्ति के साथ जुट जाये।"[3] सन् १८७६ में बम्बई के गवर्नर लार्ड री ने प्रिंस ऑफ़ वेल्स के सामने पादरियों के शिष्टमण्डल को प्रस्तुत करते हुए कहा था–"जितना काम आपके सिपाही, जज, गवर्नर और दूसरे अफ़सर कर रहे

---

१. The publishers of John Muir's book 'The Oriental Studies' admit that this book will prove most serviceable to the Christian Missionaries.

—Ghosh and Bros. 61 Sankaritollah, Calcutta, 1878

२. It is not only our duty; but in our own interest to promote the diffusion of Christianity, as far as possible, throughout the length and breadth of India.

—Christianity and Government of India, Mathew, P. 194.

३. Providence has entrusted the extensive empire of India to England so that the banner of Christ should wave triumphant from one end of India to the other. Everyone must exert all his strength that there may be no dilatoriness on any account in continuing in the country of the grand work of making all Indians Christians.'

हैं, उससे कहीं अधिक ये (मिशनरी) कर रहे हैं।"[१] लॉर्ड मेकाले व उसके सहयोगी तथा उसके भारतीय मानसपुत्र आज तक जो करते आये हैं उसके फलस्वरूप विकसित देश की मानसिकता पर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् तथा भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने लिखा है–The policy inaugurated by Macaulay, with all its cultural value, is loaded on one side. While it is so careful as not to make us forget the force and vitality of western culture, it has not helped us to love our own culture and refine it where necessary. In some cases, Macaulay's wish is fulfilled, and we have educated Indians who are 'more English than the English themselves' to quote his well-known words. Naturally some of these are not behind the hostile foreign critic in their estimate of the history of Indian culture. They look upon India's cultural evolution as one dreary scene of discord, folly and superstition. They are eager to imitate the material achievements of Western States, and tear up the roots of ancient civilisation, so as to make room for the novelties imported from the West. One of their number recently declared that if India is to thrive and flourish, England must be her 'spiritual mother' and Greece her 'spiritual grandmother'.

जहाँ मध्यकालीन आचार्यों ने प्राचीन आर्ष परम्परा का अनुसरण करते हुए वेदों को पवित्र, अपौरुषेय व ईश्वरीय ज्ञान माना, वहाँ पाश्चात्य विद्वानों ने उन्हें प्रायः मानव पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ (Oldest book in the library of the world) मानते हुए भी उन्हें पवित्र दिव्य ज्ञान और विविध विद्याओं का भण्डार नहीं, अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण संग्रह माना जिनसे प्राचीन असभ्यप्राय जंगली लोगों के विचारों और रीति-रिवाजों का पता चलता है।

मैगेस्थनीज़ की विश्वसनीयता

जब सर विलियम जोन्स, हैनरी टॉमस, कोलब्रुक, श्लैगल, हमबोल्ट और शोपनहावर के माध्यम से भारतीय वाङ्मय पश्चिम में पहुँचा तो लोगों की रुचि भारत से आनेवाले प्रत्येक साहित्यिक ग्रन्थ को अति प्राचीन युग का मानने की थी। कुछ लोगों को भारत के उत्कर्ष की यह बात अखरने लगी। इसका प्रमाण ए० एच० सेस के इस लेख से मिलता है—"परन्तु जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है,

१. 'They are doing in India more than all those civilians, soldiers, judges and governors your highness has met.'

उसका इतिहास अभी तक बाइबल के प्रान्तों पर लिखी गई तिथियों तक सीमित था। मनुष्य के अचिरकालीन आविर्भाव का यह पुराना विचार अभी तक ज्यों-का त्यों बना हुआ है और तथाकथित सूक्ष्म इतिहासवेत्ता प्राचीन इतिहास की तिथियों की पुरातनता को कम करने में संलग्न हैं। वस्तुतः मनुष्यों की उस पीढ़ी के लिए, जो इस विचार में पली है कि मानव की उत्पत्ति ईसा-पूर्व ४००० वर्ष अथवा इसके आस-पास हुई थी, यह विचार कि मनुष्य एक लाख वर्ष पुराना है, सर्वथा अकल्पनीय एवं अविश्वसनीय है।"[१]

पाश्चात्य लेखक बुद्ध से पूर्व के इतिहास को इतिहास ही नहीं मानते, उसे प्रागैतिहासिक युग मानते हैं। जिस एक आधारतिथि (ईसा-पूर्व ३२७) के ऊपर उन्होंने भारतीय तिथिक्रम का सम्पूर्ण ढाँचा खड़ा किया है, वह है चन्द्रगुप्त मौर्य तथा यूनानी आक्रान्ता सिकन्दर की तथाकथित समकालीनता की कहानी जिसे मैगेस्थनीज़ द्वारा लिखा बताया जाता है, परन्तु जब स्वयं मैगेस्थनीज़ का भारत में आना ही विवादास्पद है, तब उसके आधार पर निर्धारित तिथिक्रम को कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है ? यदि मैगेस्थनीज़ भारत में आया होता और मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में रहा होता तथा चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालिक होता तो यह कैसे हो सकता था कि वह नन्द और विश्वविख्यात राजनीतिज्ञ चाणक्य का उल्लेख न करता ! परन्तु उसने इनमें से किसी का नाम तक भी नहीं लिया। इतने मात्र से मैगेस्थनीज़ के नाम पर गढ़ी गई चन्द्रगुप्त मौर्य और सिकन्दर की समकालिकता की कहानी नितान्त मिथ्या सिद्ध हो जाती है। फिर उसके आधार पर निर्धारित अन्य समस्त तिथिक्रम स्वतः खण्डित हो जाता है। भारतीय स्रोतों के अनुसार बुद्ध, चन्द्रगुप्त मौर्य, आदि शंकराचार्य आदि का काल प्रचलित काल से लगभग १२०० वर्ष पीछे चला जाता है। वास्तव में मैगेस्थनीज़ द्वारा लिखा

---

१. 'But as far as man was concerned, his history was still limited by the dates in the margin of our Bibles. Even today the old idea of his recent appearance still prevails and the so-called critical historians still occupy themselves in endeavouring to reduce the dates of his early history···To a generation which had been brought up to believe that 4000 B. C. or thereabout the world was being created, the idea that man himself went back to 1,00,000 years ago was both inconceivable and incredible.'

—Antiquity of Civilised Man, Anthropological Institute of Great Britain and Ireland, Vol. 60, July-December, 1930

बताया जानेवाला ग्रन्थ 'इण्डिका' आज तक किसी ने नहीं देखा। उसके नाम की माला फेर-फेरकर भारत का इतिहास लिखा जाता रहा है। वी० आर० रामचन्द्रन ने 'A Peep into Historical Past' (१८६२) तथा रामचन्द्र दीक्षितार ने 'Mauryan Polity' में कहा है कि तत्कालीन समाज व सैन्य रचना का जो वर्णन चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है, वह मैगेस्थनीज़ के वर्णन (Classical Accounts of India—1860) से मेल नहीं खाता। प्रो० कीथ ने भी इसकी विस्तृत चर्चा की है। जहाँ पुराणों में शक, यवन, पारसीक, हूणों के आक्रमणों का वर्णन है उसमें सिकन्दर का कोई उल्लेख नहीं है। प्लीनी ने तो साफ़ शब्दों में लिखा है कि मैगेस्थनीज़ के वर्णन परस्पर-विरोधी और अविश्वसनीय हैं। डॉ० खानबाख का भी कहना है कि इसमें सन्देह है कि मैगेस्थनीज़ ने एक बार भी पालीबोथ्रा की यात्रा की थी या नहीं! स्ट्रेबो ने साफ़ शब्दों में लिखा है कि भारत के विषय में लिखनेवाले अधिकांश ग्रीक लेखक मिथ्यावादी थे, परन्तु ऐसे लेखकों को ऑक्सफ़ोर्ड के विद्वानों ने अपने भारतीय इतिहास की आधारशिला बनाया है और भारतीयों ने इन्हीं के आधार पर इतिहास की रचना की है।

आजकल के पश्चिमी लेखक तो नये तथ्यों का पता लगने पर उनपर विचार करके अपने पूर्वाग्रहों को सुधारने लगे हैं, परन्तु जिन दिनों अंग्रेज़ी राज्य की नींव रक्खी जा रही थी उन दिनों यह स्थिति नहीं थी। समस्त लेखन पूर्वाग्रहों के आधार पर ही किया जाता था। विस्तारवादी यूरोपियनों को भारतीयों के सामने प्रस्तुत करने के लिए एक आदर्श वीर की मूर्ति गढ़ना आवश्यक था। इसके लिए उन्हें सिकन्दर की मूर्त्ति उपयुक्त जान पड़ी। वस्तुतः ग्रीक लेखकों के मूलग्रन्थ नष्ट हो चुके थे। बाद के साहित्य से उनके उद्धरण एकत्र किये गये। डॉ० खानबाख द्वारा जर्मन भाषा में प्रस्तुत यही संकलन 'इण्डिका' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। १८७७ में मैकक्रिडल ने 'Ancient India after accounts of Magasthanese and Aryan' नाम से इसका अंग्रेज़ी में रूपान्तर किया। इसी का विस्तार कर तथा मनगढ़न्त नक़शे बनाकर विन्सेण्ट स्मिथ ने 'Oxford History of India' में उसका उपयोग किया और हमने अपने गौरांग महाप्रभुओं को आप्तपुरुष मानकर उनका अनुकरण किया। परन्तु कालान्तर में स्वयं पाश्चात्य लेखकों ने ही इन ग्रीक लेखकों को अविश्वसनीय बताना शुरू कर दिया। 'सिकन्दर और चन्द्रगुप्त मौर्य समकालीन थे' विलियम जोन्स के इस कथन का प्रतिवाद प्रोफ़ेसर एम० ट्रॉयर ने अपनी 'कल्हण कृत राजतरंगिणी' की प्रस्तावना में किया। इस विषय में उसने मैक्समूलर को पत्र भी लिखा था, परन्तु मैक्समूलर ने उसके मत का उल्लेख न करके अपने 'History of Sanskrit Literature' में विलियम जोन्स की पुष्टि करते हुए लिखा—"भारत के इतिहास को ग्रीस के इतिहास से सम्बन्धित करने तथा कालक्रम को घटाकर ठीक करने का यही एक उपाय है।

कुछ उपायों, विशेषकर मि० ट्रॉयर के राजतरंगिणी में किये गये आक्षेपों के बावजूद चन्द्रगुप्त मौर्य तथा ग्रीस के सैंड्राकोटस को एक मानने में कोई आपत्ति नहीं है।" ग्रीस के सिकन्दर तथा भारत के चन्द्रगुप्त मौर्य की समकालीनता के सम्बन्ध में विलियम जोन्स के मत का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है।

भारतीय इतिहासवेत्ता

रोमिला थापर आजकल की नामी इतिहासकार हैं। सन् १९७५ में उनकी पुस्तक 'भारत का इतिहास' प्रकाशित हुई। उसके पृष्ठ २१ पर फुटनोट में कहा गया है—"महाभारत का युद्ध लड़नेवाले एक परिवार की राजधानी हस्तिनापुर में अभी खुदाई की गई थी जिससे मालूम हुआ कि इसका एक भाग लगभग ८०० ईसवी पूर्व में गंगा की बाढ़ में बह गया था। यह घटना युद्ध के तत्काल बाद हस्तिनापुर में राज्य करनेवाले राजा के सातवें उत्तराधिकारी के शासनकाल में हुई थी। इससे महाभारत युद्ध का समय ९०० ई० पू० के आसपास ठहरता है।"[1]

---

१. किसी के काल को बताते समय ईसा के जन्म से पूर्व (B. C.) और ईसा की मृत्यु के बाद (A. D.) का प्रयोग किया जाता है। ईसा का महत्त्व बढ़ाने की भावना के अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों ने यह प्रस्थानबिन्दु या मापदण्ड इसलिए भी स्थापित किया कि उनका वास्तविक इतिहास ईसवी सन् या ईसा से पूर्व नहीं जाता। साथ ही उनका यह भी पूर्वाग्रह रहा होगा कि जब बाइबल के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति का काल ही ६००० वर्ष से पीछे नहीं जाता तो किसी भी अवस्था में भारत का इतिहास इससे बहुत पूर्व का नहीं होना चाहिए। वे यह भी चाहते थे कि भारतीय आर्यों की सभ्यता मिश्र की सभ्यता से पूर्ववर्त्ती सिद्ध न हो, परन्तु अब जबकि अन्वेषणों और वैज्ञानिक मान्यताओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि सृष्टि तो अरबों वर्ष पुरानी है तो ६००० वर्ष का क्या मूल्य रहा? इतना ही नहीं, अब यह भी निर्विवाद है कि भारत की सभ्यता मिस्र से बहुत पुरानी है। तब, भारतीय इतिहास से ईसा का क्या सम्बन्ध है जो हर बात में—प्रत्येक काल के माप में उसी का मानदण्ड माना जाये? ईसा से तीन हज़ार वर्ष पूर्व भारत के इतिहास में एक महान् घटना घटी जो महाभारत युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि इसका केन्द्र भारत था (जैसे द्वितीय विश्वयुद्ध का जर्मनी रहा) तो भी इसका महत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय था। इस युद्ध का पाश्चात्यों द्वारा निर्धारित काल भी ईसवी सन् से बहुत पहले जाता है। जब विश्व के इतिहास में महाभारत जैसी महान् घटना है तो फिर A. C. और A. D. का प्रयोग न करके महाभारतपूर्व और महाभारतोत्तर का मापदण्ड प्रयुक्त किया जाना चाहिये। ईसा से कुछ (५७ वर्ष) पूर्व भारत के इतिहास में एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना घटी थी—विक्रम-

कुछ समय पूर्व द्वारिका में समुद्र से प्राप्त अवशेषों को श्रीकृष्ण से सम्बन्धित बताते हुए पुरातत्त्ववेत्ता एस० आर० राव ने उनका समय १४०० ई० पू० निश्चित किया है। श्रीकृष्ण का महाभारतकालीन होना निर्विवाद है। तब, यदि द्वारिका के अवशेष १४०० ई० पू० के हैं तो महाभारत का समय ९०० ई० पू० कैसे हो सकता है? वास्तव में पुरातत्त्व अभी अपनी शैशवावस्था में है और उसके आधार पर लगाई अटकलें अन्धों के गजदर्शन-तुल्य हैं। भारतीय इतिहास में सुरक्षित तिथिक्रम के आधार पर महाभारत-युद्ध का समय ३१४० वर्ष ईसा-पूर्व ठहरता है। महाभारत युद्ध की समाप्ति के अनन्तर ३६ वर्ष युधिष्ठिर ने राज्य किया। उसके दो वर्ष बाद कलियुग आरम्भ हुआ। यही श्रीकृष्ण के देहावसान का काल है। कलि संवत् का प्रारम्भ ईसा से ३१०२ वर्ष पूर्व माना जाता है। इस प्रकार भारतीय परम्परागत कालक्रम के अनुसार महाभारत-युद्ध का काल ईसा से ३१०२+२+३६=३१४० और तदनुसार आज (सन् १९८९) से ५१२९ वर्ष पूर्व निश्चित होता है।[२]

संवत् का प्रारम्भ। अत्यन्त प्राचीन वैदिक काल के पश्चात् भारतीय इतिहास का यह स्वर्णकाल था जब देश-देशान्तर में दूर-दूर तक उसकी संस्कृति, सभ्यता और साहित्य का प्रसार हुआ था। परन्तु पाश्चात्य एवं तदनुयायी एतद्देशीय विद्वान् **'दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवित'** अभ्यास और अपनी मानसिक दासता के कारण अपने स्वरूप को भूले रहकर अभी तक B. C./A D. का प्रयोग करने में ही गौरव अनुभव करते हैं।

१. प्रसिद्ध पाश्चात्य ज्योतिर्विद् बेली (Bailly) ने लिखा है कि कलियुग का प्रारम्भ ईसवी सन् से ३१०२ वर्ष पूर्व २० फरवरी को २ बजकर २७ मिनट ३० सैकण्ड पर हुआ था। उस ससय सभी ग्रह एक युति में थे—"According to astronomical calculation of the Hindus the present period of the world, Kaliyuga, commenced 3102 years before the birth of Christ on the 20th day of February at 2 hrs., 27 minutes and 30 seconds, the time being thus calculated to minutes and seconds. They say that a coujunction of planets took place there and tables show this conjunction. It was natural to say that a conjunction of planets then took place. The calculation of the Brahmans is so exactly confirmed by our own astronomical calculations that nothing but actual observation could have given so correspondent a result." —The Theogony of the Hindus by Count Bjorustjourna, Pub. John Murray, London, 1844, P. 82

इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास का पता लगाने में उत्खनन में प्राप्त पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री-- शिलालेख, ताम्रपट्ट, सिक्कों आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मेसोपोटेमिया में पुरातत्त्व के विद्वानों ने ३४०० वर्ष पुरानी ईंटें प्राप्त की हैं जिन पर वहां के लोगों के सुलहनामे लिखे हैं। किसी भी राष्ट्र की यह अमूल्य निधि हैं, परन्तु इनसे मानव के अति प्राचीन काल का इतिहास निर्धारित करने में सहायता नहीं मिल सकती। इस सामग्री से कुछ सहस्र वर्षों का इतिहास अनुमानित किया जा सकता है। भारत का इतिहास इतना प्राचीन है कि इसके विषय में ये साधन उपलब्ध नहीं हो सकते। यदि कहीं कुछ मिल भी जाये तो उससे प्राप्त सूचना आनुमानिक ही हो सकती है, निर्णीत नहीं। इसमें सम्भावना (Possibility), सम्भाव्यता (Probablity) तथा स्यात् (Perhaps orMay be) जैसे प्रयोगों की भरमार होगी, परन्तु इतिहास तो इति-ह-आस (निश्चय से ऐसा हुआ था) का नाम है।

उपर्युक्त कारणों से विदेशी विद्वानों एवं तदनुयायी भारतीय विद्वानों द्वारा लिखे गये भारतीय इतिहास की विश्वसनीयता या प्रामाणिकता पर सहज ही प्रश्न-चिह्न लग जाता है। परन्तु ब्रिटिश शासकों द्वारा किये गये प्रयासों के फलस्वरूप वर्त्तमान में उन्हीं का प्रामाण्य हो गया है। कारण ? जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, विदेश जाकर सरकारी छात्रवृत्तियों पर पढ़नेवाले लोग पूरे विदेशी बनकर स्वदेश लौटे। उन्होंने ब्रिटिश नीति को अपनाया और यहाँ के विश्व-विद्यालयों में भी ऑक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज में नियत पाठ्यक्रम अपनाया। अच्छी नौकरियों के लिए अधिकांश युवक अपनी आत्मा का सौदा कर अंग्रेज़, जर्मन आदि विद्वानों की हाँ-में-हाँ मिलाकर कहने लगे कि भारतीय इतिहासलेखक— वाल्मीकि, व्यास आदि— विवेचनात्मक बुद्धि नहीं रखते थे। पहले उनके दिमाग़ में अच्छी तरह यह भरा गया कि भारतीयों को इतिहास लिखना नहीं आता था। तत्पश्चात् अपने लिखे इतिहास पर ईमान लाने के लिए विवश किया गया। अंग्रेज़ प्रिंसिपलों के अधीन कार्य करनेवाले पण्डितगण भी विदेशी दबाव में दबने लगे। बनारस के प्रसिद्ध क्वींस कॉलिज में डॉक्टर थीबो के नीचे पण्डित सुधाकर द्विवेदी जैसे प्रकाण्ड विद्वानों की भी यही स्थिति थी। उस समय के अध्यापकों द्वारा स्थापित अन्ध परम्परा में ही आगे आनेवाले विद्यार्थी और उन्हीं विद्यार्थियों में से अध्यापक और लेखक तैयार होने लगे और आज भी हो रहे हैं।

सन् १९२८ में लाहौर में सम्पन्न All India Oriental Conference में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था—"बहुत करके हमारे संस्कृत के विद्वान् वे हैं जिनको वास्तव में संस्कृत का अक्षर भी नहीं आता है और दूसरे वे हैं जो भारतीय शास्त्रियों की कृपा पर विद्वान् कहे जाते

हैं।"[1] संस्कृत के मूल ग्रन्थों को न देखकर प्राय: अंग्रेज़ी अनुवादों के आधार पर ग्रन्थ लिखने की भारतीय विद्वानों की प्रकृति से क्षुब्ध होकर उन्होंने आगे कहा—"मैं देखता हूँ कि संस्कृत साहित्य पर कैसा और कितना कार्य हुआ है। और यह सब अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं के अनुवाद के सहारे हुआ है···इस-लिए उनके आधार पर बने ग्रन्थों पर विश्वास नहीं किया जा सकता।"[2] फिर कुछ प्रमाण देकर कहा–"इसी प्रकार सब अनुवादों को देख-भाल कर ही उनका मूल्यांकन करना चाहिये।"[3]

भारतीय विद्याभवन के अध्यक्ष श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के निर्देशन में 'History and Culture of the Indian People' लिखी गई। ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक इतिहास के अधिकृत विद्वान् आर० सी० मजूमदार हैं। 'Vedic Age' के नाम से १९५१ में प्रकाशित इस विशाल ग्रन्थ के प्रथम भाग के प्राक्कथन में श्री मुंशी ने लिखा—"The General Editor in his introduction has given the point of view of the scientific historian." अर्थात् प्रधान सम्पादक ने अपनी भूमिका में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। परन्तु जब हमने उनसे (मुंशी जी से) उन्हीं की एक पुस्तक के सन्दर्भ में पत्र-व्यवहार किया तो scientific historian के point of view का नमूना सामने आया। भारतीय संस्कृति के महान् पोषक कन्हैयालाल मुंशी ने अपनी एक पुस्तक 'लोपामुद्रा' में ऋग्वेद के आधार पर प्राचीन आर्यों के विषय में लिखा था—

"इनकी भाषा में अब भी जंगली दशा के स्मरण मौजूद थे। मांस भी खाते थे और गाय का भी। 'अतिथिग्व' गोमांस खिलानेवाले की बहुमानास्पद उपाधि थी। ऋषि सोमरस पीकर नशे में चूर रहते थे और लोभ तथा क्रोध का प्रदर्शन करते थे। सर्वसाधारण सुरा पीकर नशा करते थे। वे जुआ खूब खेलते थे। ऋषि

---

१. 'But at the end of my address I think it is my duty to give you a warning. At the present moment there is a large body of men who go as Sanskrit scholars without knowing a word of Sanskrit. There are others again who tax the brains of Shastries and take big name as Oriental scholars.'

२. 'I often see big works on Sanskrit literature and special branches of it, compiled mainly, if not wholly, from translations of Sanskrit works in English, French, German and other Europeon languages···but translations are never reliable.'
—Proceedings of A. I. O. C., 1928, P. 128

३. 'In a similar way all translations should be taken at their worth.'
—Ibid, 129

युद्ध में जाकर हज़ारों का संहार करते थे। वे रूपवती स्त्रियों को आकर्षित करने के लिए मन्त्रों की रचना करते थे। कुमारी से उत्पन्न बच्चे अधम, पतित नहीं माने जाते थे। कई ऋषियों के पिताओं का पता न था। आर्य भेड़िये की तरह लोभी थे। वीभत्सता या अश्लीलता का कोई विचार नहीं था। आत्मा का कोई ख़याल नहीं था। ईश्वर की कल्पना नहीं, नाम नहीं, मान्यता नहीं। स्वदेश की कल्पना नहीं थी। दस्यु भारतवर्ष के शिवलिंग-उपासक मूल निवासी थे।"

जब हमने उनसे पत्र द्वारा अनुरोध किया कि ऋग्वेद के जिन मन्त्रों के आधार पर आपने यह सब लिखा है, उन्हें उद्धृत करने की कृपा करें तो उन्होंने अपने पत्र दिनांक २ फ़र्वरी १९५० के द्वारा हमें सूचित किया कि "मैंने आर्यों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसका आधार पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किया गया वेदों का अनुवाद और डॉक्टर कीथ का वैदिक इण्डेक्स है। उस समय के लोगों के जीवन और रहन-सहन के सम्बन्ध में मैंने उनका प्रामाण्य स्वीकार किया है।"[१]

वस्तुतः स्वाधीनता एक भावात्मक शब्द है। दूसरे भावों के समान यह भी इन्द्रियगोचर या प्रत्यक्षगम्य नहीं है। स्वाधीनता का ज्ञान बहुत-कुछ अनुभवसिद्ध विषयों के साथ जुड़ा रहता है तथा प्रत्येक जाति अपनी कतिपय प्रिय वस्तुओं को लेकर स्वाधीनता के रूप में गठित करती हैं। हमारा दुर्भाग्य है कि हम स्वाधीन होकर भी पराधीनता की ओर बढ़ रहे हैं—यहाँ तक कि स्वयं अपने आपको दूसरों की आँखों से देख रहे हैं। राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो जाने पर भी पाश्चात्यों के मानसपुत्रों की आँखों पर मेकाले की बाँधी हुई पट्टी ज्यों-की-त्यों क़ायम है। स्वतन्त्र चिन्तन का सर्वथा अभाव है। हमारे अतीत के मूल्यांकन का काम पहले ईसाई मिश्नरियों के हाथों में था, अब मार्क्सवादी इतिहासकारों ने सँभाल लिया है जिसका प्रारम्भ कोसाम्बी से होता है। कोसाम्बी एक प्रसिद्ध इतिहासकार थे। उनके अनुसार इतिहास को बदलने का काम इतिहास लिखने से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। भारत के गौरवशाली अतीत का चित्र उभारनेवाले इतिहास उन्हें अपनी मान्यताओं के अनुसार सामाजिक रूपान्तरण करने में बाधक प्रतीत होते थे। इसलिए कोसाम्बी ने पहली बार एक ऐसी नई व्याख्या की नींव डाली जिसे मार्क्सवादी इतिहास-लेखन कहा जा सकता है। कोसाम्बी ने आगे के मार्क्सवादी इतिहासकारों को अत्यधिक प्रभावित किया और वे उसकी डाली लीक पर चल पड़े। वे ऐसा क्यों कर रहे हैं, इसका पता दिल्ली में Indian History and Culture Society के १५ फ़र्वरी १९७९ को हुए वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर

१. 'My attempt in this book has been to create an atmosphere which I find in the Vedas as translated by western scholars and as given in Dr. Keith's Vedic Index. I have accepted their view of life and conditions of those days.'

दिये गये बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर डा० लल्लनजी गोपाल के इस वक्तव्य से चलता है—"चीन में सत्ता में आने से पूर्व साम्यवादी दल निरन्तर २० वर्ष तक योजनाबद्ध रूप से साम्यवादी विचारधारा से ओत-प्रोत साहित्य का निर्माण करके चीनी जीवन की साम्यवादी व्याख्या करता रहा। इसका उद्देश्य चीनी जनमानस को मानव-इतिहास के विभिन्न पक्षों की मार्क्स द्वारा प्रस्तुत व्याख्या को स्वीकार करने के लिए पहले से तैयार करना था। इस देश के इतिहासकारों द्वारा भी इसी प्रकार का प्रयास किया जा रहा है। दिल्ली विश्वविद्यालय के डॉक्टर डी० एन० झा (जो इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस के संयुक्त सचिव भी हैं) और उनके साथियों ने अपने मार्क्सवादी होने की बात को छिपाया नहीं और स्पष्ट कह दिया कि वे जीवन-भर भारतीय इतिहास की साम्यवादी व्याख्या करते रहेंगे।"[१]

संस्कृत का सामान्य ज्ञान रखनेवाले विद्वानों की संसार में कमी नहीं है, परन्तु पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होने अथवा वैदिक भाषा तथा व्याकरण, निरुक्त आदि वेदांगों, न्याय-वैशेषिक आदि उपांगों, शतपथ आदि व्याख्यान-ग्रन्थों आदि के अध्ययन में पारंगत न होने से वे वेदों के रहस्यों अथवा गूढ़ार्थों को समझने में असमर्थ हैं। इसलिये वेदविषयक उनके निष्कर्षों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

प्राचीन आर्यों अथवा भारतीयों की इतिहासविषयक अज्ञता अथवा अल्पज्ञता का विज्ञापन करनेवाले पाश्चात्य एवं तदनुयायी भारतीय विद्वान् इतिहास-लेखन में कितने निष्णात हैं, इसका एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। भारतीय इतिहास के अधिकृत विद्वान् डॉ० ताराचन्द की मान्यता है कि आदि शंकराचार्य को अद्वैत वेदान्त की प्रेरणा नवम शताब्दी में मालाबार के तट पर उतरनेवाले अरबों से मिली थी। ये इतिहास-लेखक यह मानकर चलते हैं कि आदि शंकराचार्य का जन्म ईसा की सातवीं शताब्दी में हुआ था। इस विद्वान् लेखक का यह कथन

---

१. 'Before the Communist Party formed its government in China it carried on for 20 years a systematic campaign of producing books interpreting every aspect of Chinese life in Marxist terms. The aim behind it was to prepare the minds of the people to accept the correctness of various phases of man's history as described by Marx. A similar attempt is being made by historians here···Dr. D. N. Jha of Delhi University, who is also Joint Secretary of Indian History Congress, and his colleagues did not hide their Marxist leanings and said that they would live to interpret historical events nnd facts in Marxist terms.'

—Indian Express, dated Feb. 14-15, 1979

अपनी ही कल्पना की उपज है, क्योंकि यदि हम भारतीय स्रोतों के आधार पर निर्धारित जन्मतिथि ईसा-पूर्व ५०९ न मानकर आधुनिक विद्वानों द्वारा मान्य काल को भी स्वीकार करें तो वह सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध ठहरता है। उस समय तो अभी मुहम्मद साहब ने मक्का के लोगों में अपने धर्म का प्रचार शुरू किया था। सातवीं शताब्दी में जन्मे व्यक्ति का नवम शताब्दी में भारत पहुँचनेवाले लोगों से सम्पर्क कैसे सम्भव था ? फिर, शंकर तो ८-९ वर्ष की आयु में ही घर छोड़कर नर्मदा तट पर ओंकार मठ के पास स्थित गोविन्दपाद के आश्रम में पहुँच गये थे। उन्हीं से शंकर ने वेदान्त की शिक्षा पाई थी। पर जब तक बुद्धि पूर्वाग्रह से मुक्त न हो, तब तक सत्यासत्य का निर्णय करना कठिन है। आश्चर्य और दुःख की बात यह है कि प्रो० हुमायूँ कबीर और डॉ० आबिद हुसेन जैसे विद्वान् भी आँख मीचकर डॉ० ताराचन्द के पीछे चल पड़े।

निष्कर्ष में यही कहना पड़ेगा कि कहीं बाहर से आकर भारत में बस जानेवाली आर्य नाम की कोई जाति नहीं है। यह कल्पित समस्या अज्ञान, निहित स्वार्थ तथा आधे-अधूरे शोध पर आधारित है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का जो भवन खड़ा किया गया है, उसकी नींव की ईंट, भ्रान्तिपूर्ण अवधारणाओं के आधार पर रक्खी गई है। हम भारतीयों ने भी जो शोध-कार्य किया है, वह भी इस झूठ की आँधी के आवर्त्त में फँसकर रह गया है। अब समय आ गया है जब हम अपनी पूरी शक्ति के साथ सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय का मन्थन करके निकाले गये तथ्यों के आधार पर इस भ्रान्त धारणा को धराशायी करें और द्रविड़ के काल्पनिक विभेदकारी अपप्रचार को सदा के लिए समाप्त करें।

आर्यों के मूल निवास के सम्बन्ध में विभिन्न मतों की स्थापना करनेवाले सभी विद्वान् वेदों को तत्सम्बन्धी ऐतिहासिक सामग्री का स्रोत मानते हैं, इसलिये प्रारम्भिक कुछ अध्यायों में वेदविषयक आवश्यक जानकारी देने का प्रयास किया गया है। वेदों में अगाध ज्ञान-सामग्री भरी पड़ी है, परन्तु वैदिक शब्दों के रूढ़ न होने से उनमें किसी प्रकार के ऐतिहासिक या भौगोलिक संकेत होने का प्रश्न नहीं उठता। वेदों के यथार्थस्वरूप को जाने बिना सत्यासत्य का निश्चय नहीं हो सकता। वेद को वेद की दृष्टि से देखना होगा, पर वेदांगों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों और दर्शनों का गहन और व्यापक अध्ययन किये बिना वह दृष्टि नहीं मिल सकती।

वेदानुयायियों में यह धारणा दृढ़ रही है कि आर्यलोग भारत के मूल निवासी हैं। परन्तु उन्होंने अपने मत की पुष्टि में कोई प्रमाण देना आवश्यक नहीं समझा। दूसरे लोग जो अपने पक्ष के समर्थन में प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, उनका खण्डन करने का भी कोई प्रयास नहीं किया। फलतः वेद के नाम पर हम अपने घर में पराये या विदेशी आक्रान्ता बनकर रह गये। वेदों के अनुवादों व टीकाओं पर आँख मूंद-

कर विश्वास करना निरापद नहीं है। प्रत्येक ऋचा या सूक्त की अन्तर्वस्तु का, शब्दों के अर्थों या सन्दर्भों का निश्चय करते समय गतानुगतिकता से काम नहीं लिया जाना चाहिए।

सत्य-सनातन मत की जड़ें खोखली होती जा रही हैं। इसी से चिन्तित होकर यहां एतद्विषयक सामग्री का विश्लेषण करके उसके आधार पर प्राचीन मत का प्रतिपादन करने का प्रयास किया गया है। मुझे विश्वास है कि उपलब्ध सामग्री आर्य मनीषियों द्वारा स्थापित इस मत का समर्थन करती है कि आर्यलोग इस देश के आदिवासी हैं और उनसे पहले न इस देश का कोई नाम था और न उनसे पहले यहां कोई रहता था।

—विद्यानन्द सरस्वती

डी १४/१६ माडल टाउन
दिल्ली
चैत्र शुक्ला नवमी २०४५ वि०
२६ मार्च १९८८

मानव-सृष्टि

भारत के इतिहास में विकृतियों का एक प्रमुख कारण विकासवाद या सतत प्रगतिवाद का भ्रामक मत है। आधुनिक काल में विकासवाद एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र है। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दोनों ही विचारधाराओं में उसका प्रवेश हो गया है। वैज्ञानिक विचारधारा में प्राणियों की विभिन्न जातियों की उत्पत्ति में विकासवाद को मान्यता दी जाती है, और ऐतिहासिक विचारधारा में मानवी बुद्धि के विकास अथवा ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि में विकासवाद को आधार माना जाता है। साधारण दृष्टि से देखने पर यह बात ठीक-सी प्रतीत होती है; परन्तु गहराई से विचार करने पर इसका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है।

विकासवाद के अनुसार प्राणी अथवा जीवन-तत्त्व का प्रथम आविर्भाव जलों में उद्भिज्ज के रूप में हुआ। पहले जल-मिट्टी-वायु आदि के संयोग से एक प्रकार की सूक्ष्म काई बनी। उसी से पुनः जल-वायु का विलक्षण प्रभाव प्राप्त कर समस्त जलीय तथा पृथिवी के तृण, वीरुध, लता, गुल्म, ओषधि, वनस्पति तथा विविध वृक्षों आदि का क्रमशः विकास हुआ। कालान्तर में इसी मूल जीव-बीज से सर्व-प्रथम जल में ही एक दूसरी जीवन-शाखा चली। आरम्भ में अमीबा (Amaeba–एक कोश का प्राणी) की भाँति के सूक्ष्म जलजन्तु हुए। धीरे-धीरे जलीय कीट, मछली, मेंढक, कछुआ, वराह, रीछ, बन्दर, बनमानुष आदि विभिन्न प्राणिस्तरों को पार करता तथा विकसित होता हुआ मनुष्य बन गया। आदिकालीन एक कोश के प्राणी से मनुष्य तक पहुँचने के लिए मध्य में जीवन के न जाने कितने स्तर पार किये गये। तब कहीं लाखों-करोड़ों वर्षों में मनुष्य अपने वर्त्तमान रूप में आया।

इस विचार के अनुसार यदि हम मनुष्य की उत्पत्ति को एक करोड़ वर्ष पूर्व मानें और हैकल की 'History of Creation' के पृष्ठ २९५ में लिखी हुई प्राणियों की कड़ियों के बाद मनुष्य की उत्पत्ति मानें और प्रत्येक कड़ी को एक करोड़ वर्ष का समय दें, तो प्रथम प्राणी की उत्पत्ति से मनुष्य की उत्पत्ति तक लगभग-लगभग बाइस करोड़ वर्ष होते हैं। लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' में डॉक्टर गैडो

(Gadaw) की साक्षी से लिखा है कि 'मछली से मनुष्य होने में ५३ लाख ७५ हज़ार पीढ़ियाँ बीतीं।' इतनी ही पीढ़ियाँ अमीबा से मछली होने में बीती होंगी, अर्थात् अमीबा से आज तक लगभग एक करोड़ पीढ़ियाँ बीत चुकीं। कोई पीढ़ी एक दिन और कोई सौ वर्ष जीती है। यदि सबका औसत २५ वर्ष मान लें तो इस हिसाब से भी प्राणियों के प्रादुर्भाव को आज २५ करोड़ वर्ष होते हैं। यह भी माना जाता है कि पृथिवी के हो चुकने के करोड़ों वर्ष बाद प्राणी हुए और प्राणियों की उत्पत्ति से आज तक २५ करोड़ वर्ष हो गये। इस प्रकार यह अवधि विकासवादियों की निश्चित की गई अवधि (दस करोड़ वर्ष) से बहुत आगे निकल गई है। ऐसी दशा में समय की दृष्टि से यह विकासवाद कितना लचर है—यह स्पष्ट है।

आद्यकालिक प्राणिरचना को क्रमिक विकास के सिद्धान्त पर माननेवाले विद्वानों ने इस बात पर विचार किया है कि एकमात्र मूल से अनेक शाखा-प्रशाखाओं में बँटकर विभिन्न योनियों के रूप में जीवन कैसे पहुँच जाता है। उनका कहना है कि प्राणी की इच्छा और आवश्यकता ऐसी स्थितियाँ हैं जो उसके विकास और परिवर्तन का कारण बनती हैं। प्राण-रक्षा की भावना प्राणिमात्र में नैसर्गिक है। उस भावना से विवश होकर प्राणी को जो क्रिया बारम्बार करनी पड़ती है, धीरे-धीरे उसमें उस शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है और फिर धीरे-धीरे क्रिया को करने में समर्थ अंग का विकास हो जाता है। दूसरी ओर प्राणरक्षा के लिए जिस क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती, उसका अभ्यास नहीं रहता। अभ्यास न रहने से वह अंग अशक्त हो जाता है और अन्त में एक दिन उसका लोप हो जाता है। भोजन के लिए प्रयत्न तथा प्राकृतिक संघर्ष एवं शत्रुओं से रक्षा के लिए प्राणी को अनेक परिवर्तनों में से गुज़रना पड़ता है। उनमें से जो अपने को परिस्थिति के अनुकूल बना सके वे बच गये। जो उन संघर्षों में अपने को आवश्यकतानुसार परिवर्तित न कर सके वे नष्ट हो गये। इन्हीं कारणों से शरीर में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहा और प्राणी विभिन्न योनियों में बँट गया। आधुनिक विकासवाद के अनुसार प्राणी के क्रमिक विकास में उसकी आवश्यकताजन्य इच्छा तथा उसको पूरा करने के लिए किये गये चिरकालीन अभ्यास के परिणामस्वरूप होनेवाले आकृति-परिवर्तन के उदाहरण के रूप में अफ्रीका के मरुदेश में पाये जानेवाले लम्बी गर्दनवाले जिराफ़ नामक पशु का उल्लेख किया जाता है। कहते हैं, यह पहले ऐसा नहीं था, जैसा आज देखा जाता है। जिराफ़ ने जब वृक्षों पर नीचे के पत्ते खा लिये तो ऊपर के पत्ते खाने की इच्छा हुई। अपनी इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह गर्दन उठा-उठाकर प्रयत्न करने लगा। चिरकाल तक ऐसा करते रहने से उसकी गर्दन लम्बी हो गई।

परन्तु परिस्थिति के अनुरूप आवश्यकतावश आकृति-परिवर्तन की मान्यता युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। बकरी जब नीचे के पत्ते चुग लेती है तब तने पर

या टहनियों पर अगले पैर टिकाकर पत्ते चुग लेती है। लाखों वर्षों से वह इसी तरह अपना पेट भरती आ रही है। परन्तु आज तक न उसकी गर्दन बढ़ी, न उसका अगला भाग लम्बा हुआ, और न उसके लिए चारे की कमी हुई। यहाँ यह भी विचारणीय है कि गर्दन बढ़ाने की बजाय जिराफ में बन्दर की तरह पेड़ पर चढ़ने की प्रवृत्ति का विकास क्यों नहीं हुआ ? न जाने कब से मनुष्य उत्तरी ध्रुव तथा ग्रीनलैण्ड जैसे शीतप्रधान देशों में बसा हुआ है, किन्तु शीत से बचने की इच्छा तथा आवश्यकता के होते हुए भी उसके शरीर पर रीछ जैसे बाल पैदा नहीं हुए। इतना ही नहीं, जैसे लम्बे बाल राजस्थान की तपती मरुभूमि में रहनेवाली भेड़ के होते हैं, वैसे ही हिमालय के शीतप्रधान देश में रहनेवाली भेड़ के होते हैं। अफ़्रीका के अति उष्ण प्रदेशों में दीर्घरोमा रीछ और रोमरहित गैंडा एक-साथ रहते हैं। अपने ही देश में एक जैसी परिस्थिति में रहनेवाली गाय और भैंस में इसके विपरीत अन्तर देखा जाता है। भैंस का चर्म पतला, चिकना और लघु-रोम होता है। इसके विपरीत गाय का चर्म अपेक्षाकृत कठोर और चर्मबहुल होता है। विकासवाद के अनुसार आत्मरक्षा की भावना के कारण हरिण, चीतल, नीलगाय आदि अनेक प्रकार के जंगली पशुओं में नर के सींग होते हैं, मादा के नहीं। क्या आत्मरक्षा के लिए सींगों की आवश्यकता नर को ही होती है, मादा को नहीं ? जंगली पशुओं की अपेक्षा मनुष्य द्वारा पालित व सुरक्षित गाय-भैंस आदि को कम खतरा होता है। फिर क्या कारण है कि उनमें नर-मादा दोनों के सींग होते हैं। फिर, कोयल के मधुर कण्ठ और मोर के सुन्दर पंखों का प्राणरक्षा से क्या सम्बन्ध है ? फिर भी ये दोनों गुण अपने-अपने स्थान पर विद्यमान हैं। कौवे को क्या अपनी काँ-काँ अच्छी लगती होगी और मोर के सुन्दर पंख देखकर क्या मोरनी को ईर्ष्या नहीं होती होगी ?

भाई और बहन एक ही परिस्थिति में उत्पन्न होते और बढ़ते हैं। पर बहन के मुँह पर दाढ़ी-मूँछ का नाम भी नहीं होता। हाथी और हथिनी एक ही परि-स्थिति में रहते हैं। पर हथिनी के मुँह में बाहर को निकले बड़े दाँत नहीं होते। 'हाथी के दाँत खाने के और, दिखाने के और' हाथी पर ही लागू होता है, हथिनी पर नहीं। मोर और मयूरी और इसी प्रकार मुर्गा और मुर्गी एक ही परिस्थिति में उत्पन्न होते, पलते और बढ़ते हैं; पर मयूरी और मुर्गी के वे सुन्दर पर और कलग़ी नहीं होते जो मोर और मुर्गे के होते हैं।

भारत में व्याघ्र, सिंह व हाथी होते हैं, पर वे इंगलैण्ड आदि देशों में नहीं होते। जिराफ़ अफ़्रीका में, कंगारू आस्ट्रेलिया में और मोर भारत में होता है। यूरोपवासियों द्वारा वहाँ पहुँचाये जाने से पहले आस्ट्रेलिया में खरगोश नहीं होता था। स्पष्ट है कि जब तक कोई प्राणी कहीं न पहुँचे और अपनी सन्तति का विस्तार न करे, तब तक कोई प्राणी आप-ही-आप वहाँ पैदा नहीं होता।

मनुष्य को छोड़कर जितने प्राणी हैं, उनके बालों में पैदा होने से मृत्युपर्यन्त किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता। जो गाय जिस रंग की होती है, आजीवन उसी रंग की रहती है, परन्तु न चाहते हुए भी मनुष्य के बाल रंग बदलते रहते हैं। जितने पशु हैं, पानी में डालते ही तैरने लगते हैं। मनुष्य का तथाकथित पूर्वज बन्दर भी पैदा होते ही तैरने लग जाता है। यहाँ तक कि राजस्थान की वह भैंस भी, जिसने जीवन में कभी तालाब के दर्शन भी कभी नहीं किये होते, अवसर मिलने पर झट तैरने लग जाती है। परन्तु सदा नदी या समुद्र के तट पर रहनेवाला मल्लाह का बेटा भी तैरना सीखे बिना नहीं तैर सकता। प्राणरक्षा की भावना के होते हुए भी जंगली मनुष्यों के सिर में सींग नहीं निकले और न नदी के किनारे रहनेवाले लोगों में स्वतः तैरने की शक्ति का विकास हुआ। अनादि काल से कछुआ पृथिवी पर चलता आ रहा है, किन्तु उसके पेट की कोमलता में अन्तर नहीं आया। दूसरी ओर उसकी पीठ पत्थर की तरह कठोर है, जबकि वह एक दिन भी धरती पर रगड़ी नहीं गई। विकासवाद के अनुसार इसके विपरीत होना चाहिए था। प्राणिमात्र में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। यह प्रवृत्ति पतंगे में भी होनी चाहिए। दीपशिखा के सम्पर्क में आते ही वह जल जाता है। न जाने कब से जलता आ रहा है, परन्तु उसने कभी भी उससे बचने का प्रयास नहीं किया। इसके लिए उसे कोई विशेष प्रयत्न भी नहीं करना पड़ता। दीपशिखा से तनिक दूर रहने का अभ्यासमात्र करना था। किन्तु लाखों-करोड़ों वर्षों में वह इतना भी नहीं कर पाया।

मनुष्य को विकासक्रम में अन्तिम—श्रेष्ठतम प्राणी माना जाता है। तब भी मनुष्य की तुलना में चींटी जैसे क्षुद्र प्राणी को वर्षा का और कुत्ते जैसे निकृष्ट प्राणी को भूकम्प का पूर्वानुमान कैसे हो जाता है? प्रशासनिक योग्यता की दृष्टि से मधुमक्खी को आदर्श क्यों माना जाता है? प्रत्येक प्राणी अधिक-से-अधिक काल तक जीना चाहता है। विकास के किसी भी स्तर पर उसने इस इच्छा का परित्याग नहीं किया होगा। तब, मनुष्य की अपेक्षा कहीं निम्न स्तर के प्राणी कछुआ, साँप, आदि क्यों दीर्घजीवी होते हैं? थोड़े काल में अधिक मार्ग तय करने के लिए मनुष्य मोटरों, वायुयानों आदि का आविष्कार और विकास कर रहा है। तब, उसने चीते की तेज गति को छोड़ना कब चाहा होगा? कुत्ते की घ्राण शक्ति और गृध्र की दूरदृष्टि को भी उसने जानबूझकर खोना कभी नहीं चाहा होगा। अनुपयोगी जानकर उसने उनकी उपेक्षा कर दी होती तो आज अपराधियों को पकड़ने के लिए कुत्तों की सहायता क्यों लेता?

बया नामक छोटी-सी चिड़िया जैसा सुन्दर घर बनाती है, वैसा मनुष्य से केवल एक पीढ़ी नीचे माना जानेवाला बन्दर नहीं बना सकता। पर यह भी सत्य है कि जैसा घर यह लाखों-करोड़ों वर्ष पहले बनाती थी, आज भी वैसा ही बनाती

है। मकड़ी जाला बनाती है। मधुमक्खी छत्ता बनाती है और फूलों से पराग लाकर और उसे मधु बनाकर उसमें एकत्र करती है। किन्तु इन्होंने ये कलाएँ किसी से सीखीं नहीं—ये उनके अपने आविष्कार भी नहीं हैं। उन्होंने अपनी ये कलाएं अन्य प्राणियों को सिखाईं भी नहीं। जिसको जो आता है और जैसा आता है, वह उसे उसी रूप में करता आ रहा है।

लामार्क नामक विद्वान् ने चूहों की दुमें काटकर बिना दुम के चूहे पैदा करने चाहे। चूहों की अनेक पीढ़ियों तक वह ऐसा करता रहा। पर बिना पूंछ के चूहे पैदा न हुए। हिन्दुओं के लड़के-लड़कियाँ लाखों वर्षों से कान छिदवाते आ रहे हैं; हज़रत इब्राहीम के समय से यहूदी और मुसलमान खतना कराते आ रहे हैं; चीनी स्त्रियाँ न जाने कब से पैर छोटे करने का प्रयास कर रही हैं। परन्तु न हिन्दुओं के घरों में कनछिदे बच्चे पैदा हुए, न मुसलमानों के यहाँ खतना की हुई सन्तान पैदा हुई और न चीनी घरों में छोटे पैरोंवाली लड़कियाँ पैदा हुईं।

मोटर आदि का विकासक्रम में उपलब्ध अन्तिम रूप (Latest Model) ही बनता है। जब मनुष्य जैसा सर्वोत्कृष्ट प्राणी तैयार हो गया तो निचले स्तर के सभी पशु-पक्षियों का सर्वथा लोप हो जाना चाहिए था। परन्तु हम देखते हैं कि आज भी मछली-से-मछली, भेड़-से-भेड़ और कुत्ते-से-कुत्ते ही पैदा हो रहे हैं। यहाँ तक कि जिस बन्दर से मनुष्य बना कहा जाता है, उससे भी बन्दर ही पैदा हो रहे हैं, मनुष्य नहीं। फिर, विकास तो विकास है, उसकी कोई अन्तिम सीमा नहीं आ सकती। तो फिर, विकास का क्रम कैसे रुक गया? मनुष्य से आगे अन्य कुछ क्यों नहीं बना?

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं जो विकासवाद द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के व्यतिक्रम को स्पष्ट करते हैं। वस्तुतः जो योनियाँ जिस प्रकार की हैं, वे सदा से वैसी ही हैं और भविष्य में भी वैसी ही बनी रहेंगी। आवश्यकता, तन्मूलक इच्छा, अभ्यास एवं वातावरण या परिस्थिति के कारण उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं। अत्यन्त प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों में अनेक जातियाँ नष्ट भले ही हो जाएँ, पर उनमें ऐसा परिवर्तन नहीं हो सकता जो उनकी नैसर्गिक जाति को बदल डाले। इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि आदिम मनुष्यों ने हीन मस्तिष्क प्राणियों से विकसित होकर उन्नति नहीं की, प्रत्युत वे परमात्मा की विशिष्ट रचना थे और आज के उत्तम मस्तिष्कों की अपेक्षा अधिक उन्नत एवं विकसित थे।

विज्ञान कहता है कि सर्वप्रथम एक कोश का प्राणी हुआ; पर इस समस्या का समाधान विज्ञान आज तक नहीं कर पाया कि एक कोश का प्राणी कैसे हो गया? अमीबा नाम का प्राणी एक कोश का देह है। ठीक वही देह अनेकानेक संख्या में मिलकर अन्य अनेक कोशयुक्त प्राणिदेह की रचना करते हैं, ऐसा विज्ञान

के लिए भी सिद्ध करना कठिन है। यदि एक कोश का प्राणी आप-ही-आप उत्पन्न हो सकता है तो मनुष्य भी आप-ही-आप उत्पन्न हो सकता है। अन्यथा, जिस अन्तर्व्याप्त शक्ति के प्रभाव से एक सेल (Cell) का अमीबा उत्पन्न हो सकता है, उसी शक्ति से मनुष्य शरीर की रचना होने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। वनस्पतिशास्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् डाक्टर बीरबल साहनी से पूछा गया—"आप कहते हैं कि आरम्भ में एक सेल के जीवित प्राणी थे, उनसे उन्नति करके बड़े-बड़े प्राणी बन गये। आप यह भी कहते हैं कि आरम्भ में बहुत थोड़ा ज्ञान था, धीरे-धीरे उन्नति होते हुए ज्ञान उस अवस्था को पहुँच गया जिसको विज्ञान आज पहुँचा हुआ है। तब आप यह तो बताइये कि—"Wherefrom did life come in the very beginning and wherefrom did knowledge come in the very beginning?" अर्थात् प्रारम्भ में जीवन कहाँ से आया और प्रारम्भ में ज्ञान कहाँ से आया? क्योंकि जीवन शून्य से उत्पन्न हो गया और शून्य से ज्ञान उत्पन्न हो गया, यह नहीं माना जा सकता।" डाक्टर साहनी ने उत्तर में कहा—"इसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं कि आरम्भ में जीवन या ज्ञान कहाँ से आया। हम इस बात को स्वीकार करके चलते हैं कि आरम्भ में कुछ जीवन भी था और कुछ ज्ञान भी था।"[1] इससे स्पष्ट है कि विकास-वाद, जिसका इतना शोर है और जिसे अर्धशिक्षित जन अन्तिमित्थम् के रूप में मानते चले जा रहे हैं, युक्ति के सामने नहीं ठहर सकता। सच तो यह है कि जब जड़ पदार्थों में स्वयं संचालन (Self direction) तथा सम्प्रयोग (Co-ordination) की शक्ति है ही नहीं, तो विकासवाद के सिद्धान्तानुसार अरबों वर्ष में भी जड़ परमाणुओं में इस प्रकार संचालन कि अन्ततोगत्वा जीवित प्राणियों का विकास हो सके, असम्भव है। इसी प्रकार यद्यपि मानव में ज्ञान का विकास उसकी चिन्तन शक्ति के साहचर्य से होता है, तथापि जो कुछ ज्ञान वह प्राप्त करता है, उसका आदिमूल वह स्वयं नहीं है।

ज्ञान का विकास

मानव बुद्धि जड़ होने से किसी अन्य से प्रेरणा की अपेक्षा रखती है। बुद्धि एक जन्मजात शक्ति है, किन्तु ज्ञान अर्जित सम्पत्ति है। मनुष्य को स्वतः ज्ञान की

---

१. With this we are not concerned as to wherefrom life came in the very beginning or wherefrom knowledge came in the very beginning. We are to take it for granted that there was some life in the beginning of the world and there was knowledge also in the beginning of the world and by slow progress it increased.

उपलब्धि नहीं होती। उसे आरम्भ में गुरु-ज्ञान प्राप्त हो जाये तो वह अपने अनुभव, चिन्तन, संवेदन और बुद्धि के द्वारा उस ज्ञान का विकास कर सकता है, अर्थात् पशुओं की भाँति केवल स्वाभाविक ज्ञान के आश्रित न रहकर वह नैमित्तिक ज्ञान के सहारे ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ते चले जाने में समर्थ हो जाता है। मनुष्ययोनि की यही विशेषता है। इसी व्यवस्था में मनुष्य योनि की सार्थकता है। यही ऐसी योनि है जिसमें रहकर जीव को विकास का अवसर मिलता है। परन्तु यह विकास स्वतः नहीं होता। समुचित साधनों के रूप में नैमित्तिक ज्ञान के द्वारा ही सम्भव होता है। इसी को लक्ष्य कर शास्त्रों में कहा है—**'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'**—अर्थात् माता, पिता तथा आचार्य की सहायता से ही मनुष्य ज्ञानवान् होता है।

अफ़्रीका में गृहीतजन्म हब्शीपुत्र को इंगलैण्ड में लाकर वहीं किसी गृहस्थ में रखकर उसका पालन-पोषण किया जाये तो वह अंग्रेजों की भाँति व्यवहार करेगा। इसके विपरीत यदि किसी अंग्रेज़ बालक का अफ़्रीका के किसी हब्शी के घर में रख कर पालन-पोषण किया जाये तो वह हब्शियों जैसा व्यवहार करेगा। गुजरात में उत्पन्न बालक गुजराती और बंगाल में उत्पन्न बालक बंगला बोलता है। इस सबका कारण यही है कि जहाँ जिसको जैसा सीखने का अवसर मिलता है वह वैसा ही सीखता और व्यवहार करने लगता है। जंगली जातियों में ही नहीं, आधुनिक सभ्य सुशिक्षित समाज में भी किसी बड़े-से-बड़े विद्वान् का बालक भी बिना पढ़े विद्वान् नहीं बन जाता।

स्वाभाविक ज्ञान की दृष्टि से मनुष्य पशुओं से पीछे हैं। पशु को तैरना सिखाना नहीं पड़ता, परन्तु तैरने की कौन कहे, जब तक अंगुली पकड़कर चलाया न जाये तब तक मनुष्य का बालक चल भी नहीं सकता।

स्वाभाविक ज्ञान नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक तो हो सकता है, किन्तु स्वयं विकसित होकर मनुष्य के व्यवहारादि के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता। स्वाभाविक ज्ञान से युक्त बच्चों को भी पढ़ने के लिए अध्यापक के पास जाना पड़ता है। यदि मात्र स्वाभाविक ज्ञान के सहारे मनुष्य अपने अनुभव से ही ज्ञान प्राप्त कर सकता तो जंगलों में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति बिना पढ़े ही कभी-न-कभी गणित या व्याकरण का आचार्य, डाक्टर, इंजीनियर और विज्ञानवेत्ता बन गया होता। परन्तु अफ़्रीका, अमरीका और आस्ट्रेलिया के द्वीपों में जहाँ शिक्षा की व्यवस्था नहीं है, हज़ारों-लाखों वर्षों से बसे हुए हब्शी लोग आज भी पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं। भारत में भी सुदूर पर्वतीय प्रदेशों और जंगलों में रह रही भील, सन्थाल, नागा आदि जातियाँ आज तक असभ्य बनी हैं। कौन कह सकता है कि उनमें चेतना या संवेदना का सर्वथा अभाव है। यदि स्वभाव से मनुष्य उन्नति कर सकता तो उनकी दशा अब तक ज्यों-की-त्यों क्यों बनी रहती?

दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि जैसे-जैसे शिक्षित और सभ्य देशों के लोग इन पिछड़े क्षेत्रों में पहुँचकर स्कूल आदि की व्यवस्था करते जाते हैं, वैसे-वैसे वे लोग शिक्षित होते चले जाते हैं। जो काम स्वतः लाखों वर्षों में न हो पाया, प्रयत्न करने पर वह कुछ ही वर्षों में हो गया।

समाजशास्त्री भी यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य, जैसे भी हो, समाज से ज्ञान ग्रहण करता है। इसीलिए यदि आज भी किसी मानव को समाज से पृथक् कर दिया जाये तो वह सर्वथा अज्ञ रह जायेगा और उसका व्यवहार पशुवत् होगा। समय-समय पर ओ परीक्षण किये गये हैं उनसे यही पता चला कि यदि किसी बालक को पैदा होते ही अपने माता-पिता और मानव समाज से पृथक् करके जंगल में पशुओं के बीच छोड़ दिया जाये तो वह पशुओं की भाँति ही व्यवहार करेगा। वैसे ही चले-फिरेगा और वैसी ही बोली बोलेगा। आकृति के सिवा उस मानव शिशु में और उन पशुओं में कोई अन्तर नहीं होगा। जन्म के तत्काल बाद से भेड़ियों की माँद में पलनेवाले रामू और कमला की कहानी तो देशभर में चर्चा का विषय बनी रही। ये बच्चे भेड़ियों की भाँति चारों हाथों-पैरों से चलते थे, उन्हीं की तरह कच्चा मांस खाते थे और बोलने के नाम पर उन्हीं की तरह गुर्राते थे। मानव समाज से दूर पशुओं के बीच रहकर वे पशु ही बन गये थे।

आहार-निद्रा-भय-मैथुन तथा आत्मसंरक्षण विषयक पशुजगत् का कार्य नैसर्गिक ज्ञान से चल सकता है; परन्तु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जिसके जीवन का लक्ष्य है, वह मनुष्य नैमित्तिक ज्ञान के बिना आगे नहीं बढ़ सकता। विकासवाद के अनुसार मनुष्य की बुद्धि ज्ञान व अनुभव के द्वारा धीरे-धीरे विकसित होकर स्वतः ज्ञान प्राप्ति में समर्थ हो जाती है। यह कहा जाता है कि यद्यपि एक मनुष्य अपने जीवनकाल में स्वतः ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, तथापि वंशानुक्रम से धीरे-धीरे विकास करता हुआ ज्ञान का संचय कर लेगा। साधारण दृष्टि से देखने पर यह बात ठीक सी प्रतीत होती है, परन्तु गहराई से विचार करने पर इसका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है।

दीपक पर पतंगा आता है और जल जाता है। जब से दीपक और पतंगा हैं तभी से ऐसा होता आ रहा है। पतंगों के लाखों-करोड़ों वर्ष के अनुभव ने उन्हें वह ज्ञान नहीं दिया जिससे वे भविष्य में जलने से बच जाते। सिखाने से तो सर्कस में बन्दर, हाथी, घोड़े आदि पशु कई प्रकार के करतब दिखाते हैं, परन्तु स्वतन्त्र रूप में उनका आचरण आज भी वैसा ही है जैसा लाखों वर्ष पहले था। मनुष्योचित व्यवहार का प्रदर्शन करने में दक्ष चिंपाजी भी चिड़ियाघर में आकर ही कुछ सीख पाता है, और यह भी प्रशिक्षक के द्वारा। पशुजगत् में ही नहीं, मानवजगत् में भी यही नियम काम कर रहा है। कोई परिवार चाहे कितना ही शिक्षित और ज्ञानी हो और कितनी ही पीढ़ियों से उसमें शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन चला आ

रहा हो, उस परिवार की सन्तति भी बिना स्वयं पढ़े-लिखे विद्वान् बन जाये; यह सम्भव नहीं। ज्ञान का यदि क्रमिक विकास होता तो भावी सन्तति में वह स्वत: संक्रमित होता रहता। यदि कहीं दो सहोदर भाइयों में से एक की शिक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी जाये और दूसरा उस शैक्षिक व्यवस्था से वंचित रहे तो दूसरा एक ही वंश-परम्परा में सगा भाई होने पर भी मूर्ख रह जायेगा। ज्ञान-प्राप्ति का नैमित्तिक साधनों पर अवलम्बित रहना ही इसमें कारण है।

यदि जीवात्मा स्वभावत: उन्नति करता होता तो सृष्ट्युत्पत्ति के लाखों-करोड़ों वर्ष बीतने पर अब तक ज्ञान की पराकाष्ठा हो गई होती। स्कूल कालिज होते भी तो कभी के बन्द हो गये होते। बहुत-से सर्वज्ञ हो गये होते। किन्तु वास्तविकता यह है कि यदि आज भी बच्चों को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाये तो वे उन्नति के स्थान पर अवनति करने लगेंगे। ऊपर चढ़ने की भाँति उन्नति परिश्रम और तपस्या माँगती है और मनुष्य उससे बचना चाहता है, क्योंकि वह स्वभाव से सरलता व सुगमता चाहता है। वर्तमान युग की तथाकथित उन्नति मानव गुणों के विकास का नहीं, उसके सुख, सुगमता और सरलता का इतिहास है। वस्तुत: मानवीय गुणों का ह्रास हो रहा है। आदि मानव आज के मनुष्य से मानवीय सामर्थ्य में अधिक उन्नत था, यह निर्विवाद है। इसकी साक्षी किसी ऐसे मानवीय व्यवहार में ढूँढ़ी जा सकती है जिसका आदि मानव में होना प्रमाणित हो और जो आज भी विद्यमान हो। वह है भाषाविज्ञान। वैदिक भाषा संस्कृत से और संस्कृत भाषा ग्रीक और लैटिन आदि भाषाओं से अधिक सक्षम, विविध उच्चारणों को अंकित करने में अधिक समर्थ है और अधिक गठित भी। वर्त्तमान भाषाएँ उच्चारण करने में सुगम और स्मरण करने में सुसाध्य तो हैं, परन्तु न तो उनमें प्राचीन भाषाओं का-सा लालित्य है, न भावाभिव्यक्ति की क्षमता और न थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कहने का सामर्थ्य। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से आज की तुलना में आदिमानव कहीं अधिक उन्नत था।

जब यह निश्चय हो गया कि मनुष्य किसी के सिखाये बिना कुछ नहीं सीख सकता तो प्रश्न उठता है कि पहली पीढ़ी के मानवों ने जीवन का व्यवहार किससे सीखा होगा। जिस प्रकार वर्त्तमान में हमने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया है वैसे ही हमारे माता-पिता आदि ने अपने माता-पिता आदि से और उन्होंने भी अपने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया होगा। यह क्रम चलते-चलते जब सृष्टि के आदिकाल में अमैथुनी सृष्टि तक पहुँचेगा जहाँ पृथिवी पर मानव की सर्वप्रथम प्रादुर्भूत पीढ़ी मिलेगी, तब निश्चय ही परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई शिक्षक नहीं मिलेगा, अत: मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ परमेश्वर द्वारा अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मनुष्यों को वेद के रूप में नैमित्तिक ज्ञान का मिलना सर्वथा

युक्तियुक्त है। उन मनुष्यों द्वारा अपनी सन्तति अथवा शिष्यों में ज्ञान का संक्रमण हुआ। यही क्रम अब तक चला आ रहा है। इस प्रकार संसार में आज जितना भी ज्ञान है, उसका आदिमूल परमेश्वर ही ठहरता है। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में **'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** कहकर परमात्मा को गुरुओं का गुरु बताया है। योगदर्शन के इस सूत्र का आशय यही है कि आदिकाल में जब सर्वप्रथम मानवों का आविर्भाव हुआ तो उनके मार्गदर्शन के लिए आवश्यक सब बातें परमगुरु परमात्मा ने उनके आत्मा में स्फुरित कर दीं। इसी ज्ञानराशि को वेद नाम से अभिहित किया गया है।

वेदकाल-निर्णय

आर० एन० दाण्डेकर ने ठीक लिखा है कि ऋग्वेद के काल का आर्यों के भारत में प्रवेश से गहरा सम्बन्ध है। इस विषय में अनेक कल्पनाएँ की गई हैं, परन्तु ऐसा देखा गया है कि प्रायः एक निर्णय दूसरे निर्णय को स्वतः काट देता है।[1]

एच० जी० वेल्स (H. G. Wells) ने लिखा है कि "केवल दो सौ वर्ष पूर्व मनुष्योत्पत्ति की आयु ६००० वर्ष तक मानी जाती थी, परन्तु अब परदा हटा है तो मनुष्य अपनी प्राचीनता लाखों वर्षों तक आँकने लगा है।"[2] और यह सब इसलिए स्वीकार किया जाता है, क्योंकि ऐसे पुराने अवशेष, प्राचीनकालीन प्राणियों के अस्थिपंजर आदि मिल चुके हैं और इन सबकी वैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षा की जा चुकी है।

ईसा पूर्व ३२७ से पहले का भारतीय इतिहास कालक्रम की दृष्टि से अनिश्चितताओं की एक ऐसी भूल-भुलैया में फँसा रहा है जिसमें अपनी रुचि और समय के अनुसार दशाब्दियों को शताब्दियों में और शताब्दियों को सहस्राब्दियों में बदला जा सकता है। उदाहरणार्थ—अमलनेरकर ६६००० वर्ष पूर्व, अविनाश चन्द्रदास ७५००० वर्ष पूर्व और प्राचीन भारतीय परम्परा एक अरब सत्तानवे

---

१. Scholars are generally of the opinion that the question of the age of the Rigveda is closely linked up with the entry of the Aryans into India.···Geological, astronomical and religio-historical considerations also played their own part in this engrossing field. The result of all this is the enunciation of a large number of theories. Indeed one is sometimes inclined to feel that in this veritable plethora of hypothesis, interesting though they might be, one hypothesis would easily cancel the other.—R. N. Dandeker : Progress of Indic Studies, P. 33-34.

२. Outline of World History, 1934, P. 15.

करोड़, उनतीस लाख, उनचास हज़ार, अठासी वर्ष पूर्व मानती है।[1] ईसा के जन्म-काल को अपना प्रस्थानबिन्दु मानकर पिछले सौ वर्षों में ऋग्वेदादि के काल के विषय में अनेक मत व्यक्त किये हैं। वैज्ञानिक तथ्यों के मार्ग में जो बाधाएँ अन्य धर्ममतों ने डाली थीं, उनके दुष्प्रभाव से इतिहास भी अछूता नहीं रहा। ईसाई धर्माधिकारियों द्वारा खड़ी की गई बाधाओं का उल्लेख करते हुए लोकमान्य ब ल गंगाधर तिलक ने लिखा—"ख्रिस्ती धर्ममत के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति ईसा पूर्व ४००० वर्ष में हुई थी। इसलिए ईसाई लेखकों की दृष्टि ४००० ईसापूर्व से परे जाने के लिए तैयार नहीं।" (ओरायन, आवृत्ति ४, १९५५, पृ० २३४)। इस विचार का जन्म सन् १६४२ में हुआ जब ग्रीक भाषा के प्राध्यापक फ़ादर जॉन लाईट फ़ुट ने अपने धर्मग्रन्थों के आधार पर घोषित किया कि सृष्टि का जन्म ईसा-पूर्व १७ सितम्बर ३९२८ के दिन सुबह ९ बजे हुआ था। इसपर बड़े विवाद शुरू हुए और १६५८ में उसपर रैवरैण्ड जॉन उश्शर ने आक्षेप किया। जब वे आयरलैण्ड के आर्चिबिशप बने तो १६६४ में उन्होंने घोषणा की कि "सृष्टि की उत्पत्ति २३ अक्तूबर ई॰ पू० ४००४ में सुबह ९ बजे हुई थी। जो कोई इसके विरुद्ध विचार करेगा उसे इन्क्विजिशन द्वारा दण्ड दिया जायेगा।"[2]

इन मतों का मुख्य आधार पाश्चात्य भाषाविज्ञान कहा जाता है। भाषा-विज्ञान के अतिरिक्त वेदकाल का एक और निश्चायक भी कहा जाता है। वह है ज्योतिष विज्ञान, क्योंकि वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जो ज्योतिष गणना के क्षेत्र में आते हैं। भाषाविज्ञान के आधार पर ही पाश्चात्य विद्वानों की यह मान्यता है कि ऋग्वेद का दशम मण्डल बहुत नया है।[3] इसलिए उसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। परन्तु जब आर्यों के बाहर से आकर भारत में बसने विषयक मत की स्थापना अभीष्ट होती है तब इसी मण्डल के नदीसूक्त (ऋ० १०।७५।५) को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसके विपरीत जब इसी मण्डल के 'हिरण्यगर्भ सूक्त' (१०।१२१) तथा नासदीय सूक्त (१०।१२९) के आधार पर यह बताया जाता है कि वेद में सृष्टिविज्ञान उपलब्ध है तो वे उसे बाद में प्रक्षिप्त कहने लगते हैं। एक ही साक्ष्य का अपनी सुविधा के अनुसार दोहरे

---

१. स्वामी दयानन्द ने अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में मन्वन्तरों, चतुर्युगियों आदि के आधार पर इसका विस्तृत ब्योरा प्रस्तुत किया है।

२. बम्बई से प्रकाशित 'साइंस टुडे' मासिक के सम्पादक के नाम आर० सी० फ़ैलोज उदयपुर का पत्र।

३. The tenth Mandal (Book) displays, both in meterical form and linguistic details, signs of more recent origin than the bulk of the collection.···Cambridge History of India, Chap. 4, P.76.

और परस्पर विरोधी प्रयोजनों के लिए प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

वेदों को सुरक्षित रखने—उनकी आनुपूर्वी, एक-एक शब्द और एक-एक अक्षर को अपने मूल रूप में बनाये रखने के लिए जो उपाय किये गये उन्हें आज-कल की गणित की भाषा में Permutation and combination कहा जा सकता है। वेदमन्त्र को स्मरण रखने और उसमें एक मात्रा का भी लोप या विपर्यास न होने पाये, इसके लिए उसे १३ प्रकार से याद किया जाता था। याद करने के इस उपाय को दो भागों में बाँटा जा सकता है–प्रकृति-पाठ और विकृति-पाठ। प्रकृति-पाठ का अर्थ है–मन्त्र को जैसा वह है वैसा ही याद करना। विकृति पाठ का अर्थ है–उसे तोड़-तोड़कर, पदों को आगे-पीछे दोहरा-दोहराकर, भिन्न-भिन्न प्रकार से याद करना। याद करने के इन उपायों के १३ प्रकार निश्चित किये गये थे–संहिता-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ, पुष्पमाला-पाठ, क्रममाला-पाठ, शिखा-पाठ, रेखा-पाठ, दण्ड-पाठ, रथ-पाठ, ध्वज-पाठ, घन-पाठ और त्रिपद घन-पाठ। पाठों के इन नियमों को 'विकृति वल्ली' नामक ग्रन्थ में विस्तार से दिया गया है। परिणामत: श्रोत्रिय ब्राह्मणों (जिन्हें मैक्समूलर ने जीवित पुस्तकालय नाम से अभिहित किया है) के मुख में वेद आज भी उसी रूप में सुरक्षित हैं जिस रूप में कभी आदि ऋषियों ने उनका उच्चारण किया होगा। विश्व के इस अद्भुत आश्चर्य को देख-कर एक पाश्चात्य विद्वान् ने आत्मविभोर होकर कहा था कि यदि वेद की सभी मुद्रित प्रतियाँ नष्ट हो जाएँ तो भी इन ब्राह्मणों के मुख से वेद को पुन: प्राप्त किया जा सकता है। मैक्समूलर ने 'India—What can it teach us' (पृष्ठ १९५) में लिखा है—"आज भी जबकि वेद की रचना को कम-से-कम पाँच हज़ार वर्ष (मैक्समूलर के अनुसार) हो गये हैं, भारत में ऐसे श्रोत्रिय मिल सकते हैं जिन्हें समूचा वैदिक साहित्य कण्ठस्थ है। स्वयं अपने ही निवास पर मुझे ऐसे छात्रों से मिलने का सौभाग्य मिला है जो न केवल समूचे वेद का मौखिक पाठ कर सकते थे, वरन् उनका पाठ सन्निहित सभी आरोहावरोहों से पूर्ण होता था। उन लोगों ने जब भी मेरे द्वारा सम्पादित संस्करणों को देखा और जहाँ कहीं भी उन्हें अशुद्धि मिली उन्होंने बिना किसी हिचकिचाहट के उन अशुद्धियों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। मुझे आश्चर्य होता है उनके इस आत्मविश्वास पर जिसके बल पर वे सहज ही उन अशुद्धियों को ध्यान में ला देते थे जो हमारे संस्करणों में जहाँ-तहाँ रह जाती थीं।" वेदों की रक्षा के लिए किये गये इन प्रयत्नों की सराहना करते हुए मैक्समूलर ने अपने ग्रन्थ 'Origin of Religion' के पृष्ठ १३१ पर लिखा है—"The text of the Vedas has been handed down to us with such accuracy that there is hardly a various reading in the proper sense of the word or even an uncertain aspect in the whole of the Rigveda." Regveda, Vol. I, Part XXV

में मैक्समूलर ने पुनः लिखा—"As far as we are able to judge, we can hardly speak of various readings in the Vedic hymns in the usual sense of the word. Various reading s to be gathered from a collection of manuscripts, now accesible to us, there are none."

वेदों की शुद्धरूप में सुरक्षा का इतना प्रबन्ध आरम्भ से ही कर लिया गया था कि उनमें प्रक्षेप करना सम्भव नहीं था। इन उपायों के उद्देश्य के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डा० भण्डारकर ने अपने 'Indian Antiquary' के सन् १८७४ के अंक में लिखा था—"The object of these different arrangements is simply the most accurate preservation of the sacred text of thc Vedas."

वेदों के पाठ को ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखने के लिए जो दूसरा उपाय किया गया था, वह यह था कि वेदों की छन्द-संख्या, पद-संख्या तथा मन्त्रानुक्रम से छन्द, ऋषि, देवता को बताने के लिए अनेक अनुक्रमणियाँ तैयार की गईं जो अब भी शौनकानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, कात्यायनीयानुक्रमणी, सर्वानुक्रमणी, ऋग्विधान, बृहद्देवता, मन्त्रार्षाध्याय, कात्यायनीय सर्वानुक्रमणी, प्रातिशाख्यसूत्रादि के नामों से पाई जाती हैं। इन अनुक्रमणियों पर विचार करते हुए प्रो० मैक्समूलर ने 'Ancient Sanskrit Literature' के पृष्ठ ११७ पर लिखा है कि "ऋग्वेद की अनुक्रमणी से हम उनके सूक्तों और पदों की पड़ताल करके निर्भीकता से कह सकते हैं कि अब भी ऋग्वेद के मन्त्रों, शब्दों और पदों की वही संख्या है जो कभी कात्यायन के समय में थी।"

इस विषय में प्रो० मेकडानल ने भी स्पष्ट लिखा है कि "आर्यों ने अति प्राचीनकाल से वैदिक पाठ की शुद्धता रखने और उसे परिवर्त्तन अथवा नाश से बचाने के लिए असाधारण सावधानता का उपयोग किया। इसका परिणाम यह हुआ कि इसे ऐसी शुद्धता के साथ रक्खा गया है जो साहित्य के इतिहास में अनुपम है।"[१]

वेदों का काल

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार वेदों का काल ईसा से १२०० से ३००० वर्ष पूर्व ठहरता है। इससे अधिक पीछे ले-जाना उनके लिए सम्भव नहीं, क्योंकि

---

१. Since that time nearly 3000 years ago it (the text of the Veda) has suffered no changes whatsoever, with a care such that the history of other literatures has nothing similar to compare it.—Kaegi's Rigveda, P. 22.

बाइबल के अनुसार उनके मन में यह संस्कार बैठा हुआ है कि वर्त्तमान सृष्टि को बने ६००० वर्ष से अधिक नहीं हुए। जब ६००० वर्ष पहले सृष्टि ही नहीं थी तो कोई ग्रन्थ उससे पहले का कैसे हो सकता है ? परन्तु वैज्ञानिक खोजों ने बाइबल की इस मान्यता को झुठला दिया है। जब से रेडियम का आविष्कार हुआ है तब से वैज्ञानिकों को इस बात का निश्चय हो गया है कि सृष्टि को बने करोड़ों (लगभग दो अरब) वर्ष हो गये हैं, क्योंकि इससे कम अवधि में कार्बन रेडियम में रूपान्तरित नहीं हो सकता।[1]

यूरोप के विद्वानों में जर्मनी के प्रो० मैक्समूलर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने सन् १८५९ में प्रकाशित अपने 'प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास' (History of Ancient Sanskrit Literature) में समूचे संस्कृत साहित्य को चार कालखण्डों में बाँटा। इनमें से अन्तिम को सूत्रकाल की संज्ञा देकर उसके लिए ईसापूर्व ६०० से २०० वर्ष का समय निर्धारित किया। और इसी तरह प्रत्येक चरण–ब्राह्मण, मन्त्र और छान्दस—के लिए २०० वर्ष की न्यूनतम काल-सीमा निर्धारित करते हुए सुझाया कि १००० ईसापूर्व तक सम्पूर्ण ऋग्वेद अपने वर्त्तमान रूप में आ गया। इस प्रकार वेदों का काल १२०० ईसापूर्व से पहले नहीं रक्खा जा सकता।[2]

जहाँ मैक्समूलर ने संस्कृत भाषा की क्रमयुक्त शैलियों में प्रत्येक को दो सौ वर्ष प्रदान कर वेदों का काल १२०० वर्ष ईसापूर्व निश्चित किया था, वहाँ डाक्टर हॉग ने प्रत्येक के ५०० वर्ष मानकर वेदकाल २४०० से २००० वर्ष ईसापूर्व तक ले-जाने का सुझाव दिया। आर्यन भाषा की कल्पना का प्रभाव लोगों के मस्तिष्क पर इतना हुआ कि लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और श्री अरविन्द तक के विचारों पर छा गया। कालान्तर में तिलक ने साहित्यिक पद्धति को छोड़कर ऋग्वेदान्तर्गत ज्योतिष्कीय सन्दर्भों के आधार पर यज्ञ से सम्बन्धित नक्षत्र, मास, ऋतु, सम्पात आदि का विवेचन करते हुए इससे और पीछे

---

१. (i) The world's highest mountain range could be 200 million years old—twice as old as previously thought—a group of scientists said in a statement issued here (Bonn) by the West German Research Group 'DFG' on Friday.–Hindustan Times, dated 18-10-87

(ii) Scientists (Prof. Nagi and Prof. Zumberge of the University of Arizona) have found traces of ancient life and matter dating back to 2300 million years. The discovery was made in rocks found in Transaval area of South Africa, 320 K. M. north of Johansberg. —Tribune, dated 13-7-75

२. History of Ancient Sanskrit Literature, 1859, P. 244.

की ओर ले-जाने का प्रयास किया। परन्तु वे उषा सूक्तों पर विचार करते हुए आर्यों का मूल उत्तरी ध्रुव में खोजने लगे। इसका कारण था उनके मन में आर्यों के बाहर से आगमन की बद्धमूल धारणा। न्यायमूर्ति काशीनाथ त्र्यम्बक तेलंग के अनुसार यूरोपीय संस्कृत विद्वान् अत्यन्त दुर्बल तथ्यों पर सिद्धान्त बनाकर उनपर अपनी काल्पनिक इमारतें खड़ी कर लेते हैं। इसके बाद वे अपनी कच्ची नींव को छिपाने की व्यवस्था करते हैं। —भगवद्गीता का अंग्रेज़ी समवृत्त भाषान्तर, प्रस्तावना, पृष्ठ ३३ व ३९

उस समय के संस्कृत के अधिकृत विद्वान् माने जानेवालों में से अधिकांश ने मैक्समूलर द्वारा किये गये काल-निर्धारण को सही नहीं माना और वे बराबर इस बात पर बल देते रहे कि ऋग्वेद का रचनाकाल कम-से-कम २००० ईसापूर्व तो होना ही चाहिए। स्वयं मैक्समूलर भी अपने काल-निर्धारण से सन्तुष्ट नहीं थे। कुछ काल के पश्चात् मैक्समूलर ने स्वीकार किया कि उनके द्वारा ब्राह्मण आदि के विकास और परिपक्वता के लिए जो कालावधि सुझाई गई थी, वह दूसरे राष्ट्रों के बौद्धिक इतिहास में इसी तरह के बौद्धिक विकास के लिए नियत औसत कालावधि से कम है। जब विल्सन, ह्विटनी आदि ने उनके काल-निर्धारण पर तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की तो विल्सन की आपत्तियों को ठीक ठहराते हुए मैक्समूलर ने स्वीकार किया कि "हम वेदकाल की कोई अन्तिम सीमा निर्धारित कर सकने की आशा नहीं कर सकते। वैदिक सूक्त ईसापूर्व १००० में बनाये गये, या १५०० में, या २००० में, या ३००० में, संसार की कोई शक्ति इसका निर्धारण नहीं कर सकती।"[1] इस तरह विल्सन, ह्विटनी, हिलेरी, गोल्डस्टकर, जैकोबी, बूह्लर, ब्लूमफ़ील्ड, विण्टरनिट्ज़ आदि की तरह मैक्समूलर भी इस बात से सहमत थे कि वैदिक साहित्य की भाषा और अन्तर्वस्तु को ध्यान में रखते हुए इसका रचना-काल २००० से पीछे ले-जाया जाना चाहिए। पर, अधिकतर विद्वान् पहले कही हुई बात को ब्रह्मवाक्य मानकर उसे पकड़कर बैठ गये। उनके इस आग्रह के पीछे दो अन्य आग्रह काम कर रहे थे। इनमें से एक था भारत में आर्यभाषाभाषियों का किसी भी रूप में आगमन और दूसरा भारत से बाहर इन्हीं लोगों की उपस्थिति के उपलब्ध प्रमाण। इन दोनों के मान लेने पर भारत में आर्यों का आगमन १५०० से पीछे नहीं ले जाया जा सकता था। इसलिए उन्हें २००० ईसापूर्व की बात अग्राह्य लगती थी। ऐसे लोगों ने मध्यम मार्ग निकालने की दृष्टि से सुझाव दिया कि हो सकता है कि ऋग्वेद की रचना का आरम्भ २००० ईसापूर्व में आर्यों के

१. We could not hope to be able to laydown any terminus a quo. Whether the Vedic hymns were composed in 1000 or 1500 or 2000 or 3000 years B. C., no power on earth could ever fix.

बाहर रहते हो गया हो और इसे पूर्ण भारत में आने के बाद किया गया हो। पर इसे अधिकतर उन विद्वान् अध्येताओं का समर्थन प्राप्त नहीं हो सका जो यह मानते थे कि समूचे ऋग्वेद की रचना भारत में हुई थी।

कुछ लोगों ने अवेस्ता और ऋग्वेद की भाषा को ऋग्वेद के रचना काल के निर्धारण के लिए आधार मानते हुए इसको १००० ईसापूर्व में नियत करना चाहा है। उनका तर्क इस प्रकार है—"शुद्ध भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से वर्त्तमान रूप में ऋग्वेद को १००० ईसापूर्व से पहले नहीं रक्खा जा सकता। ऋग्वेद की भाषा अवेस्ता की भाषा से उससे अधिक भिन्न नहीं है जितनी पुरानी अंग्रेज़ी उच्च जर्मन से। हाँ, जिस संस्कृति को ऋग्वेद में प्रस्तुत किया गया है, वह अवश्य इससे पहले की हो सकती है, पर उसे भी १५०० ईसापूर्व से पीछे नहीं ले-जाया जा सकता।"—दि वैदिक एज, १९६५, दि आर्यन प्राब्लम, पृ० २०७

परन्तु जिस 'शुद्ध और वैज्ञानिक दृष्टि' की बात बड़े विश्वास के साथ की जाती है, वह अपनी अन्तिम व्याख्या में मृगमरीचिका सिद्ध होती है। सचाई यह है कि ऋग्वेद और अवेस्ता का कोई गम्भीर अध्ययन भाषा की तुलना करते हुए किया ही नहीं गया है। ऐसा न करने का कारण भी यह रहा है कि प्राथमिक जाँच-पड़ताल से निकलने वाले निष्कर्ष तथाकथित विद्वानों द्वारा गढ़े गये आर्यों के आव्रजन या आक्रमण की मान्यता से मेल नहीं खाते। इसलिए वैदिक काल निर्धारण में अवेस्ता हमारी कोई सहायता नहीं करती।

पाश्चात्य विद्वान् वेद का जो काल मानते हैं, वह निम्न तालिका से प्रकट है—

१. मैक्समूलर	१२०० से १५०० वर्ष ईसापूर्व
२. मैकडानल	१२०० से २००० "
३. कीथ	१२०० "
४. बूह्लर	१५०० "
५. हॉग	२००० "
६. ह्विटनी	" "
७. विल्सन	" "
८. ग्रिफ़िथ	" "
९. थ्योडोर	" "
१०. विण्टरनिट्ज़	२५०० "
११. जैकोबी	३००० से ४००० "

भारतीय विद्वान् वेद के काल को पाश्चात्य विद्वानों की अपेक्षा अधिक पीछे ले-जाते हैं, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है—

१. शंकर बालकृष्ण दीक्षित	३००० ईसापूर्व
२. लोकमान्य तिलक	६००० से १०००० ईसापूर्व

३. सम्पूर्णानन्द १८००० से ३०००० ईसा पूर्व
४. अविनाशचन्द्र दास २५००० से ५०००० ''
५. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय '' '' ''

१९वीं शती के अन्त में जर्मनी में जैकोबी ने और भारत में तिलक ने स्वतन्त्र रूप से वैदिक साहित्य में उल्लिखित नक्षत्रों की स्थितियों के विश्लेषण से वेदों का काल निश्चय करने का प्रयास किया। दोनों के निष्कर्ष वैदिक रचना-काल को इतना पीछे खींच ले-गये कि इससे पाश्चात्य विद्वानों में हड़कम्प-सा आ गया। ये विद्वान् भिन्न मार्गों से इस परिणाम पर पहुँचे कि ब्राह्मणों के समय में कृत्तिका नक्षत्र, जो कि नक्षत्र गणना में उस समय आरम्भ बिन्दु था, मधुसम्पात के साथ घटित होता था। पर वैदिक ग्रन्थों में इससे भी पुराने पञ्चाङ्ग के संकेत मिलते हैं, जब मधुसम्पात मृगशिरा में होता था। पूर्व वर्णन का मान निकाल लेने पर पता चला कि कृत्तिका में मधुसम्पात २५०० ईसा पूर्व में होता था और मृगशिरा में ४५०० ईसा पूर्व में। पर जहाँ तिलक वैदिक कृतियों के लिए ६००० ईसा पूर्व की तिथि नियत करते हैं, वहाँ जैकोबी ४५०० ईसा पूर्व मानकर सन्तोष कर लेते हैं। उनके अनुसार सभ्यता का यह काल मोटे तौर पर ४५००-२५०० ईसापूर्व तक फैल जाता है और वह सम्प्रति उपलब्ध सूक्तों का रचना-काल इस अवधि के उत्तरार्द्ध में मानते हैं।[1]

मैक्समूलर और मैकडानल की तुलना में जैकोबी वेदों को और पीछे की ओर ले-जाते हैं। उनके मत में ऋग्वेद का काल ४००० वर्ष ईसापूर्व के बाद का नहीं है। उन्होंने ऋतुओं के आधार पर सिद्ध किया है कि वेद में ऐसे स्थल हैं जिनका निर्माण ४५०० ईसा पूर्व में ही हो सकता था। उदाहरणार्थ उन्होंने ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त की एक ऋचा का उल्लेख किया है—

देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्र मिनन्त्येते।
संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता घर्मा अश्नुवते विसर्गम्॥

—ऋ० ७।१०३।९

इस ऋचा में 'संवत्सरे प्रावृषि आगतायाम्'— संवत्सर की गणना में वर्षा ऋतु के आने पर—'जुगुपुः द्वादशस्य ऋतुम्'— संवत्सर के जो १२ महीने होते हैं, उनके क्रम में वर्षा ऋतु के प्रथम स्थान की लोग रक्षा करते हैं। जैकोबी के अनुसार इसका अभिप्राय यह हुआ कि ऋग्वेद के समय ऋतुओं की ऐसी स्थिति थी जिसमें वर्ष गणना में वर्षा ऋतु का प्रथम स्थान था। कई विद्वानों का कहना है कि वर्ष गणना में वर्षा ऋतु का प्रथम स्थान होने के कारण ही सन् को वर्ष कहा जाता है। जैकोबी के अनुसार ऋतुओं में वर्षा ऋतु का प्रथम स्थान ईसा पूर्व ४५०० में

१. Buhler, Notes on prof. Jacobi's Age of the Veda and on Tilak's Orien, 1984; Winternitz, 295-97.

ही सम्भव है। जैकोबी के इस कथन का खण्डन करते हुए मैकडानल लिखते हैं---
"इस बात में सन्देह है कि भारत के ऋषि-मुनि ज्योतिषशास्त्र के इतने ज्ञाता थे कि नक्षत्रों की स्थिति की इतनी गहराई तक पहुँच सकते जितनी गहराई तक जाकर ही जैकोबी के मत की पुष्टि हो सकती है। पर, इस विषय में मैकडानल की आलोचना सारहीन होने से असंगत है, क्योंकि आर्यभट्ट (५वीं शताब्दी) व भास्कराचार्य (७वीं शताब्दी) आदि के ग्रन्थों से सिद्ध होता है कि ज्योतिषशास्त्र के विषय में यहाँ के ज्योतिषविद्या में निष्णात विद्वानों का ज्ञान अगाध था। बृहदारण्यकोपनिषद् (७।१) में नारद ने सनत्कुमार को तब तक प्राप्त अपनी विद्या का जो परिचय दिया था, उसमें उसने उन सभी विद्याओं का परिगणन किया था जो उस काल में सर्वसाधारण को पढ़ाई जाती थीं। उसके साथ ही नारद ने कहा था कि उसने चारों वेदों के साथ नक्षत्रविद्या का भी अध्ययन किया है।

लोकमान्य तिलक ने वेद में निर्दिष्ट नक्षत्रों की विशेष स्थिति के आधार पर वेद के काल का निश्चय किया है। उनके अनुसार आर्य सभ्यता का पहला युग पूर्व मृगशीर्ष का अदितियुग है। इसका काल उन्होंने ६००० से ४००० ईसा पूर्व निर्धारित किया है। तिलक के मत में अदिति युग में परिष्कृत वैदिक सूक्त नहीं थे। दूसरा युग मृगशीर्ष युग है। यह लगभग ४००० से २५०० ईसा पूर्व तक था। वेद के अनेक सूक्त इस युग में गाये गये थे। तीसरा युग कृत्तिका युग था। इसका आरम्भ २५०० ईसापूर्व में हुआ और यह १५०० ईसापूर्व तक रहा। (ओरायन, पृष्ठ २०६-२०७)। लोकमान्य तिलक ने ऋग्वेद का काल ईसवी सन् से लगभग ७००० वर्ष पूर्व माना है। उनकी अन्य युक्तियों के अतिरिक्त एक युक्ति का आधार गीता का निम्न श्लोक है---

मासानां मार्गशीर्षोऽहं ऋतूनां कुसुमाकरः।—गीता १०।२५

अर्थात्—महीनों में मैं मार्गशीर्ष हूँ और ऋतुओं में वसन्त हूँ। उनका कहना है कि वसन्त को ऋतुराज कहना तो समझ में आता है, किन्तु 'मासों में मैं मार्गशीर्ष हूँ' इस कथन का सामंजस्य कैसे किया जाये? गीता में ही नहीं, अन्यत्र महाभारत (अनु० १०६, १०९), वाल्मीकि रामायण (१३।१६) तथा भागवत (११।१६-२७) में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है। तिलक ने अपने ग्रन्थ 'ओरायन' में लिखा है कि गीता में ही नहीं, ऋग्वेद में भी ऐसे स्थल पाये जाते हैं जिनसे उस काल में मृगशिरा नक्षत्र के विशेष महत्त्व का पता चलता है। उस महत्त्व का कारण यह था कि वसन्त-सम्पात (Vernal Equinox) तथा शिशिर-सम्पात (Winter Equinox) उस समय मृगशिरा नक्षत्र में होते थे।

वसन्त-सम्पात तथा शिशिर-सम्पात वह समय है जब दिन-रात बराबर होते हैं। ऐसा वर्ष में दो बार होता है। गर्मियों में ऐसा दिन २१ मार्च और सर्दियों में २३ सितम्बर को आता है। २१ मार्च के बाद दिन बढ़ने लगते हैं और रातें छोटी

होने लगती हैं—इसे वसन्त-सम्पात कहते हैं। २३ सितम्बर से दिन घटने लगते हैं और रातें बढ़ने लगती हैं—इसे शिशिर-सम्पात कहते हैं। इन सम्पातों का सम्बन्ध नक्षत्रों से है। ज्योतिष शास्त्र में २७ नक्षत्र माने जाते हैं। वे हैं—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वा, उत्तरा, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूला, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, श्रवणा, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्र, उत्तरभाद्र तथा रेवती। ईसवी सन् के काल में वसन्त-सम्पात और शिशिर-सम्पात उत्तराभाद्रपद में होते आ रहे हैं, जबकि वेद के काल में ये सम्पात मृगशिरा नक्षत्र (Orion) में होते थे। तिलक के अनुसार मृगशिरा नक्षत्र को महत्त्व दिये जाने का यही कारण है। उत्तराभाद्रपद नक्षत्र से उल्टी ओर चलें तो मृगशिरा नक्षत्र इससे ६ नक्षत्र पहले पड़ता है। वसन्त-सम्पात को एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र में जाने में ९६० या १००० वर्ष लगते हैं। इससे स्पष्ट है कि जब पृथिवी या सूर्य मृगशिरा नक्षत्र में थे, वह समय ईसवी सन् से ६००० (९६० × ६) वर्ष पूर्व का था। ईसवी सन् में वसन्त तथा शिशिर सम्पात उत्तराभाद्रपद में रहे हैं। इसीलिए ऋग्वेद का समय ईसा से लगभग ६००० वर्ष पूर्व का है।

वेद की अन्तःसाक्षी से किसी इतिहास सम्बन्धी बात का निश्चय नहीं हो सकता। इसलिए वेद के सन्दर्भों को देखकर एक-दो शब्दों के आधार पर किया गया कोई निर्णय तर्कसम्मत नहीं हो सकता। लोकमान्य तिलक ने वेद में निर्दिष्ट नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर वेद के काल का निश्चय किया है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ओरायन' (Orion) में लिखा है—ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ८६वें सूक्त में वसन्त-सम्पात के मृगशीर्ष नक्षत्र में होने का वर्णन है। मृगशीर्ष नक्षत्र वर्त्तमान उत्तरभाद्रपदा से ६ नक्षत्र पहले है। वसन्त-सम्पात को एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र में जाने में ९६० वर्ष लगते हैं। इस हिसाब से वेद का रचना-काल ९६० × ६ = ५७६० अर्थात् आज से लगभग ८००० वर्ष पूर्व रहा होगा। आपाततः यह तर्क ठीक जान पड़ता है। परन्तु थोड़ी-सी गहराई में जाने पर इसका थोथापन स्पष्ट हो जाता है। नक्षत्रों की कुल संख्या २७ है। इस प्रकार हर २५९२० (९६० × २७) वर्षों के बाद वसन्त-सम्पात क्रान्तिवृत्त पर घूमकर फिर अपने पहले स्थान पर आ जाता है। यदि ईसा से लगभग ६००० वर्ष पूर्व वसन्त-सम्पात मृगशीर्ष नक्षत्र में था तो उससे लगभग २६००० वर्ष पूर्व अर्थात् आज से लगभग ३२००० वर्ष पूर्व भी उसी नक्षत्र में था। उससे भी पहले हर २६००० वर्ष पूर्व वसन्त-सम्पात मृगशीर्ष नक्षत्र में आता रहा। सृष्टि के लगभग दो अरब वर्ष के स्थितिकाल में कितनी ही बार यह स्थिति आई। सोमवार हर सात दिन के बाद फिर से आ जाता है। तब मात्र सोमवार कहने से आज से एक सप्ताह पूर्व का ही सोमवार क्यों समझा जाये? एक महीना, एक वर्ष या सौ वर्ष पहले का सोमवार भी क्यों न समझा

जाये ? वेद में वर्णित यह नक्षत्र स्थिति आज से ६००० वर्ष पहले की ही है, उससे पहले की नहीं—इसके लिए कोई भी निश्चायक हेतु नहीं है। आज से लगभग २० हज़ार (२६०००-६०००) वर्ष बाद वसन्त-सम्पात फिर मृगशीर्ष नक्षत्र में होगा। तब, उससे ५०० वर्ष बाद पैदा होनेवाला विद्वान् इस तर्क के आधार पर वेद को अपने से केवल ५०० वर्ष पूर्व का ही सिद्ध करेगा। इतिवृत्तात्मक रूप में वेद में किसी भी प्रकार के ऐतिहासिक या भौगोलिक संकेत न होने से इस प्रकार के सभी मत केवल कल्पना पर आधारित हैं।

वस्तुत: वेदों में ज्योतिष सम्बन्धी ऐसी किसी घटना का वर्णन नहीं है जिससे वेदों का समय निर्धारित करने में सहायता मिल सके। सभी जानते हैं कि विवाह के समय वधू को ध्रुव तारे का अवलोकन कराया जाता है। इसका विधान सूत्र-ग्रन्थों में मिलता है, किन्तु वेदों में इसका संकेत नही है। यदि वेदों में काल सूचित करानेवाले ज्योतिष सम्बन्धी वर्णन होते तो उनमें वधू को ध्रुव तारे के अवलोकन का विधान होता। यदि वेदों में ध्रुव तारे के अवलोकन का वर्णन होता तो वह ज्योतिष की गणना के द्वारा वेदों का काल निश्चित करने में सहायक हो सकता था। ध्रुव तारा सदा से इस स्थान पर नहीं है। सन् ईसवी से २८२७० वर्ष पूर्व इसके स्थान पर कोई दूसरा ही तारा रहा होगा। परन्तु वेदों में उसका वर्णन भी नहीं है।[1] इस प्रकार वेदों का समय न इतिहास की प्रतीति करानेवाले शब्दों से निकाला जा सकता है और न ज्योतिष सम्बन्धी किसी घटना विशेष से।

परन्तु तिलक ने ओरायन के पश्चात् लिखे अपने ग्रन्थ में Arctic Home in Vedas' में वेदकाल को दस हजार वर्ष पूर्व बताकर स्वयं ही अपनी बातों का खण्डन कर दिया। वेदों में उपलब्ध भूगर्भ सम्बन्धी संकेतों के आधार पर अविनाश-

---

१. In the Hindu marriage ceremony according to the Grihya Sutras the Polar star is pointed to the bride as an ideal of steadiness and faithfulness. The custom is observed all over India. The present polar star on the northeren hemisphere is Alpha of the little Bear. But already 2000 years ago this star was so distant from the celestial pole that in the Vedic antiquity could not possibly be cossidered as the polar star. Its place was at that time, accurately in 28270 B. C. occupied by Alpha Dacovis, this being the only star bright enough to serve the purpose of the Polar star. Since in the Rigveda hymns themselves this custom of pointing out the Polar star is not yet mentioned.—Hymns from Rigveda, Appendix, by R. Zinimerman.

चन्द्र दास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ऋग्वैदिक इण्डिया' (Rigvedic India) में ऋग्वेद का काल ईसवी सन् से २५००० से ५०००० वर्ष पूर्व का सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनके निष्कर्ष का आधार ऋग्वेद का यह मन्त्र है—

वातस्याश्वो वायोः सखायो देवेषितो मुनिः।
उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥

—ऋ० १०।१३६।५

अर्थात्—देवताओं से प्रेरणा पाकर वायु का पुत्र मुनि, वायु का घोड़ा बनाकर, पूर्व तथा पश्चिम दोनों समुद्रों को पहुँच गया।

अविनाशचन्द्र का कहना है कि इस मन्त्र में भूगर्भ शास्त्र के अनुसार ईसवी सन् से ५०००० वर्ष पूर्व की भौगोलिक स्थिति का वर्णन है। मन्त्र में उल्लिखित पूर्व तथा पश्चिम के दो समुद्र कौन से हैं, इस बात को स्पष्ट करते हुए दास बाबू कहते हैं कि जब वैदिक आर्य सप्तसिन्धु प्रदेश में रहते थे तो उसके पूर्व तथा पश्चिम दोनों ओर समुद्र था। पश्चिम में तो अब भी है। पर पूर्व में ५० हजार वर्ष पूर्व तक था। इसी को ऋग्वेद में अपर समुद्र कहा है। इस आधार पर ऋग्वेद का काल ५० हजार वर्ष ईसा पूर्व तक पहुँच जाता है।

पावगी महोदय ने अपनी Vedic Fathers of Geology में भूगर्भ शास्त्र के प्रमाणों के आधार पर वेदों का काल कम-से-कम २४००० वर्ष पूर्व सिद्ध किया है। पं० दीनानाथ चुलैट ने ज्योतिष के आधार पर लिखा है कि वेदों का रचनाकाल तीन लाख वर्ष से कम नहीं हो सकता। डा० ज्वालाप्रसाद की साक्षी के अनुसार भूगर्भ शास्त्र की साक्षी के आधार पर वैदिक संस्कृति कम-से-कम ५ लाख वर्ष पहले विद्यमान थी। डा० ज्वालाप्रसाद का कहना है कि यह अविश्वसनीय भले ही प्रतीत होता है, पर इससे बचा नहीं जा सकता।[1]

इस प्रकार वेदकाल के निर्धारण के विषय में जितना बारीकी से विचार किया जाता है, उतना ही वह पीछे की ओर सरकता जाता है। पहले सृष्टि की आयु मात्र ६००० वर्ष मानी जाती थी, परन्तु अब वह भारतीय मान्यता के अनुसार, वैज्ञानिक आधार पर, लगभग दो अरब वर्ष मानी जाने लगी है। इसी प्रकार हो सकता है कि आनेवाले विद्वान् **वेदोत्पत्ति का काल भी भारतीय परम्परा के अनुसार** सृष्टि का आरम्भ काल मानने लगें। यह काल १,९७,२९,४९,०८८ (एक अरब सत्तानवें करोड़ उनतीस लाख उनंचास हजार अठासी) है। यह सृष्टि या वेद संवत् उसी प्रकार प्राप्त हुआ है जिस प्रकार वर्तमान ईसवी, विक्रम या शक संवत्। जब से ईसवी सन् आरम्भ हुआ तब से आज तक उसमें एक-एक वर्ष जोड़ते-जोड़ते

१. This is staggering. But what is the escape ?—See Rigvedic Geology and the land of Sapta Sindhu, Vol. II, Part II, PP. 205-214, October 1937.

आज १९८८ हो गया है। आर्यलोग सृष्टि के आदिकाल से रोज़नामचे की भाँति इसमें रोज़ एक दिन बढ़ाते चले आये हैं और घण्टे, दिन, सप्ताह, मास, वर्ष से लेकर युगों, चतुर्युगियों तथा मन्वन्तरों में काल को विभक्त कर हिसाब करते आये हैं। अत: युगों की गणना के द्वारा निर्धारित सृष्टि संवत् ऐतिहासिक होने के कारण प्रामाणिक एवं विश्वसनीय है और मनुष्य की जन्मतिथि निर्धारित करने का एकमात्र विश्वसनीय साधन है। हमें वैज्ञानिक उपकरणों तथा परीक्षणों द्वारा उसका निश्चय करने की आवश्यकता नहीं है। जिसकी जन्मपत्री या स्कूल का प्रमाणित सर्टिफ़िकेट नहीं होता या जिसका नाम-पता नगरपालिका के रिकार्ड (जन्म-मृत्यु पंजिका) में नहीं मिलता, उसी की आयु का निश्चय करने के लिए आयुर्वैज्ञानिक परीक्षण की आवश्यकता होती है। स्वामी दयानन्द ने ठीक लिखा है कि आर्यलोगों ने सृष्टि के गणित का इतिहास कण्ठस्थ कर रखा है। उसी के अनुसार जो वार्षिक पञ्चाङ्ग बनते हैं, उनमें भी मिती से मिती बराबर लिखी चली आती हैं। आर्यों के नित्य प्रति होते रहनेवाले धार्मिक कृत्यों के आरम्भ में बोला जानेवाला संकल्प 'ओं तत्सत्' आदि इसमें प्रमाण है। ●

वेद में इतिहास

वेद और उसकी भाषा के आधार पर तथाकथित प्रागैतिहासिक काल के सम्बन्ध में किसी प्रकार का निर्णय करना सम्भव नहीं है। वस्तुतः वेदों में किसी ऐतिहासिक या भौगोलिक सामग्री के संकेत उपलब्ध नहीं हैं। वर्त्तमान भाषा-विज्ञान भी उसमें सहायक सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उसके आधे-अधूरे नियम स्वयं एक-दूसरे को काटते हैं। फिर, यदि इस निमित्त वेदों का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है तो वेदों में कथित और विद्यमान इस तथ्य को भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि वेद मानव द्वारा प्राप्त आदिम ज्ञान है और इसलिए उसमें उससे पूर्व किसी भाषा, देश, जाति, सम्प्रदाय आदि के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। न उससे किसी घटना की जानकारी मिल सकती है और न इतिहास के किसी क्रम का ही पता चल सकता है। नित्य एवं शाश्वत ज्ञान का स्रोत होने के कारण वेदों में सृष्टिविज्ञान अथवा सृष्टिक्रम का उल्लेख अवश्य मिलता है। जैसे—ऋग्वेद (१०।९७।१) में लिखा है—

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।

अर्थात् ओषधि, वनस्पति मनुष्य से तीन चतुर्युगी पूर्व उत्पन्न हुईं, क्योंकि भोक्ता से पूर्व भोग्य पदार्थों का होना आवश्यक है, परन्तु वहाँ तत्सम्बन्धी किसी घटना विशेष का वर्णन नहीं है। घटनाक्रम देखना हो तो वह वेदों के व्याख्या-ग्रन्थों—ब्राह्मणों और उनकी शाखाओं में अवश्य मिल सकता है।

ब्राह्मणग्रन्थों में वैदिक शब्दों के तरह-तरह के निर्वचन प्रस्तुत किये गये हैं। अश्विनौ, अक्षर, अग्नि, अंगिराः, इन्द्र इत्यादि के उदाहरण विविध प्रसंगों में द्रष्टव्य है। प्रायः सभी भाष्यकार वैदिक शब्दों को यौगिक मानते हैं। **'अस्यवामीय'** सूक्त (ऋक्० १।१६४) की व्याख्या में स्वामी आत्मानन्द ने, प्रायः सभी मन्त्रों का अर्थ करते हुए, शब्दों की विविध व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। उन्होंने 'पृथिवी' का अर्थ माया, 'सोम' का अर्थ जगदीश्वर, 'वृषन्' का अर्थ जीवात्मा, 'अश्व' का अर्थ मन और 'ब्रह्मा' का अर्थ गुरु इत्यादि किया है। स्वयं आचार्य सायण ने 'अश्व' का अर्थ व्यापनशील, 'आदित्य' का परमेश्वर, 'भ्राता' का परोपकारक, 'वसिष्ठ'

का सबको बसानेवाला, 'बृहस्पति' का परमेश्वर और 'अङ्गिरस्तमा' का गन्तृतमा किया है। ऋग्वेद १।१३९।९ की व्याख्या में सायण ने 'अङ्गिरा' का अर्थ अङ्गार के समान तेजस्वी किया है। इसी प्रकार 'प्रियमेध' का अर्थ मेधाप्रिय, 'कण्व' का अर्थ मेधावी, 'अत्रि' का अर्थ तीन प्रकार के दुःखों से रहित तथा 'मनु' का अर्थ मननशील किया है। इस प्रकार वैदिक शब्दों के सम्बन्ध में यौगिकता का सिद्धान्त मानते हुए वेदों में अनित्य इतिहास की कल्पना धराशायी हो जाती है। जब वेदों में वैयक्तिक नामों का प्रयोग ही नहीं है तो फिर उन नामों से सम्बद्ध इतिहास की कल्पना कैसे की जा सकती है ?

परन्तु अपनी ऐतिहासिक धारणा की सर्वथा उपेक्षा न कर पाने के कारण सायणसहित कतिपय भाष्यकारों ने यत्र-तत्र इन नामों से अभिहित व्यक्तियों के नामों का विकल्प से निर्देश करते हुए अनित्य आख्यायिकाओं, ऐतिहासिक उपाख्यानों तथा मानवीय सम्बन्धों की कल्पना करके वेदार्थ को उसी पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया है।

सर्वप्रथम सायण ने अपने वेदमन्त्रों में व्यक्तिविशेषों के होने की कल्पना की। उसने पौराणिक आख्यानों को वेदमन्त्रों पर आरोपित कर वेदमन्त्रों का इतिहासपरक अर्थ किया। सायण द्वारा प्रस्तुत किये गये पक्ष के अनुयायी पाश्चात्य विद्वानों ने पूरी शक्ति लगाकर उसकी पुष्टि की। उनकी नक़ल करने में अपने को गौरवान्वित अनुभव करनेवाले भारतीय विद्वान् भी सायण द्वारा प्रवर्तित और पाश्चात्यों द्वारा समर्थित कल्पित इतिहासवाद की भ्रान्त धारणा को प्रसारित करने में सहायक सिद्ध हुए। वैसे तो पाश्चात्य विद्वानों में प्रायः सभी किसी-न-किसी रूप में इतिहासवाद के पोषक थे, परन्तु ओल्डनबर्ग, गिल्डर, ग्रासमैन, हापकिंस, ब्लूमफ़ील्ड, मैकडानल और कीथ आदि ने इस दिशा में विशेष प्रयास किया। लुडविग ने अपने ऋग्वेद के और ब्लूमफ़ील्ड ने अथर्ववेद के भाष्यान्तर में इसे और आगे बढ़ाया। मैकडानल का वैदिक कोश (Vedic Index) वेद में इतिहासवाद को पुष्ट करनेवाला सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। इसमें वेदों में आनेवाले सभी नामों का संग्रह कर दिया गया है। साथ ही प्रत्येक व्यक्तिवाची नाम—जिसे ग्रन्थकार ने ऐसा समझा—पर टिप्पणी और प्रमाण देकर पुस्तक को प्रामाणिक रूप देने की चेष्टा की है। इस ग्रन्थ को बनाकर ग्रन्थकार ने इतिहासवाद की जड़ को बहुत मज़बूत किया है। इस ग्रन्थ की सारी सामग्री प्रस्तुत करने का उद्योग कीथ का है, पर ग्रन्थकार मैकडानल को ही माना जाता है। तथापि अधिकांश लोग Vedic Index का नाम लेते ही उसके लेखक के रूप में कीथ का ही ग्रहण करते हैं।

वस्तुतः वेदमन्त्रों में जिस शब्दावली का प्रयोग हुआ है वह आज की सामान्य अथवा सीमित अर्थोंवाली भाषा न होकर, प्रतीकों, विशेषणों तथा प्रकृति-प्रत्यय

के संयोग से निष्पन्न अनेकार्थक यौगिक शब्दोंवाली भाषा है। इसी कारण इन वेदमन्त्रों से अनेक प्रकार के अर्थ अथवा तात्पर्य अभिव्यक्त होते हैं। उदाहरणार्थ– वेदों में प्रयुक्त 'गो' शब्द आध्यात्मिक प्रकाश, सामान्य प्रकाश, इन्द्रियाँ, पृथिवी आदि अनेकानेक अर्थों का द्योतन करता है। यहाँ का 'अश्व' शब्द पशुविशेष के अतिरिक्त इन्द्रिय, आत्मबल अथवा दिव्य शक्ति इत्यादि अर्थों को भी बताता है। 'उषस्' शब्द दिव्य सूर्योदय अथवा आध्यात्मिक प्रभात और भौतिक सूर्योदय दोनों का बोधक है। इसी प्रकार 'सविता' पद देवों में सर्वोत्तम देव (परब्रह्म) तथा भौतिक सूर्य दोनों का वाचक है, क्योंकि ये दोनों ही सम्पूर्ण प्राणियों तथा पदार्थों को सतत प्रेरणा देते हैं। भौतिक सूर्य को भी आध्यात्मिक सूर्य से प्रेरणा मिलती है। इसलिए परम अर्थ उसी को मानना पड़ेगा।[1] डाक्टर ए० के० कुमारस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'A New Approach to the Vedas' में इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि जब ये पाश्चात्य विद्वान् दान्ते (Dante) की 'Divine Comedy' जैसे वाक्यों में ही नहीं, अपितु स्वयं बाइबल में भी अनेक प्रतीकों की परम्परा देखते हैं, तो फिर उन्हें वैदिक प्रतीकों को स्वीकार करने में क्यों कठिनाई अनुभव होती है ?[2]

वेद में इतिहास माननेवालों के अनुसार वेद व्यक्तिवाचक संज्ञाओं तथा उनसे सम्बन्धित कथानकों से भरे पड़े हैं। इन आख्यानों या कथानकों के अनेक भेद होने पर भी इन्हें चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग में ऐसे कथानक हैं जो वेदमन्त्रों में पढ़े गये भिन्न-भिन्न सामान्य संज्ञापदों को व्यक्ति अथवा स्थान विशेष का वाचक मानकर बनाये गये हैं। दूसरे वर्ग में ऐसे कथानक आते हैं जो मन्त्रद्रष्टा कहे जानेवाले ऋषियों के नाम पर अथवा उनके चरित के वर्णन में लिखे गये हैं। तीसरे वर्ग में उन कथानकों को रक्खा जा सकता है जो वैदिक देवताओं के नाम पर रचे गये हैं। चौथे वर्ग में व्यक्ति विशेषों के बीच हुए संवाद आते हैं। इन कथानकों में से बहुतों का वर्णन तो निरुक्त में संकेतमात्र, किन्तु बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणियों और उनकी टीकाओं में विस्तारपूर्वक किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः इन सबका मूल पाया जाता है–जो कहीं-कहीं अलंकार शैली में है तो कहीं-कहीं स्पष्ट रूप से मिलता है। महाभारत, भागवत, हरिवंश, मत्स्य, विष्णु तथा वायुपुराण आदि में ये कहानियाँ अधिक विस्तार से कही गई हैं, परन्तु पौराणिक आख्यानों तथा वंशावलियों का वर्णन विभिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न ही नहीं, कहीं-कहीं परस्पर विरोधी भी है। वेदों के नाम पर कल्पित इतिहास के सन्दर्भ में एक लोककथा के निहितार्थ पर विचार करना उपयोगी होगा। कथा इस प्रकार है—

एक बुढ़िया थी। उसके दो बेटे थे। एक माँ का आज्ञाकारी था और उसकी

१. द्रष्टव्य – श्री अरविन्द : वेदरहस्य, १९८१, पूर्वार्द्ध, पृ० ८३-८६
२. सविता, दयानन्द स्वप्नाङ्क, वर्ष ४, अंक ३, अक्तूबर १९८३, पृ० ४१

सेवा करता था। दूसरा उद्दण्ड था और माँ को सदा तंग करता रहता था। माँ ने आज्ञाकारी बेटे के व्यवहार और सेवा से प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद दिया कि तू सदा ठण्डे-ठण्डे आयेगा और ठण्डे-ठण्डे जायेगा। दूसरे बेटे के व्यवहार से दुखी होकर उसे शाप दिया कि तू सदा जलता-जलता आयेगा और जलता-जलता जायेगा। माँ के आशीर्वाद से पहला बेटा चन्द्रमा बन गया और दूसरा शाप के कारण सूर्य बन गया। आज भी वह बुढ़िया अपने आज्ञाकारी बेटे के साथ रहकर चरखा कातती हुई चन्द्रमा में देखी जा सकती है।

कहानी पढ़-सुनकर ऐसा लगता है कि उस बुढ़िया के बेटों से ही सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई। उससे पहले संसार में न सूर्य था और न चन्द्रमा। पर वह बुढ़िया और उसके बेटे अवश्य थे। कौन तैयार होगा इस बात को वास्तविक ऐतिहासिक घटना मानने अथवा सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति की वैज्ञानिक प्रक्रिया मानने के लिए। सब यही कहेंगे कि यह तो पंचतन्त्र और हितोपदेश की कहानियों की तरह बच्चों को शिक्षा देने के लिए बनाई गई कहानी है। वेद के व्याख्या-ग्रन्थों तथा उनसे सम्बन्धित अथवा उनपर आधारित वैदिक वाङ्मय में कहे गये आख्यानों का यही वास्तविक स्वरूप है।

शास्त्रावताररूप इतिहास का प्रतिपादन यास्काचार्य ने निरुक्त में इस प्रकार किया है—

> **साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं वेदाङ्गानि च।**—निरुक्त १।२०

अर्थात्—सृष्टि के आरम्भ में साक्षात्कृतधर्मा (मन्त्रार्थ का साक्षात् दर्शन करने-वाले) ऋषि हुए थे। उन्होंने असाक्षात्कृतधर्मा मनुष्यों के लिए उपदेश से मन्त्रों के अर्थ जताये। तदनन्तर उपदेशमात्र से वेद को समझने में असमर्थ मनुष्यों के लिए निघण्टु, निरुक्त तथा अन्य वेदाङ्गों की रचना हुई। इस सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य ने कहा है—

> **दुर्बोधं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते।**
> **तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम्॥**
>
> बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति १२।१

अर्थात्—जिनके लिए ज्ञान दुर्बोध्य हुआ, जो वेदों का अध्ययन न कर पाये, उनके लिए सब वेदों से ज्ञान लेकर ऋषियों ने शास्त्र बनाये।

कालान्तर में जब रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि के कारण मनुष्यों की बुद्धि मन्द पड़ने लगी तो ऋषियों ने मन्त्रगत गूढ़ तत्त्वों को समझाने के लिए मन्त्रगत पदों के आश्रय से तद्विषयक आख्यानों की रचना की। जैसे जनता को समझाने के लिये व्याख्यानों तथा कल्पित रोचक कथाओं द्वारा किसी गम्भीर बात को विस्पष्ट

किया जाता है, वैसे ही वेद के गूढ़ अभिप्राय को हृदयङ्गम कराने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा पुराणों में वेदार्थानुकूल रोचक कथाओं की कल्पना करना आवश्यक समझा गया। यास्क ने मन्त्रार्थ से पूर्व **'अत्रेतिहासमाचक्षते'** कहकर काल्पनिक इतिहास या आख्यायिका लिखने का प्रयोजन इस प्रकार स्पष्ट किया है—

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता।—निरुक्त १०।१०

अर्थात्—मन्त्रार्थद्रष्टा कवि की स्वदृष्ट अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उसे कथा से संयुक्त करने में प्रीति होती है। वेद के सन्दर्भ में 'इतिहास' का लक्षण बताते हुए दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्त टीका (१०।२६) में लिखा है—

यः कश्चिदाध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वाऽर्थं आख्यायते दिष्ट्युतार्थाविभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते।

अर्थात्—जो कोई भी आध्यात्मिक, आधिदैविक अथवा आधिभौतिक अर्थ भाग्य से बुद्धि से उत्पन्न हुआ उसे प्रकट करने के लिए जो कथन होता है वह इतिहास कहाता है। स्पष्ट है कि यहाँ प्रयुक्त 'इतिहास' पद किसी वास्तविक घटना अथवा प्रचलित अर्थों में इतिहास का वाचक नहीं है। सायण से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व स्कन्दस्वामी ने अपनी निरुक्त टीका (भाग २, पृ० ७८) में लिखा—

एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थे नित्यपक्ष इति सिद्धम्।

अर्थात्—इसी प्रकार जिन-जिन मन्त्रों में आख्यान का वर्णन किया गया है, उन सब मन्त्रों की नित्य पदार्थों में योजना कर लेनी चाहिए। यह निरुक्त शास्त्र का सिद्धान्त है। मन्त्रों में आख्यान का सिद्धान्त औपचारिक अथवा गौण है। वास्तव में तो नित्य पक्ष ही मन्त्रों का विषय है। इसी सिद्धान्त के अनुसार स्कन्दस्वामी ने देवापि और शन्तनु को विद्युत् और जल का वाचक बताकर तत्सम्बन्धी सूक्त की संगति लगाकर दिखाई।

स्वयं यास्क ने सरण्यू विषयक मन्त्र की व्याख्या करते हुए **'तत्रेतिहासमाचक्षते'** कहकर एक आख्यान लिखा (निरुक्त १२।१०)। परन्तु अगले ही खण्ड में उस आख्यान सम्बन्धी ऋचा की व्याख्या करके अन्त में स्पष्ट कर दिया कि सरण्यू विषयक उल्लेख किन्हीं व्यक्तिविशेष का इतिहास न होकर रात्रि और सूर्यादिक पदार्थों का आलंकारिक वर्णन है। प्राकृत जगत् के कारण और कर्मरूप तत्त्वों का औपचारिक अथवा आलंकारिक वर्णन देखकर किसी को वहाँ वास्तविक इतिहास का भ्रम न हो जाये, इसलिए मीमांसा भाष्यकार शबरस्वामी ने लिख दिया—**'इतिहासवचनमिदं प्रतिभाति'**—अर्थात् यह इतिहास जैसा प्रतीत होता है, पर है नहीं। इतिहास हो नहीं, किन्तु इतिहास जैसा लगे—ऐसा किया ही क्यों जाता

है ? शबरस्वामी समाधान करते हैं—

असद् वृत्तान्तान्वाख्यानं स्तुत्यर्थेन प्रशंसायां गम्यमानत्वात् ।—१।२।१०

वृत्तान्तान्वाख्यानं न वृत्तान्तज्ञापनाय । किं तर्हि ? प्ररोचनार्थैव ।—१।२।३०

अर्थात्—जो हुआ नहीं, कल्पित है, उसका अन्वाख्यान स्तुति द्वारा प्रशंसा के अभिप्राय से होता है। घटनाओं का उल्लेख घटनाओं का ज्ञान कराने के लिए नहीं, बात को रोचक बनाने के लिए किया जाता है।

स्कन्द से भी पूर्ववर्ती माने जानेवाले आचार्य वररुचि ने अपने '**निरुक्त-समुच्चय**' में कहा है—'**औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्**' (पृष्ठ ७१)—मन्त्रों में आख्यान औपचारिक हैं, क्योंकि वैसा न मानने पर वेद के नित्यत्व का विरोध हो जायेगा।

आख्यानों के इस स्वरूप को भूलकर कालान्तर में उन्होंने कुछ और ही रूप धारण कर लिया। पहले वेदमन्त्रों के अन्तर्गत सामान्य संज्ञापदों की व्यक्तिगत संज्ञा के रूप में कल्पना करके व्याख्या-ग्रन्थों में भूमिका की कल्पना की गई। फिर उस कल्पित भूमिका के आधार पर वेद से भिन्न कुछ नामों को जोड़कर छोटे-छोटे कथानक बने और कालान्तर में उन्हीं कथानकों को वास्तविक घटना या आख्यान का नाम दे दिया गया। इस प्रकार रोचकता उत्पन्न करने के लिए की गई कल्पना को वास्तविक मान लिया गया। कालान्तर में मन्त्रों के आधार पर आख्यानों को कल्पना न मानकर आख्यानों के आधार पर मन्त्रों का बनाया जाना मानने लगे, ठीक वैसे ही जैसे कोई बुढ़िया और उसके बेटों की कहानी के आधार पर सूर्य और चन्द्रमा की कालविशेष में उत्पत्ति मानने लगे।

यास्क से पूर्व वेदों में अनित्य परिमित कालावगम्य तथा हम मानवों की कृतियों के सदृश इतिहास माननेवालों का वर्ग जन्म ले-चुका था। इसलिए यास्क ने जहाँ '**तत्रेतिहासमाचक्षते**' कहकर आख्यानों की कल्पना करके अपनी बात को स्पष्ट किया वहाँ '**इत्यैतिहासिकाः**' कहकर उन्होंने विरोधी मत को प्रस्तुत कर इसका परिहर किया है। जैसे—'**तत्र को वृत्रः**' ? **मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः** (निरुक्त २।१६)। इस प्रकार दोनों पक्षों को प्रस्तुत कर उन्होंने अपने पक्ष को पुष्ट किया है।

वेदों में इतिहास की कल्पना के मूल में वेद के शब्दों का रूढ़ माना जाना है। इतिहासवादी व्यक्तिवाचक नामों के आधार पर ही इतिहास की सिद्धि की कल्पना करते हैं और व्यक्तिवाचक नामों की कल्पना तभी खड़ी होती है जब वैदिक शब्दों को यौगिक न मानकर रूढ़ मान लिया जाता है। वैदिक शब्दों की धात्वर्थ के आधार पर व्याख्या करने पर यह कल्पना समाप्त हो जाती है। तद्यथा—विश्वामित्र शब्द को रूढ़ मान लेने पर उससे व्यक्तिविशेष का आभास होगा। उस अवस्था में इसे किसी मन्त्र में आया देखकर पुराणों में वर्णित विश्वामित्र

नामक ऋषिविशेष (वषिष्ठ के प्रतिद्वन्द्वी, या हरिश्चन्द्र को भंगी बनाने वाले या मेनका में गर्भाधान करनेवाले) का बोधक मानकर इतिहास की कल्पना करना सहज होगा, परन्तु यौगिक मान लेने पर विश्वामित्र शब्द ऐसे किसी भी व्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है जो सबके प्रति मैत्रीभाव रखता हो।

वेदार्थ-प्रक्रिया में समस्त वैदिक नामों—प्रातिपदिकों को धातुज = यौगिक माना गया है। इसलिए सभी नैरुक्त आचार्य नामपदों को यौगिक मानकर ही वेदार्थ में प्रवृत्त होते हैं। अति प्राचीन काल में जब यदृच्छा शब्दों की उत्पत्ति नहीं हुई थी तब समस्त लौकिक नामपद भी यौगिक माने जाते थे। एवं वेदमन्त्रों में आये संज्ञापद आख्यातज होने से व्यक्ति विशेष के वाचक हो ही नहीं सकते, अतः उनका अर्थ धातु के अर्थों के अनुरूप होगा। महाभाष्यकार पतञ्जलि, कुमारिल भट्ट, शबरस्वामी, स्कन्द, दुर्गाचार्य, वररुचि, भट्टभास्कर, आत्मानन्द आदि सभी आचार्यों ने वैदिक शब्दों को अनिवार्य रूप से यौगिक माना है। यत्र-तत्र उवट, महीधर और सायणाचार्य ने भी यौगिकवाद का आश्रय लिया है। निरुक्त की रचना ही यौगिकवाद के लिए हुई है। निरुक्त नाम ही निर्वचन का है। **'तत्र नामान्याख्यतजानि'**—जितने भी नामवाची पद हैं, सब आख्यातज हैं। जब सब नाम आख्यातज हैं तो जिस-जिस धातु से उनकी उत्पत्ति हुई है, उस-उस धातु के अर्थ को तो अवश्य कहेंगे। शब्दों की निरुक्तियों को लेकर ही तत्तत् शब्दों का अर्थ होगा। निरुक्त ब्राह्मणों का पूरक है। जहाँ-जहाँ आवश्यक होता है, यास्क अपने अर्थों की पुष्टि के लिए **'इति विज्ञायते' 'इति ब्राह्मणम्'** इत्यादि कहकर ब्राह्मण वचनों को उद्धृत करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ निर्वचनों से भरे पड़े हैं। वे हर समय निरुक्त द्वारा शब्दों के अर्थ समझाने की बात करते हैं। **यज्ञो वै विष्णुः, प्राणो वै वसिष्ठः, मनो वै भरद्वाजः, चक्षुर्वै जमदग्निः, राष्ट्रं वा अश्वमेधः** इत्यादि वचनों की ब्राह्मणों में भरमार है। इतना ही नहीं, वे प्रत्येक शब्द के निर्वचन के साथ-साथ उसका स्पष्टीकरण भी करते हैं। जैसे—**श्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिर्यदनेन शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः**। इस प्रकार वैदिक प्रक्रियानुसार अर्थ होने पर कोई भी शब्द व्यक्ति या स्थान विशेष का वाचक नहीं रहता।

इतिहास से सामंजस्य

सुजनतोषन्याय से यदि आख्यान्तर्गत नामों को इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तियों का वाचक माना जाये तो उनका इतिहास से सामंजस्य होना चाहिए। परन्तु यथार्थ में ऐतिहासिक घटनाओं तथा तथ्यों का वेदमन्त्रों में वर्णित बातों से सामंजस्य नहीं होता। यही बात भौगोलिक संकेतों के विषय में भी कही जा सकती है। उदाहरणार्थ—

१. अथर्ववेद (१२।३।२६) में 'कृष्णाया: पुत्रोऽर्जुन:' लिखा है। इसका सीधा अर्थ है—कृष्णा अर्थात् द्रौपदी का पुत्र अर्जुन। व्याकरण और कोश के अनुसार यह अर्थ ठीक प्रतीत होता है, परन्तु इतिहासप्रसिद्ध महाभारतकालीन अर्जुन द्रौपदी का पुत्र नहीं, पति था। इन दोनों पदों— कृष्णा तथा अर्जुन—का यौगिक अर्थ करने पर बात स्पष्ट हो जाती है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार '**रात्रिर्वै कृष्णा असावादित्यस्तस्या वत्सोऽर्जुन:**'— काली होने से रात्रि का नाम कृष्णा है और श्वेत होने से सूर्य अथवा दिन का नाम अर्जुन है। रात्रि से उत्पन्न होने से सूर्य रात्रि का पुत्र कहाता है। इस प्रकार यहाँ कृष्णा को महाभारत की द्रौपदी का और अर्जुन को तत्कालीन अर्जुन का वाचक नहीं माना जा सकता।

२. यजुर्वेद (२३।१८) में **अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका** तीनों को एकसाथ देखकर कह दिया जाता है कि ये तीनों वही लड़कियाँ हैं जिन्हें भीष्म पितामह अपने भाइयों के लिए भगाकर लाये थे। परन्तु महाभारत में इन्हें काशिराज की कन्याएँ बताया है, जबकि यजुर्वेद के उक्त मन्त्र में उन्हें काम्पीलवासिनी लिखा है। ये तीनों शब्द माता, दादी और परदादी के वाचक हैं अथवा आयुर्वेद के सन्दर्भ में यजुर्वेद १२।७६ व ३।२७ तथा आयुर्वेद के ग्रन्थों में ये ओषधिविशेष के नाम हैं। ओषधिपरक अर्थ करने पर काम्पील उस स्थान को कह सकते हैं जहाँ ये ओषधियाँ पैदा होती हों। धातु के आधार पर ये दोनों अर्थ उपपन्न हो सकते हैं—**कं सुखं पीलयति बध्नाति गृह्णातीति कम्पील:, स्वार्थेऽण्प्रत्यये काम्पील:, तं वासयितुं शीलमस्यास्तां लक्ष्मीम्।**

३. अथर्ववेद में अयोध्या नगरी का नाम आता है सही, पर उससे वह अयोध्या अभिप्रेत नहीं है जिसे कभी इक्ष्वाकु ने बसाया था और जिसमें राम का जन्म हुआ था। वेद में उसका वर्णन इस प्रकार किया है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्यय: कोश: स्वर्गो ज्योतिषावृत:॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदु:॥

—अथर्व० १०।२।३१-३२

अर्थात् आठ परिखा और नौ द्वारोंवाली देवनगरी अयोध्या है। इसमें एक हिरण्मय कोश है जो स्वर्गज्योति से आवृत है। यहाँ तिहरा बन्दोबस्त है। उसके भीतर आत्मन्वत् यक्ष (शरीरधारी आत्मा) बैठा है जिसे ब्रह्मवित् जानते हैं।

वस्तुत: यह शरीररूपी नगरी है–इतनी सुदृढ़ कि कोई इसे जीत नहीं सकता। वहाँ बैठा आत्मा सुरक्षित रहता है। तदनुसार ही गीता में कहा है— '**नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।**' इसी भाव को लोकभाषा में कहा गया है—

नौ द्वारे का पींजरा　तामें पंछी पौन।
रहने में अचरज भले गये　अचम्भा कौन॥

इक्ष्वाकु ने सरयू तट पर अपनी राजधानी उसी के अनुरूप बनाई।[1] और वेद से खोजकर उसका नाम अयोध्या रक्खा, क्योंकि **'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे'**—वेद के शब्दों से ही सब पदार्थों के नाम रक्खे गये हैं। वेद में शरीर का नाम अयोध्या है। उसी के अनुकरण पर नगरी का नाम अयोध्या रक्खा गया। अयोध्या नाम वेद से लोक में आया, लोक से वेद में नहीं। यही स्थिति अन्य नाम पदों की है।

यह अयोध्या दैवी वृत्तिवाले ऋषि-मुनियों का तपःपूत अन्तःकरण भी हो सकता है जिसमें स्वर्गीय प्रकाश अथवा अखण्ड आनन्द की अलौकिक धारा प्रवाहित होती रहती है और जिसे आसुरी वृत्तियाँ कभी पराभूत नहीं कर पातीं। इसी हिरण्मय कोश को मुण्डकोपनिषद् में मानव के अन्तःशरीर में विद्यमान ज्योतिर्मय शुभ्र सत्ता कहा गया है—**'अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः'**—३।१।५।

कौन कह सकता है कि यह उल्लेख उत्तर प्रदेश की अयोध्या नगरी के सम्बन्ध में है?

४. **पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।**
सरस्वती तु पञ्चधा सा देशेऽभवत्सरित्॥ —यजु० ३४।११

इस मन्त्र में पाँच नदियों का उल्लेख होने से, पंजाब अर्थात् प्रदेशविशेष का वर्णन होना समझ लिया जाता है, परन्तु सभी जानते हैं कि न तो सरस्वती नामक नदी में पंजाब की पाँच नदियाँ गिरती हैं और न सरस्वती ही पांच धाराओं में बँटकर बहती है। मन्त्रों में आये नामों को प्रातिपदिक मानकर यौगिक प्रक्रिया अनुसार अर्थ करने पर पता चलता है कि उसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान अथवा मन की पाँच वृत्तियों को स्मृति में ठहराकर वाणी द्वारा अनेकविध अभिव्यक्त होने का उल्लेख है।

५. ऋग्वेद १।२४ सूक्त के मन्त्रों में **'शुनःशेप'** की कथा का संकेत किया जाता है। इस लम्बी-चौड़ी कहानी में विश्वामित्र, हरिश्चन्द्र, अजीगर्त, रोहित आदि अनेक नाम आते हैं, जबकि उक्त मन्त्रों में **'शुनःशेप'** शब्द को छोड़कर अन्य किसी नाम का संकेत तक नहीं है। इस एक नाम को लेकर सारी कहानी गढ़ ली गई है।

६. देवापि और शन्तनु के आख्यान को लेकर विद्वानों में पर्याप्त विवाद है। ऐतिहासिक शन्तनु का सांस्कारिक अथवा मूल नाम 'महाभिष' था—**प्राङ्-**

---

१. जयपुर नगर भी तदनुसार नौ द्वारों से युक्त है। इस नगर को प्रसिद्ध ज्योतिषियों द्वारा तैयार नक़शे के अनुसार सवाई जयसिंह ने बनवाया था।

महाभिषसंज्ञितः (भागवत० ६।२२)। शन्तनु नाम उसने वेद से ग्रहण किया। इतिहासप्रसिद्ध देवापि का पिता प्रतीप=पर्यश्रवा है, जबकि वेद के अनुसार ऋष्टिषेण होना चाहिए। इस कठिनाई को देखकर कुछ आचार्यों ने देवापि के गुरु च्यवन का अपर नाम ऋष्टिषेण मान लिया और उसी को देवापि का पिता बना डाला। इस प्रकार कालान्तर में आर्ष्टिषेण देवापि का विशेषण बन गया। कुछ विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद के १०वें मण्डल के वर्षकाम सूक्त का रचयिता देवापि है। यदि ऐसा होता तो देवापि इस सूक्त में शन्तनु के लिए महाभिष और अपने लिए आर्ष्टिषेण के स्थान पर च्यावन पदों का प्रयोग करता। यह भी निश्चित है कि यह सूक्त महाभारतप्रसिद्ध देवापि और शन्तनु से पहले विद्यमान था। फिर, इस मन्त्र का ऋषि भी देवापि है। मन्त्रद्रष्टा देवापि अपना निर्देश प्रथम पुरुष में और भूतकाल में कैसे कर सकता था?

वस्तुतः सूक्त में देवापि और शन्तनु के कुरुवंशीय होने, शन्तनु के राज्य ग्रहण करने, १२ वर्ष तक वर्षा न होने पर ब्राह्मणों के कहने-सुनने विषयक कोई भी शब्द नहीं है। **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्'**—भगवान् वेदव्यास के इस वचन के अनुसार अपनी बात को रोचक बनाकर कहने के लिए **'तत्रेतिहास-माचष्टे'** कह बुढ़िया और उसके बेटों की कहानी की तरह एक आख्यायिका की कल्पना कर ली गई। अपनी निरुक्त की टीका में (भाग २, पृ० ७०) स्कन्दस्वामी ने देवापि के द्वारा पुरोहित के रूप में वर्षा कराने से सम्बन्धित इस आख्यान की व्याख्या करते हुए लिखा—

> **देवापिर्विद्युत्। शन्तनुरुदकं वृष्टिलक्षणम्। यद् यदा देवापिर्विद्युतः शन्तनवे वृष्टिलक्षणस्योदकस्यार्थाय पुरोहितः पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकम्।**

अर्थात्—यहाँ देवापि विद्युत् का नाम है और शन्तनु जल का। वृष्टिरूप जल विद्युत् से बरसता है। पहले विद्युत् चमकती है, तब वर्षा होती है। अग्रणी होने से पुरोहित कहाता है। ऋष्टि का अभिप्राय विद्युत् से है, इसकी पुष्टि ऋग्वेद के इन मन्त्रों से होती है—

> **आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः।**—१।८८।१
> **को वोऽन्तर्मरुत ऋष्टिविद्युतो रेजति।**—१।१६८।५
> **य ऋष्वा ऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति वेधसः।**—५।५२।१३
> **विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तः।**—३।५४।१३

देवापि और शन्तनु की कथा निरुक्त, बृहद्देवता और महाभारत तीनों में मिलती है। निरुक्त के अनुसार आर्ष्टिषेण देवापि और आर्ष्टिषेण शन्तनु दो भाई थे। उनमें से छोटे भाई शन्तनु ने अपना राज्याभिषेक कर लिया। देवापि तप करने चला गया। शन्तनु के राज्य में १२ वर्ष तक मेघ नहीं बरसा। ब्राह्मणों ने उससे कहा कि बड़े भाई के रहते राजा बनकर तुमने अधर्माचरण किया है, इसी-

लिए तुम्हारे यहाँ वर्षा नहीं होती है। इसपर शन्तनु ने देवापि से राज्य ग्रहण करने का अनुरोध किया। देवापि ने राज्य को अस्वीकार करते हुए कहा कि मैं तेरा पुरोहित बनकर यज्ञ कराता हूँ। उस यज्ञ से सम्बन्धित यह वर्षकाम सूक्त है और उसकी यह ऋचा है—

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्देवापिर्देव सुमतिं चिकित्वान्।
स उत्तरास्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि॥

—ऋ० १०।९८।५, नि० २।१०-११

I. इस प्रकार **निरुक्त के अनुसार**—१. देवापि और शन्तनु दोनों ही आर्ष्टिषेण हैं। दुर्ग ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—**'देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्चार्ष्टिषेणः।**

२. बारह वर्ष तक वर्षा नहीं हुई।

३. ब्राह्मणों ने कहा कि तुमने अधर्माचरण किया है।

II. **बृहद्देवता के अनुसार**—१. देवापि आर्ष्टिषेण है और शन्तनु कुरुपुत्र है—**'आर्ष्टिषेणस्तु देवापिः कौरव्यश्च शन्तनुः। त्वग्दोषी राजपुत्रस्तु आर्ष्टिषेण-सुतोऽभवत्। ततोऽभिषिक्ते कौरव्ये—इत्यादि।'**

२. देवापि को कुष्टरोगग्रस्त कहा है।

३. पाठभेद के आधार पर सौ वर्ष तक वर्षा न होना वर्णित है—**'न ववर्षाथ पर्जन्यस्तस्मिन् राष्ट्रं शतं समाः।**

४. देवापि ने सोचकर प्रजा से कहा कि तुम्हारा राजा शन्तनु हो। मैं राज्य के योग्य नहीं हूँ।

III. **महाभारत के अनुसार**—१. नाम शन्तनु नहीं, शान्तनु है।

२. देवापि और शान्तनु को राजा प्रतीप का पुत्र कहा है। उनके भाई का नाम वाल्हीक है।

इन तीनों कथाओं में भेद होने से स्पष्ट हो जाता है कि इस कथा का **इति-ह-आस** से कोई सम्बन्ध नहीं है—निरी कल्पित कथा है। इसलिए हरेक ने अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार गढ़कर प्रस्तुत किया है। सर्वानुक्रमणी ने इस प्रसंग में कोई कथा नहीं मानी है।

'देवापि' पद की व्याख्या करते हुए यास्क ने लिखा है कि देवों के ज्ञान अथवा स्तुति करने से सम्बद्ध पदार्थ देवापि है। दुर्ग ने इसका अर्थ पार्थिव अग्नि किया है—**'अग्निः पार्थिव आर्ष्टिषेणो देवापिः।'** स्कन्दस्वामी देवापि की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ऋष्टि नाम शक्ति का है, उससे युक्त मरुतों की सेना ऋष्टिमन्त है। मध्यम से उत्पन्न होने के कारण देवापि विद्युत् है और शान्तनु वृष्टिलक्षण जल है—**'मध्यमप्रभवाद्देवापिर्विद्युत् शन्तनुरुदकं वृष्टिलक्षणम्।**—'स्कन्दस्वामी

वस्तुतः यह आख्यान नित्य अर्थ का योजक है। इसमें प्राकृतिक जगत् के कारण तथा कार्यरूप तत्वों का औपचारिक वा आलंकारिक वर्णन है। यह कहानी

उस ऋचा से सम्बन्धित है जिसका विनियोग वृष्टियज्ञ में होता है। कभी-कभी आवश्यकता होने पर भी वर्षा नहीं होती। या तो बादल आते ही नहीं, या आ-आकर बिना बरसे चले जाते हैं। ऐसी अवस्था में कृत्रिम रूप से वर्षा कराने के उपायों की खोज में वर्त्तमान विज्ञान भी संलग्न है। वैज्ञानिक ऐसे परीक्षण कर रहे हैं कि ऊपर पहुँचकर विमान द्वारा आकाश में कुछ रासायनिक पदार्थ छिड़ककर बादलों को बरसाया जा सके। वेद में यज्ञ की सहायता से वर्षा करने-कराने का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के सूक्त में वैज्ञानिकों द्वारा उत्तर समुद्र अर्थात् आकाश से जल बरसाने की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में विद्युत् को सम्बोधित कर कहा गया है कि तुम राक्षसों अर्थात् वृष्टिजल में बाधक तत्त्वों अथवा भौगोलिक कारणों को नष्ट करके प्रचुर जल की वर्षा करो।

सुदास के विषय में वैदिक इण्डेक्स में सायण के आधार पर अनेक कल्पनाएँ की गई हैं। वस्तुतः जैसे सबके साथ मित्रवत् व्यवहार करनेवाला कोई भी व्यक्ति विश्वामित्र कहाता है, वैसे ही सुदास भी किसी व्यक्ति विशेष का नाम न होकर किसी भी व्यक्ति का बोधक है जो दान देने में अत्यन्त उदार हो। सायण ने भी ऋग्वेद ७।२०।२ पर **'सुदासे'** का अर्थ **'कल्याणदानाय'**, यजमानाय ७।३२।१० पर **'सुदासः'** का **शोभनदानस्य यजमानस्य'** और ७।६४।३ पर **'सुदासे'** का **'शोभनदानाय जनाय'** किया है।

इसके विपरीत कृपण व्यक्ति की संज्ञा **'कीकट'** है। कुमारिलभट्ट ने वैदिक शब्दों के यौगिक होने की मान्यता के अनुसार लिखा है—**'कीकट नाम यद्यपि जनपदाः, तथापि नित्याः। अथवा सर्वलोकस्था कृपणाः कीकटाः'**—तन्त्र-वार्त्तिके। अर्थात् 'कीकट' यद्यपि जनपदों को कहते हैं, तथापि वे कोई नाम विशेष नहीं, अपितु नित्य हैं। अथवा सारे लोकों में स्थित कृपणों को कीकट समझना चाहिए। यास्क ने 'कीकट नाम का निर्वचन करके निरुक्त ६।३२ में लिखा है—**'कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः'** अर्थात् कीकट अनार्यों (आर्यों के विपरीत गुण-कर्म-स्वभाववालों) के निवास को कहते हैं। यहाँ पर **'नाम'** पद निश्चयादि का द्योतक है। यौगिक अर्थों के अनुसार **'अश्विनौ'** के अर्थ **द्यावा-पृथिवी, अहोरात्र** और **सूर्याचन्द्रमसौ** उपपन्न होते हैं। अन्य अर्थ भी निष्पन्न हो सकते हैं, परन्तु ये लौकिक अथवा अलौकिक व्यक्ति विशेष के नाम नहीं हैं।

लोक में इन्द्र और गौतम-पत्नी अहल्या के परस्पर व्यभिचार में प्रवृत्त होने और तदनन्तर इन्द्र द्वारा अपनी पुत्री में गर्भाधान करने की कथा प्रसिद्ध है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा'** (अष्टा० ३।१।७) इस सूत्र के भाष्य में **'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्'** सारे पदार्थों में **चेतनवदुपचारः** मानकर **'शृणोत ग्रावाणः'** यह उदाहरण दिया है। इतना ही नहीं, **'वामहायनान्ताच्च'**

(अष्टा० ४।१।२७) के भाष्य में तो **'अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः'** लिखकर स्पष्टतः सबको औपचारिक अथवा आलंकारिक घोषित कर दिया है। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट ने अपने महान् ग्रन्थ **तन्त्रवार्त्तिक** में अहल्या विषयक कथा को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

> **प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनादादित्य एवोच्यते। स च अरुणोदय वेलायामुषसमुद्यन्नभ्यैत्। सा तदागमनादेवोपजायत इति तद् दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते। तस्यां वारुणाख्याबीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषवदुपचारः। एवं समस्ततेजाः परमैश्वर्यनिमित्तेन्द्रपदवाच्यः सवितैवाहनि लीनमानतया रात्रेरहल्या शब्दवाच्यायाः क्षयात्मकजरणहेतुत्वाज्जीर्यस्माद् अनेने-वोदितेनेत्यादित्य एवाहल्याजार इत्युच्यते न परस्त्रीव्यभिचारात्।**
>
> —तन्त्रवार्त्तिक पृष्ठ २०७

इस उद्धरण के अन्तिम शब्दों से स्पष्ट है कि यहाँ परस्त्री गमन जैसी कोई बात नहीं है—**'न परस्त्रीव्यभिचारात्'**। वस्तुतः प्रजापालन करने से आदित्य और परमैश्वर्यवान् होने से इन्द्र ये दोनों सूर्य के नाम हैं। **'अह'** अर्थात् दिन में **'लय'** हो जाने—न रहने से रात्रि का नाम अहल्या है। जीर्ण करनेवाले को जार कहते हैं। रात्रि (अहल्या) के साथ सूर्य (जार) का संयोग होने से रात्रि का नाश हो जाता है। इसी संयोग से उत्पन्न होने से उषा सूर्य अर्थात् इन्द्र की पुत्री कहाती है। उषाकाल में सूर्य की किरणों के उषा में प्रवेश करने को स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध रूप में मान लिया गया। इस प्रकार के कथानक अनित्य व्यक्तियों के उपाख्यान प्रतीत होने पर भी वास्तव में नित्य पदार्थों और घटनाओं के द्योतक हैं। काव्य-शास्त्र से अनभिज्ञ होने से वे अन्यथा प्रतीत होते हैं।

पुरुरवा और उर्वशी को लेकर भी अनेक आख्यान रचे गये हैं। पुराणों में उर्वशी को नारायणमुनि की जंघाओं से उत्पन्न बताया गया है। **'उरु'** को **'ऊरु'** मानकर किया गया निर्वचन और उसपर आधारित उर्वशी की उत्पत्ति की कथा दोनों अशुद्ध हैं, क्योंकि **'ऊरु'** के अर्थ में **'उरु'** का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। बृहद्देवता में उपलब्ध वर्णन के अनुसार उर्वशी के दर्शन पर मित्र और वरुण का रेतः कुम्भ में गिरा और मुहूर्त्तमात्र में अगस्त्य और वसिष्ठ उत्पन्न हो गये। तत्पश्चात् उर्वशी पुरुरवा पर आसक्त हो गई और कालान्तर में इन दोनों से आयु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस अश्लील और बेहूदा कथा का मूल ऋग्वेद के जिस मन्त्र में बताया जाता है, वह इस प्रकार है—

> **उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः।**
> **द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त॥**
>
> —ऋ० ७।३३।११

यजुर्वेद (१८।३९) में कहा है—**'सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः'** सूर्य ही

गन्धर्व है और उसकी किरणें अप्सराएँ हैं। अन्यत्र (यजु० १५।१६,१६) अप्सराओं के नामों का परिगणन करते हुए मेनका और उर्वशी के नामों का भी उल्लेख किया है। ऋग्वेद (१०।६५।१७) में स्पष्ट कहा है—'**अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुपशिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः**' अर्थात् मैं वसिष्ठ अर्थात् सूर्य अन्तरिक्ष में घूमनेवाली उर्वशी को अपने वश में रक्खूँ। आचार्य वररुचि ने निरुक्त समुच्चय (पृ० ७८) में कहा है—'**उर्वशी विद्युद्विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् प्रश्नुते दीव्यत इति उर्वशी वर्षाकाले विद्युति**'। इस सबसे स्पष्ट है कि उर्वशी अन्तरिक्षस्थ पदार्थ है। उधर मित्र और वरुण जल के मूल तत्त्वों—आक्सीजन और हाइड्रोजन के वाचक हैं जिनके मिलने से जल की उत्पत्ति होती है। ऋग्वेद (१।२।७) इसमें प्रमाण है। निघण्टु पठित मित्र और वरुण का अर्थ यास्क ने वायु ही किया है (निरुक्त ६।२।१३)। मित्र और वरुण दोनों के मेल से जल की उत्पत्ति होती है और उर्वशी का दर्शन होने अर्थात् विद्युत् के चमकने पर मित्र और वरुण वायुओं का रेतस् अर्थात् जल (निघण्टु में रेतस् जलवाची है) गिर पड़ता है। इस वैज्ञानिक सिद्धान्त का दर्शानेवाला यह मन्त्र है जिसके वास्तविक अर्थ को न समझकर ऊटपटाँग कहानी बनायी गई। जिसे मित्र और वरुण ने देखा था वह विद्युत् ही थी, पहले मन्त्र में इसका स्पष्ट उल्लेख इन शब्दों में हुआ है—

विद्युज्ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणौ यदपश्यताम्।

फिर जल को सम्बोधित करके कहा—'**अगस्त्यो त्वा विशा आजभार**' अर्थात् जिसने तुम्हें मनुष्यों को प्रदान किया वह सूर्य है, क्योंकि सूर्य ही जल को समुद्र से ग्रहण कर प्रकाश में पहुँचाता है। पुरुरवा के सम्बन्ध में वररुचि का कथन है–

पुरुरवा मध्यमस्थानः वाय्वादीनामेकतमः पुरु रौतीति पुरुरवा।

अर्थात् वर्षाकाल में भयंकर शब्द करने से मेघ का नाम पुरुरवा है। पुरुरवा अर्थात् मेघ तथा उर्वशी अर्थात् विद्युत् के परस्पर संयोग से जब वर्षा होती है तो उससे आयु अर्थात् अन्न की उत्पत्ति होती है। निघण्टु में 'आयु' अन्न के नामों में पढ़ा गया है। अन्यथा भी अन्न आयु अर्थात् जीवन है–'**अन्नं हि प्राणिनां प्राणः**'।

अब यूरोपियन विद्वान् भी इसे आलंकारिक वर्णन मानते हैं। ग्रिफ़िथ ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ६५वें सूक्त को टिप्पणी में कहते हैं कि मैक्समूलर के मत में यह उषा और सूर्य का वर्णन है और डाक्टर गोल्डस्टकर के मत में प्रातःकाल और सूर्य का है। मैक्समूलर ने कहा है कि यह पुरुरवा-उर्वशी की कथा, उषा और सूर्य का आलंकारिक भाषा में वर्णन करती है।[२]

१. Maxmueller considers the story to be one of those which express the co-relation of the dawn and the sun. According to Dr. Goldstucker, Urvashi is the morning mist which vanishes away as soon as Pururava, the sun, displays himself.

२. (Maxmueller Selected Essays, Vol. I, P. 408)

गोल्डर, रॉथ और म्यूर भी अब यही मानते हैं। आर० सी० दत्त ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ११५ पर कहते हैं–"**अमरा पूर्वई बलियाछि, उर्वशीर आदि अर्थ उषा-पुरुरवार आदि अर्थ सूर्य। सूर्य उदय हइले उषा आर थाके ना।**" अर्थात् हमने पहले ही कह दिया कि उर्वशी का अर्थ उषा और पुरुरवा का अर्थ सूर्य होता है। सूर्य के उदय होने पर उषा ठहर नहीं सकती।

ऋग्वेद १।१७९ के मन्त्रों के आधार पर अगस्त्य और लोपामुद्रा के आख्यान की रचना हुई बताई जाती है। सर्वानुक्रमणीकार का कथन है—

पूर्वीः षड् जायापत्योर्लोपामुद्राया अगस्त्यस्य च द्विऋचाभ्यां रत्यर्थं संवादं श्रुत्वा अन्तेवासी ब्रह्मचार्यन्त्येवृहत्यादी अपश्यत्।

अर्थात्—**पूर्वीः पद** से आरम्भ होनेवाले सूक्त की छह ऋचाएँ पति-पत्नी अगस्त्य और लोपामुद्रा का दो-दो ऋचाओं द्वारा मैथुन सम्बन्धी संवाद सुनकर उनके पास रहनेवाले ब्रह्मचारी ने दो ऋचाओं का दर्शन किया।

महाभारत के वन पर्व के ९६वें से लेकर १०४वें अध्यायों तक में अगस्त्य की कहानी लिखी है। उसके अनुसार अगस्त्य ने अपने पितरों को प्रसन्न करने के लिए विवाह करने का निश्चय किया। जब उन्हें बहुत खोज करने पर भी अपने लिये उपयुक्त कन्या नहीं मिली तो उन्होंने स्वयं अपने मन के अनुकूल कन्या की रचना की और पाल-पोसकर विदर्भ के राजा को दे दी। विदर्भ के राजा ने उसका लोपामुद्रा नाम रखकर अगस्त्य के साथ विवाह कर दिया। कहा जाता है कि ऋग्वेद के उक्त मन्त्रों में उन्हीं अगस्त्य और लोपामुद्रा के प्रणय प्रसंग का उल्लेख हुआ है।

हो सकता है कि पौराणिक युग में किसी ने अपने पुत्र का नाम अगस्त्य रक्खा हो। इसी प्रकार किसी राजा ने सीता की भाँति अपनी पालिता कन्या का नाम लोपामुद्रा रक्खा हो और फिर कालान्तर में उनका विवाह भी हो गया हो। परन्तु इतने से मिलान से इस व्यक्तिगत कथानक को वैदिक सूक्तों के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता।

निरुक्तवचनों से प्रकट होता है कि यास्क युग से पहले ही वैदिक भावनाओं में अर्थविकार होने लगा था। इस समूचे कथानक में अगस्त्य और लोपामुद्रा इन दो संज्ञा पदों को छोड़कर अन्य किसी भी बात का सूक्त से सम्बन्ध नहीं जुड़ता। न मूल मन्त्रों में कोई ऐसा पद है जिससे प्रजनन का भाव निकलता हो। वैदिक वाङ्मय में '**कामः**' शब्द का अर्थ कामवासना, मन्मथ अथवा मैथुनिक भावना करना साहसमात्र होगा। अकेले ऋग्वेद में ६१ बार '**कामः**' शब्द का प्रयोग एकवचन में, १२ बार बहुवचन में और ५ बार '**कामये**', '**कामयेते**' ऐसे क्रियापद पढ़े गये हैं। किसी एक स्थल पर भी प्रजनन और भोगवासना का अर्थ नहीं निकलता। यहाँ इस पद का प्रयोग 'चाहना' के स्वाभाविक अर्थ में किया गया है।

इस सूक्त में **'लोपामुद्रा'** सामान्य संज्ञा पद के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द **मुद्-रा इन** धातुओं के मिलान से बना है। वर्त्तमान में **मुद्रा** शब्द का अर्थ सिक्का, मोहर, छापा, अँगूठी आदि किया जाता है। कहीं-कहीं मुद्रा का अर्थ मर्यादा भी मिलता है, जैसा कि शब्दकल्पद्रुम में 'समुद्र' शब्द का अर्थ करते हुए बताया है। किन्तु अथर्ववेद (१८।३।१६) में पुल्लिंग में प्रयुक्त **'मुद्र'** पद से और सुतरां **मुद-रा** धातु से भी यही प्रतीत होता है कि जीवन-यात्रा में सुख-शान्ति पहुँचानेवाले सभी गुणों अथवा पदार्थों को मुद्रा कहा जाता है। जिस अवस्था में सभी पदार्थों का लोप हो जाता है, उस विपत्तिकाल की निराश, हतांश, एवं अधीर अवस्था को **'लोपामुद्रा'** पद के प्रयोग से प्रगट किया गया है। यही इसका स्वाभाविक अर्थ है। मन्त्रगत 'अधीरा' पद से भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है।

कोशों में सर्वत्र **'अग'** शब्द पर्वत, लता, वृक्ष, खेती, वनस्पति आदि का वाचक है और **'स्त्यै'** धातु एकत्र करने, सँभालने आदि अर्थों का वाचक है। इस प्रकार **'अगस्त्य'** शब्द का अर्थ परिश्रमी सिद्ध होता है। परिश्रमी व्यक्ति भी जब परिस्थितियों से हार जाता है तो उसकी पत्नी उसे ढाढ़स बँधाती है। स्त्री-पुरुष के परस्पर सहयोगी रहते हुए जीवन-यात्रा को सफल करने सम्बन्धी अत्यन्त भावपूर्ण तथा उपदेशप्रद सूक्त को मनमाने ढंग से तोड़-मरोड़कर विलास की फुलझड़ी बनाकर रख दिया गया। कथानक के रूप में प्रचलित अनर्गल प्रलाप को सिद्ध करने या उसका संकेतमात्र करने के लिए मन्त्रों में एक भी शब्द नहीं है।

वेद में अनेकत्र अदिति, इन्द्र, अंगिरा आदि शब्द विशेषण और विशेष्य दोनों रूपों में आते हैं। विशेष्य-विशेषण भाव का यह स्वरूप यौगिकवाद के बिना उपपन्न नहीं होता। प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध द्वारा, धात्वर्थ के आधार पर व्युत्पत्ति किये बिना विशेषण नहीं बन सकता। यदि अंगिरा, कण्व आदि व्यक्तिवाचक नाम होते तो विशेषण के रूप में प्रयुक्त नहीं किये जा सकते थे, परन्तु वेदों में अनेक स्थलों पर ऐसे प्रयोग मिलते हैं। संस्कृत व्याकरण में गुणवाचक शब्द की पूर्वापर विशेषता दिखाने के लिए तुलनात्मक **तरप् व तमप्** प्रत्यय लगाये जाते हैं। ये प्रत्यय विशेषणवाची शब्दों के साथ ही लगते हैं, संज्ञा या व्यक्तिवाचक में इनका प्रयोग नहीं होता है। **शुभ्रतर** और **शुभ्रतम** प्रयोग तो बनता है, किन्तु **यज्ञदत्ततर यज्ञदत्ततम** नहीं बन सकता। व्यक्ति विशेष के नाम न होकर यदि यज्ञदत्त आदि पद विशेषण होते तो इनके साथ भी ये प्रत्यय लग सकते थे। अन्य भाषाओं में भी यह नियम इसी प्रकार लागू होता है। अंग्रेजी में Brighter और Brightest शब्द तो मिलेंगे, किन्तु चर्चिलर और चर्चिलेस्ट या टेनीसनर और टेनीसनेस्ट नहीं मिलेंगे।

ऋग्वेद (१।४८।४) में **'कण्व एषां कण्वतमः'** का अर्थ व्यक्तिवाचक नहीं हो सकता। अतिशायिक तमप् प्रत्यय लगने से कण्व का विशेषणवाची होना स्वतः सिद्ध है। निघण्टु में **'कण्व इति मेधाविनाम'** पढ़ने के बाद इस मन्त्र में **'कण्व**

एषां कण्वतमः' का अर्थ 'मेधावियों में श्रेष्ठतम' से अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता। ऋग्वेद में **कण्वाः, कण्वेषु, कण्वासः, कण्वानाम्, कण्वेभिः** आदि का भी अनेकत्र प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार बीसियों मन्त्रों में तमप् प्रत्ययान्त **'अंगिरस्तमः', 'अंगिरस्तमम्', 'अंगिरस्तमा'** आदि पदों का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद ७।७५।१ और ७।९३।३ में उषा के विशेषणरूप में **'अंगिरस्तमा'** प्रयोग हुआ है। ७।९३।३ में तो अंगिरस्तमा के साथ ही **'इन्द्रतमा'** विशेषण भी आया है जिससे इन्द्र के भी व्यक्तिविशेष का वाचक होने की कल्पना भी निर्मूल सिद्ध हो जाती है। अतिशयता गुणों में ही हो सकती है, नामों में नहीं, अतः **तरप्** और **तमप्** प्रत्यय विशेषणों के साथ ही लग सकते हैं, नामों के साथ नहीं। इस प्रकार **'भारद्वाजेषु'** (ऋ० १।१५९।७), **'जमदग्नयः'** (ऋ० ३।५३।१३), **'कण्वेषु'** (ऋ० ८।४।३) तथा **'गोमतीनाम्'** (ऋ० २।२८।२), **'गोमतीषु'** (ऋ० ४।२१।४) जैसे बहुवचनान्त प्रयोग भी उनके व्यक्ति विशेष या नदीविशेष होने का निषेध करते हैं। यौगिकवाद के आधार पर ही आपाततः पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग के कारण वेदमन्त्रों में प्राप्त पौनरुक्त्य तथा वैयर्थ्य दोषों का परिहार सम्भव है। उदाहरणार्थ—

> **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।**
> **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥**
>
> —ऋ० १।१६४।४६

> **अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।**
> **विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥**
>
> —ऋ० १।८९।१०

प्रथम मन्त्र में एक स्थान पर अग्नि विशेष्य है, दूसरे स्थान पर अग्नि तथा अन्य पद उसके विशेषण हैं। दूसरे मन्त्र में एक अदिति विशेष्य है, शेष सब गुणवाची विशेषण हैं। द्वितीय मन्त्र में **'माता स पिता स पुत्रः'** कहा है, अर्थात् वह माता भी है, पिता भी और पुत्र भी। भला एक ही व्यक्ति में मातृत्व और पितृत्व दोनों कैसे रह सकते हैं और कैसे एक ही व्यक्ति में पितृत्व और पुत्रत्व दोनों एकसाथ रह सकते हैं? यौगिकवाद में ही इस समस्या का समाधान है। वस्तुतः इस मन्त्र में ये तीनों शब्द ईश्वरवाचक अदिति के विशेषण हैं। निर्वचन के द्वारा एक ही व्यक्ति में मातृत्व, पितृत्व और पुत्रत्व रह सकते हैं। **'माता निर्माता भवति'**—निर्माण करनेवाली माता कहाती है। **'पिता माता वा पालयिता वा'** (४।२१)—पिता का अर्थ पालक या रक्षक है। इसी प्रकार **'पुत्रः पुरु त्रायते—पुन्नरकं ततस्त्रायत इति वा'** (२।११)—दुःख से बचानेवाला या पवित्र करनेवाला है। परमेश्वर सबकी माता अर्थात् निर्माता, सबका पिता अर्थात् पालक और रक्षक है और वही सबका पुत्र अर्थात् सबको पवित्र करने वाला है। मनुस्मृति के अनुसार **'पिता भवति मन्त्रदः'**—वेद का उपदेश देनेवाला होने से भी परमेश्वर पिता है।

इस सन्दर्भ में अथर्ववेद के ये दो मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः।
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः॥
विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेवः।
शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः॥

—अथर्व० १८।३।१५-१६

इन दो मन्त्रों में एकसाथ अनेक ऋषियों के नाम गिना दिये हैं। इतिहास-प्रसिद्ध ये सब ऋषि एक काल में नहीं हुए। इसलिए ये ऋषि विशेष के नाम नहीं हो सकते। **'सुसंशासः पितरः'** ये प्रशंसा करने योग्य पितर हैं तथा **'नः अवन्तु'** हमारी रक्षा करें और **'मृडता नः'** हमें सुखी करें—इन वचनों से भी इनके किसी कालखण्ड में व्यक्ति विशेष के वाचक होने का निषेध हो जाता है।

इन मन्त्रों पर विचार करते हुए वेदों के मर्मज्ञ विद्वान् प्रो० विश्वनाथ वेदोपाध्याय ने लिखा है—"वेद में कण्व आदिनाम सस्वर पठित हैं। स्वरों की आवश्यकता यौगिकार्थक शब्दों में होती है, संज्ञावाचक शब्दों में नहीं। इसलिए यहाँ कण्व आदि नाम यौगिकार्थक होने चाहिएँ। कण्वः = मेधावी (निघण्टु ३।१५) **कणति निमीलति असौ कण्वः** (उणादि १।१५१) = **निमीलिताक्ष योगी।** **कक्षीवान्** = परोकार में सदा कटिबद्ध। **पुरुमीढः** = सर्वत्र परमेश्वर की स्तुति करने वाला (ईड स्तुतौ), या सर्वत्र परमेश्वर पर भक्तिरस की वर्षा करनेवाला (मिह् सेचने)। **अगस्त्यः** = अग (पर्वत) + अस् क्षेपणे, बाधाओं के पर्वतों को उखाड़ फेंकनेवाला। **श्यावाश्वः** = श्यैङ् गतौ + अश्व (मन व इन्द्रियाँ) अर्थात् मन व इन्द्रियों द्वारा प्रगतिशील। **सोभरि** = क्लेशों को तनूकृत करके उनका अपहार करनेवाला (**शो तनूकरणे**) = भरि (हरि, हरण करनेवाला या **षो अन्तर्मणि**)। **अर्चनानाः** = **अर्चना** = **अनत्** (प्राण) अर्चना जिसके लिए प्राणवायु है। **विश्वामित्रः** = सर्वमित्र (निरुक्त २।७) अर्थात् सर्वभूतमैत्री सम्पन्न। तथा **'विश्वामित्रः ऋषिः श्रोत्रं गृह्णामि'** (यजुः १३।५७) अथवा दिव्यश्रोत्रसम्पन्न व्यक्ति। **विश्वामित्रः ऋषिः** = सबसे मित्रता का हेतु शब्दज्ञान करानेवाला (दयानन्द, यजुः १३।५७)। **जमदग्निः** = जमदग्निः ऋषिः = चक्षुः (यजुः १३।५६), प्रकाशस्वरूप का ज्ञान करानेवाला नेत्र अर्थात् दिव्यदृष्टिवाला व्यक्ति। **अत्रिः** = **अ** + **त्रि** = त्रिविध तापों से रहित। **कश्यपः** = **पश्यकः** अर्थात् यथार्थवेत्ता, विवेकी। **वामदेवः** = परमेश्वर देव के सौन्दर्य स्वरूप का उपासक। वाम = सुन्दर। **वसिष्ठः** = **वसिष्ठः ऋषिः** = प्राणः, अतिशय करके निवास का हेतु = सुख प्राप्त करानेहारा विद्वान् (दयानन्दः यजुः १३।५४)। **'भरद्वाजः** = **भरद्वाजः ऋषिः मनो गृह्णामि'** (यजुः १३।५५) अर्थात् मन जो कि अत्यन्त बली है = अन्न वा विज्ञान की पुष्टि और धारण का निमित्त **गोतमः** = गौ = वाक् (निघण्टु १।११) अर्थात् वाक् शक्ति में

प्रवीणतम । मन्त्र में व्याख्यात गुणों से युक्त विद्वान् और अनुभवी जन हमारी= समाज की रक्षा करें और मार्गदर्शन करके उसे सुखी करें ।

नदीवाचक नाम

यही स्थिति कतिपय ऐसे नामों की है जिनसे वेद में नदी विशेष का वर्णन होने का भ्रम होता है । उदाहरणार्थ– सप्तसिन्धव, सिन्धु तथा सरस्वती । इसीलिए यहाँ उनपर विस्तारपूर्वक विचार किया जाता है—

सप्तसिन्धव—यदि **'सप्त'** और **'सिन्धव'** ये दो पद हैं तो ये केवल सात नदियों का निर्देश करते हैं । यदि इन पदों के आधार पर किसी देशविशेष के नाम की कल्पना की जाती है तो समासरहित इन पदों का यह प्रस्तुत रूप नहीं रहेगा । उस अवस्था में इन दोनों पदों का समास इस प्रकार होगा—**'सप्त सिन्धवः सन्ति (प्रवहन्ति वा) यस्मिन् देशे सः 'सप्तसिन्धुः'** । इस समास का नाम होगा 'बहुव्रीहि' । इसमें समास हुए दोनों पद अपने मुख्य अर्थ को छोड़ देते हैं और एक अतिरिक्त तीसरे अर्थ को ग्रहण कर लेते हैं । **'सिन्धवः'** नदीवाचक सिन्धुपद का बहुवचनान्त रूप है । जब समासरहित ये दोनों पद इकट्ठे प्रयुक्त होते हैं तब संख्यावाचक सप्त के सहयोग से 'सिन्धु' पद का बहुवचन में सिन्धवः बन जाता है । उस समय दोनों पद अपने मुख्य अर्थ—'सात नदियाँ'—को अभिव्यक्त करते हैं, किसी अन्य अर्थ—देश आदि–को नहीं । इन पदों से किसी देश विशेष को व्यक्त करने के लिए इनका परस्पर बहुव्रीहि समास किया जाना आवश्यक है । समास हो जाने पर ये दो पद न रहकर एक पद **'सप्तसिन्धु'** होगा । उस अवस्था में ये दोनों पद अपने मुख्य अर्थ का परित्याग करके अतिरिक्त अर्थ—देश का बोध करायेंगे । परन्तु समस्त वैदिक वाङ्मय में इन पदों का प्रयोग पूर्णरूप से समासरहित है । इसलिए इनका किसी देशविशेष के रूप में अर्थ किया जाना सर्वथा असंगत है ।

कीथ—मैकडानल के वैदिक इण्डैक्स (Vedic Index) के अनुसार ऋग्वेद (८।२४।२७) में एक बार इसका प्रयोग देश के अर्थ में हुआ है । किन्तु वहाँ पर भी वह किसी देश विशेष का निर्देश नहीं करता । वहाँ पर भी **'सप्तसिन्धुषु'** का अर्थ 'सात नदियों में' ही है । नदी के कूल के अतिरिक्त कोई देशविशेष अभिप्रेत नहीं है । सायण ने भी विकल्प में **'सप्तसिन्धुषु'** का अर्थ **'सर्पणशीलासु सिन्धुषु तत्कूलेषु इत्यर्थः'** किया है । अन्य स्थलों में तो इण्डेक्स में भी इसका अर्थ सात नदियाँ ही माना है । ऋग्वेद १।३४।८ में 'सप्तसिन्धवः' पाठ न होकर **'सप्तमातृभिः सिन्धुभिः'** पाठ है । **'मातरः'** पद भी निघण्टु १।१३ में नदी नाम में पठित है, अतः **'सप्तमातरः'** को **'सिन्धवः'** का विशेषण मानकर 'सात निर्मात्री नदियाँ' अर्थ होगा । **'सिन्धवः'** को विशेषण बनाने पर **'स्यन्दनशील सात नदियाँ'** अर्थ निकलेगा। ऋग्वेद १।७१।७ में **'सप्तसिन्धु'** पद नहीं है, **'स्रवतः सप्त'** है । यह सूचित करता

है कि 'सप्तसिन्धु' पद नदी सामान्य का वाचक है। ऋग्वेद १।१०२।२ में **'सप्तनद्यः'** पाठ होने से यह सर्वथा विस्पष्ट हो जाता है कि **'सप्तसिन्धवः'** का अर्थ **'सप्तनद्यः'** ही है।

सिन्धु—वेद में नदी सामान्य का नाम सिन्धु है, वर्त्तमान में इस नाम से प्रसिद्ध नदी विशेष का नहीं। जल की धारा को भी सिन्धु कहते हैं। स्यन्दनशीला अर्थात् अधिक बहाववाली किसी भी नदी को सिन्धु कहा जा सकता है। अन्तरिक्षस्थ जलप्रवाह को भी सिन्धु कहा जाता है और जल के निर्माता तत्त्व वरुण को भी। ऋग्वेद १।१२२।६ में **'सिन्धुरद्‌भिः'** पाठ है। यहाँ सिन्धु का अर्थ वरुण है जो जल का प्रेरक है। ऋग्वेद १।१२६।१ में **'सिन्धौ'** का अर्थ **'स्यन्दनशील नदी परक'** है। ऋग्वेद २।११।९ में सिन्धु का अर्थ अन्तरिक्षस्थ अथवा मेघस्थ जल है, क्योंकि वहाँ पर वृत्र को सिन्धु में शयन करता वर्णन किया है। ऋग्वेद ७।९२।१ में सिन्धु का अर्थ स्यन्दनशील है और यह सरस्वती का विशेषण है। ऋग्वेद १।१२५।५ में सिन्धवः पद आपः के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद ३।५३।९में सिन्धु का अर्थ **'रोधस्'**—प्रवाह अथवा वेग है। ऋग्वेद ८।१२।३ में उसका अर्थ समुद्र और नदी दोनों ही घट सकता है। ऋग्वेद १०।७५।१ में सिन्धु को सबसे ओजवाली धारा बताया है। सिन्धु की आवाज को १०।७५।३ में अन्तरिक्ष से गिरनेवाली वृष्टि के समान और वृषभ की आवाज के समान कहा है। ऋग्वेद ८।४१।२ में **'सिन्धूनाम्'** पद आया है जिसका अर्थ यास्क ने निरुक्त १०।५ में **'स्यन्दमानानामासामपाम्'** अर्थात् 'प्रवहमान जलों के' किया है। 'सिन्धवः' की व्याख्या करते हुए जैमिनीय उपनिषद् १।२९।९ में कहा है—**'तद्यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः'** अर्थात् इनसे समस्त आकाश सित= भास्कर रहता है, अतः इसको सिन्धु कहते हैं।

सरस्वती—ऋग्वेद १०वें मण्डल के ७५वें सूक्त की देवता नदी है—**'नद्यो देवताः'**। इसलिए उसे नदीसूक्त के नाम से भी जाना जाता है। गंगा, यमुना, सरस्वती आदि अनेक नदियों के नामों का उस सूक्त में उल्लेख हुआ है। उन नामों से अभिहित नदियों के वर्त्तमान में पाये जाने से वेद में भारत से सम्बन्धित भौगोलिक संकेत पाये जाने का भ्रम होता है। परन्तु वेदों के शब्दों के यौगिक होने से वे नाम नदी विशेषों के वाचक नहीं हो सकते। सामान्य नाम होने से वर्त्तमान गंगा आदि नदियों का ग्रहण नहीं हो सकता। निरुक्त १।१३ में परिगणित नदी नामों में **'सिन्धवः'** **'इरावत्यः'** तथा **'सरस्वत्य'** नामों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। प्रधान सिन्धु नद एक है। इरावती और सरस्वती भी एक-एक हैं। फिर, इनके लिए बहुवचनान्त रूप क्यों चुने गये? निस्सन्देह ये पृथिवी पर बहनेवाली नदियाँ नहीं हैं। इनका यौगिक अथवा योगरूढ़ अर्थ माने बिना वेदार्थ नहीं बनता। यदि सरस्वती नदी विशेष का नाम होता और उससे लोकविश्रुत वर्त्तमान

सरस्वती का ग्रहण होता तो यास्क उसे नदी सामान्य के रूप में न देता। निरुक्त १२।२५ में यास्क ने ऋग्वेदीय **'पावका नः सरस्वती'** आदि १।३।१०-१२ मन्त्रों को दिया है। जलवाली होने से अथवा लौकिक धारणानुसार सरः का अर्थ तालाब लेकर सरस्वती का अर्थ तालाब से निकलनेवाली मानकर नदी अर्थ करना होगा। परन्तु जहाँ निघण्टु १।१३ में इसका बहुवचनान्त **'सरस्वत्यः'** पाठ नदी नामों में किया गया है, वहाँ निघण्टु १।११ में **'वाक्'** नाम में भी इसका वाचन किया गया है। यजुर्वेद ८।४३ का गोपरक अर्थ करते हुए महीधर ने लिखा है—"**सरस्वति सरतीति सरः क्षीरं तद्वति। सर इत्युदक नाम यास्योक्तेः। उदकशब्देनात्र क्षीर-मुच्यते।**"

ऋग्वेद १।३।१० में सरस्वती को **'पावका'** (पवित्र करनेवाली), **वाजिनीवती'** (ज्ञान से युक्त), **'धियावसुः'** (शुद्ध कर्म के साथ वास देनेवाली और **'यज्ञं वष्टुः'** (कर्मरूप यज्ञ को प्रकाशित करनेवाली) कहा है। १।३।११ में उसे **'सूनृतानां चोदयित्री'** (उत्तम भावनाओं की प्रेरक) तथा **'सुमतीनां चेतन्ती'** (उत्तम बुद्धियों को चेतना देनेवाली) बताया है। इस प्रकार १।३।१२ में सरस्वती को **'केतुना प्रचेतयति'** (बुद्धि या ज्ञान द्वारा प्रकाशित करनेवाली) कहा है। ऋग्वेद १०।१७।७ में कहा है—**'सरस्वतीं सुकृतः अह्वयन्तः'**—पुण्यात्मा लोग सरस्वती को पुकारते हैं। वहीं नवम मन्त्र में कहा है—**'सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभि-नक्षमाणः'** अर्थात् यज्ञ को प्राप्त होते हुए गृहस्थ लोग जिस सरस्वती को अपने दक्षिण भाग में स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त मन्त्रों में सरस्वती के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह किसी नदी को लक्ष्य करके नहीं कहा जा सकता। मनुस्मृति के अनुसार **'अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति'** जल से तो केवल भौतिक शरीर को शुद्ध-पवित्र किया जा सकता है। नदीरूप सरस्वती इतना ही कर सकती है। सत्य बातों की प्रेरिका होना, सुमती-मान मनुष्यों की शिक्षिका होना, यज्ञ को धारण करना आदि एक नदी के सन्दर्भ में सर्वथा असंगत है। **सरस्वती** के साथ **केतु**=बुद्धि का भी सम्बन्ध है। विद्या की देवी के रूप में वह विख्यात है। वेदविद्या को भी सरस्वती कहते हैं, क्योंकि वह जीवन को संतृप्त करनेवाले ज्ञान के रस से भरपूर है। वह भौतिक विद्या, अध्यात्म विद्या, शरीर विद्या, मनोविज्ञान, दर्शन आदि सब विद्याओं का भण्डार है। वह पावका=मानस और आचरण को पवित्र करनेवाली है, वह वाजिनी-वती=सशक्त क्रियावाली है, वह धियावसु=नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा और कर्त्तव्य प्रेरणा के द्वारा अपने अध्येता को आश्रय प्रदान करनेवाली है। वेदविद्या से विभूषित नारी ही यज्ञ में यजमान पति के दक्षिण भाग में बैठने की अधिकारिणी है। इस प्रकार वेद में सिन्धु या सरस्वती का किसी नदीविशेष के रूप में अस्तित्व उत्पन्न नहीं होता और न ही सप्तसिन्धु से किसी देशविशेष का बोध होता है।

वेद में जिस धर्म का प्रतिपादन किया है, उसका लक्षण महर्षि कणाद ने इन शब्दों में किया है–**'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** (वै०द०१।१।२) इसलिए वेदों की उपादेयता इसी में है कि मनुष्य अपनी ऐहिक और पारलौकिक उन्नति के लिए वेदमन्त्रों में निहित ज्ञान से लाभ उठा सके। अभ्युदय के लिए सम्पूर्ण ज्ञान वेद से अतिरिक्त कहीं नहीं मिल सकता। उपर्युक्त तीनों मन्त्रों की देवता सरस्वती है। नदीसामान्य के रूप में सरस्वती की सार्थकता की दृष्टि से इन तीनों मन्त्रों का अर्थ द्रष्टव्य है—

१. पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः॥

—ऋ० १।३।१०

(**सरस्वती**) जलवती प्रवहमान, वृष्टिः (**पावका**) समस्तस्थलानां शोधयित्री पवित्रकारिणी वा (**वाजेभिः**) अन्नैः (**वाजिनीवती**) अन्नवती अन्नपूर्णा (**धियावसुः**) विशिष्टकर्मणा धनान्नप्रदायिनी (**नः**) अस्मभ्यं (**यज्ञं**) कृषिकर्म (**वष्टु**) वहतु साफल्यं प्रापयतु वृष्टिः सिद्धिप्रकाशिका भवेदति भावः। **'सर उदकनाम'** (**निघण्टु**) **सरस्वती जलवती।**

वर्षा अपने जलप्रवाह से समस्त धरातल को पवित्र करती है, गन्दगी, रोगोत्पादक कीटाणु आदि को नष्ट करती है, वह अन्नपूर्णा है, क्योंकि धरातल को जलमय करके अन्नोत्पादन योग्य बनाती है और इस प्रकार कृषकों के यज्ञ को सफल करती है।

२. चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥

—ऋ० १।३।११

(**सूनृतानां**) अन्नान्नं (**चोदयित्री**) प्रेरयित्री, उत्पादिका (**सुमतीनां**) प्रबुद्ध-कृषमाणानां (**चेतन्ती**) मार्गदर्शिका, उत्साहप्रदायिनी (**सरस्वती**) वृष्टिः (**यज्ञं**) कृषिकर्म (**दधे**) धारयित्री भवतु, अस्ति।

अन्नों के उत्पादन की प्रेरणा देनेवाली और प्रबुद्ध कृषकों को अन्नोत्पादन के लिए प्रोत्साहन देनेवाली वर्षा कृषिकर्म को सफल बनाती है।

३. महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धियो विश्वा विराजति॥

—ऋ० १।३।१२

(**सरस्वती**) वृष्टिः (**महो अर्णः**) समुद्र इव जलपूर्णा अस्ति। सा (**केतुना**) विशिष्टकर्मणा (**प्रचेतयति**) कृषकान् ज्ञापयति बोधयति वा। सा (**धियः**) कर्माणि (**विश्वा**) सर्वाणि (**विराजति**) प्रकाशयति, कृषिकर्माणि कर्तुं प्रेरयति।

जल से भरे हुए मेघ अमित वर्षा करने में समर्थ हैं। वृष्टि जल बरसाकर किसानों को उद्बोधन करती है कि अब अन्न बोने का समय आ गया है और उन्हें कृषिकर्म में जुट जाना चाहिए।

स्पष्ट है कि वर्णन नदीमात्र का है, सरस्वती नामवाली किसी नदी विशेष का

नहीं। प्रकृति में निरन्तर हो रहे वृष्टियज्ञ में इन मन्त्रों का विनियोग करना सर्वथा सार्थक है।

वेदमन्त्रों में **'बभूव' 'दाधार'** जैसे भूतकालिक क्रियापदों को देखकर वेद में इतिहास होने का भ्रम होता है। परन्तु पाणिनि के अनुसार वेद में लौकिक भूतार्थक लकारों का प्रयोग नहीं है। उनका कहना है—**'छन्दसि लङ्लुङ्लिट् धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः'**। अर्थात् इन लकारों का प्रयोग धातु का अर्थमात्र बताने के लिए किया जाता है। काशिकाकार ने इसकी व्याख्या में लिखा—**'छन्दसि विषये धातुसम्बन्धे सर्वत्र कालेषु लङ् लुङ् लिट् प्रत्यया भवन्ति'**। महाभाष्यकार पतञ्जलि का भी यही मत है, अतः इन लकारों के प्रयोग के कारण भूतकाल की क्रिया मानकर अर्थ करना वेद और व्याकरण दोनों के साथ अन्याय करना होगा।

जलप्लावन

जलप्लावन की घटना का उल्लेख मिस्र, यूनान, बेबीलोन, सुमेर, भारत, यहाँ तक कि अमरीका तक के इतिहास में मिलता है। संसार में अवान्तर प्रलय के काल में ऐसा संप्रक्षलन सदा से होता रहा है—'**संप्रक्षालनकालोऽयं लोकानां समुपस्थितः** (महा० वन० १९०।२९)। परन्तु सर्वत्र एक जैसी कथा नहीं मिलती। इनमें कई बड़े अन्तर हैं। प्रचलित कथाओं में तीन मुख्य हैं जो इस प्रकार हैं—

१. जलप्रलय कथा का एक रूप पश्चिमी एशिया और रूपान्तर के साथ अफ्रीका में प्रचलित है। बाइबल में यह विस्तार से दी गई है। तदनुसार ईश्वर ने हज़रत नूह नामक महापुरुष को सावधान कर दिया था। उन्होंने एक जहाज़ बनाकर उसमें सभी प्राणियों का एक-एक जोड़ा रक्खा। इसके बाद निरन्तर चालीस दिन तक मूसलाधार जल बरसता रहा। आकाश-पाताल एक हो गये। चारों ओर जल-ही-जल हो गया। केवल नूह का जहाज़ बचा रहा। चालीस दिन के बाद जब वर्षा थमी तब जहाज़ अरारत पहाड़ की चोटी पर जाकर रुका। फिर धीरे-धीरे नूह द्वारा सुरक्षित जोड़ों से सृष्टि का प्रसार हुआ।

२. दूसरी कथा पारसियों की है। अहुरमज्द ने एक सभा बुलाई। उसमें एक ओर से तो सब असुर आये। दूसरी ओर से मनुष्यों के साथ यिम आये। तब अहुरमज्द ने कहा—'हे विवनघ्रत के पुत्र यिम (वैदिक विवस्वान् के पुत्र यम), भौतिक जगत् में अब भयावह जाड़ा पड़नेवाला है। दुःखद पाला पड़ेगा; खूब वर्षा होगी; जंगल में, पहाड़ों पर और निचले स्थानों में रहनेवाले सब प्राणी नष्ट हो जायेंगे। इसलिए तुम जाकर एक वर (बाड़ा) बनाओ। उसमें मनुष्य, पशु, पक्षी—सबके बीज लाकर रक्खो। सबका एक-एक जोड़ा लाओ अर्थात् प्रत्येक जाति के थोड़े-थोड़े प्राणी रक्खो। यिम ने अहुरमज्द के कहने के अनुसार बाड़ा बनाया और बसाया। वहीं धीरे-धीरे सृष्टि बढ़ती गई।

३. तीसरी कथा भारत में प्रचलित है। इसके पौराणिक रूपों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। पर मूल कथा वह है जो शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध है। उसी को प्राचीन समझना चाहिए। ब्राह्मणग्रन्थ वेद के व्याख्यानरूप हैं। परन्तु शतपथ में

दी गई कथा की ओर वेदों में कहीं भी संकेत नहीं है। इसलिए इस घटना का वेदकाल के पीछे की होना निश्चित है। यह कहा जाता है कि घटित होने के बाद उसकी स्मृति बनी रही और कालान्तर में देश के सभी इतिवृत्तों—इतिहास, पुराण आदि में किसी-न-किसी रूप में स्थान पा गई।

शतपथ ब्राह्मण के पहले प्रपाठक के आठवें अध्याय के पहले ब्राह्मण में लिखा है कि एक प्रातःकाल के समय मनु के हाथ में एक छोटी-सी मछली आ गई। उसने उनसे कहा—"मेरी रक्षा करो, आगे चलकर एक बहुत बड़ी बाढ़ आनेवाली है, जल से समस्त पृथिवी आप्लावित होनेवाली है जिसमें सब प्राणियों का नाश हो जायेगा। उस समय मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी।" मनु ने उसे बचा लिया। वह बढ़ती गई। जब जलप्लावन का समय आया तो मनु ने उसके आदेश के अनुसार एक नाव बनाई। जब ओघ (बाढ़) आया तो उन्होंने उसके सींग में नाव की रस्सी डाल दी—**'तस्य शृङ्गे पाशं प्रतिमुमोच'**। मछली नाव को खींचकर उत्तरीय पहाड़ की ओर ले गई—**'तेनैतमुत्तरं गिरिमतिदुद्राव'**। वहाँ पहुँचकर मछली ने उनसे कहा कि जब तक पानी कम न हो तब तक नाव को पेड़ से बाँध दो। जब पानी घटा तो अकेले मनु बच गये थे—**'मनुरेवैकः परिशिशिषे।'** कुछ काल के पश्चात् वहाँ श्रद्धा नाम की स्त्री उत्पन्न हुई। उससे मानवी प्रजा की सृष्टि हुई।

इन तीनों आख्यानों में भेद है। एक तो बचने के प्रकार में भेद है। पर सबसे बड़ा भेद प्रलय के स्वरूप में है। बाइबल में घोर वर्षा होती है, अवेस्ता में बर्फ पड़ती है और शतपथ में जल बढ़ जाता है। कुछ लोगों का मत है कि ये तीनों वर्णन एक ही घटना के हैं। पर जब मूल घटना के स्वरूप में इतना अन्तर है तो उन्हें एक कैसे माना जा सकता है?

अविनाशचन्द्र दास का कहना है कि भारतीय कथा उस समय की है जब भौगोलिक उपद्रव हुए जिनसे दक्षिण की ओर का समुद्रतल ऊपर उठा। उसके ऊपर उठने से राजपूताना मरुभूमि बना। बहुत ऊँची जगहों को छोड़कर सर्वत्र जल-ही-जल हो गया होगा। इसीलिए कहा गया है कि मत्स्य मनु को उत्तरगिरि की ओर ले गया। उत्तर में हिमालय की ऊँची चोटियाँ हैं जहाँ रक्षा हो सकती थी।

जलप्लावन का वर्णन मत्स्यपुराण (विक्रम से लगभग २७०० वर्ष पूर्व) और महाभारत (विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व) में पाया जाता है। महाभारत से पूर्व शतपथ ब्राह्मण में और उससे पूर्व वाल्मीकि रामायण में भी इसका उल्लेख मिलता है। पुरातन जातियों ने अपने-अपने साहित्य में इसका ज्ञान सँजोये रक्खा है। परन्तु जहाँ दूसरी जातियों ने इसका आभासमात्र सुरक्षित रक्खा है, वहाँ भारतीय परम्परा में इसका अधिक स्पष्ट और सुसंगत इतिवृत्त उपलब्ध है।

तदनुसार जलप्लावन के समय पृथिवी का अधिकांश भाग जलमग्न हो गया। पर्वतों के ऊपरी भाग ही जल के ऊपर रह गये। जब वर्षा थम गई तो पृथिवी का जल कम होने लगा। कुछ जल पृथिवी के भीतर समाने लगा और कुछ वाष्परूप होकर अन्तरिक्ष में जाने लगा। वायुपुराण में लिखा है—

पद्मेत्यभिहिता कृत्स्ना पृथिवी बहुविस्तरा।
तल्लोकपक्षं श्रुतिभिः पद्ममित्यभिधीयते ॥

वहीं अन्यत्र उस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है—

पद्माकारा समुत्पन्ना पृथिवी सवनद्रुमा।
तदस्य लोकस्य लोकपद्मस्य विस्तरेण प्रकाशितम् ॥—४१।८७, ८९

वर्त्तमानकाल में भूगोलविशारद पृथिवी को अण्डाकारा बताते हैं। प्राचीन ऋषियों ने इसे अण्डाकारा, छत्राकारा, पद्माकारा तथा अण्डकटाहरुपिणी कहा है। (वायुपुराण ५०।७०।८०)

भारतीय लौकिक एवं वैदिक उभयविध वाङ्मय में प्रसिद्ध है कि विष्णु ने वराहरूप धारण करके जलनिमग्न पृथिवी का उद्धार किया। निघण्टु १।१२ में **वाः** (=वर) उदक नामों में पठित है। **वराह=वर+आह में आङ् पूर्वक हृ धातु** से निष्पन्न है। इस प्रकार वराह शब्द का मूल अर्थ है—वर=जल को आहरण करने या नष्ट करनेवाला, इस मूल यौगिक अर्थ में वराह शब्द वैदिक वाङ्मय में उन सभी पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो जलप्लावन के पश्चात् पृथिवीस्थ जल को आहृत करके जलनिमग्न पृथिवी को बाहर निकालने में सहायक हुए।

वराह नाम मेघ का है। निघण्टु १।१० में वराह पद मेघनामों में पठित है। निरुक्त ५।४ में लिखा है—'**वराहो मेघो भवति, वराहरः**। अर्थात् वराह मेघ होता है, क्योंकि वह वर=जल का आहरण करनेवाला होता है। इसी आधार पर महाभारत (वनपर्व १९२।११) में लिखा है—

वाराहं रूपमास्थाय मयेयं जगती पुरा।
मज्जमाना जले विप्र वीर्येणासीत् समुद्धता ॥

वायुपुराण ६।१२ के अनुसार यह वराह दस योजन विस्तीर्ण, शतयोजन उच्छ्रित अर्थात् ऊँचा था। इससे स्पष्ट है कि यह वराह धरती पर विचरण करने-वाला पशुविशेष न होकर अन्तरिक्षस्थ मेघरूपी वराह ही था। वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, पुराणों तथा महाभारतादि में उपलब्ध अनेक प्रमाणों के आधार पर वराह का मेघवाची होना सिद्ध है।

हज़रत नूह का आर्य होना असन्दिग्ध है। नूह का तूफ़ान वैवस्वत मनु से सम्बन्धित जलप्लावन की कथा का ही विस्तार है। नूह के बड़े हेम की सन्तति जो मिस्र में रहती है, अपना सम्बन्ध मनु से बतलाती है, अपने को सूर्यवंशी कहती है

और वैवस्वत मनु के मूल विवस्वान् सूर्य को अपना इष्ट समझती है।[1]

इन मिस्रवालों की ही सन्तति अमरीका के मूल निवासी बताये जाते हैं। आज भी सूर्यवंशी राजा रामचन्द्र का 'रामसितव' नामी उत्सव मनाते हैं। नूह के जलप्लावन की कथा मिस्र, बेबीलोन, सीरिया, चाल्डिया, जुडिया, फारस, अरब, ग्रीस व चीन आदि संसार के समस्त देशों व जातियों में प्रसिद्ध है।

मद्रास विश्वविद्यालय के प्रो० रामचन्द्र दीक्षितार का मत है कि "हिब्रू अथवा इबरानी कथा बैबिलोनिया की कथा के आधार पर और बेबिलोनिया की कथा सुमेरिया की कथा के आधार पर और सुमेरिया की कथा भारतीय कथा के आधार पर लिखी गई है।"[2]

कतिपय विद्वानों का मत है कि जलप्लावन (Deluge) से पूर्व आर्यों का एक बड़ा समूह अपनी संस्कृति के साथ मेसोपोटेमिया में बसने गया था। सरस्वती तट से लेकर सिन्ध, बिलोचिस्तान, सीस्तान, ईरान और मेसोपोटेमिया (ईराक) तक इसके चिह्न मिले हैं। अब यह सिद्ध हो चुका है कि मेसोपोटेमिया में उर और किश की खुदाई से प्रलय के चिह्नों के नीचे जिस संस्कृति की सामग्री मिलती है वह भारतीय आर्यों की संस्कृति थी जो वहाँ जाकर बसे थे। कालान्तर में यूक्रेटीज़ नदी में बाढ़ आई जिससे उन लोगों को बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ा। इससे त्रस्त होकर वे अपनी मातृभूमि भारत में लौट आये। उस समय यहाँ ब्राह्मणग्रन्थों की रचना हो रही थी। इसलिए इस घटना का ब्यौरा शतपथ ब्राह्मण में प्रविष्ट हो गया। उस समय आर्यावर्त्त का राजा वैवस्वत मनु था, क्योंकि यह सारी घटना मनु के शासनकाल में हुई, इसलिए मनु को इसका केन्द्र बनाया गया। वस्तुतस्तु शतपथब्राह्मण में कहीं नहीं लिखा कि इस प्रलय का घटनास्थल आर्यावर्त्त या भारत था। बाद में पुराणकारों ने इस घटना को बढ़ा-चढ़ाकर महाभारत में जोड़ दिया। उनके अनुसार पुराणों का रचना-काल विक्रमी के बाद का है। भारतीय भूगर्भशास्त्र (Geology) से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि भारत में जल की ऐसी बड़ी बाढ़ कभी आई थी जिसमें (पुराणों के अनुसार) प्रलय का जल हिमालय के उच्चतम शिखरों तक पहुँच गया था।

---

१. The reader will not readily forget the city of Sun 'Helipolis' or 'Menes', the first Egyptian King of the Sun, the 'Manu Voiuasowat' or patriarch of Solar race, nor his state, that of great 'Menoo' whose voice was said to salute the rising sun—India in Greece, P. 174

२. The Hebrew version had the Babylonian for its basis, the Babylonian the Sumerian and the Sumerian the Indian version---The Matsya Purana, a Study, 1935, P. 14.

मैक्समूलर का कहना है कि पौराणिक गाथाओं की यह विशेषता रही है कि उनमें प्रतिदिन, प्रतिमास या प्रतिवर्ष होने वाली घटनाओं को एक विशेष घटना का रूप देकर उसे किसी राजा या देवता से सम्बद्ध कर एक कथा का रूप दे दिया गया है। जब ये हर रोज़ घटने वाली घटनायें 'एक बार की बात है' से आरम्भ की जाती हैं तो उनका रूप ऐतिहासिक-सा हो जाता है।···मुझे इस बात में तनिक सन्देह नहीं कि समय-समय पर आने वाली भयंकर बाढ़ों एवं उनसे होने वाली अपरिमित हानियों को ही अतिशयोक्ति में रंगकर जलप्लावन की कथा बनी है।[1]

अनेक पौराणिक गाथाओं के सम्बन्ध में मैक्समूलर का चिन्तन सही हो सकता है, पर जलप्लावन की घटना के सम्बन्ध में नहीं। इतनी जातियों के इतिहास में, जो सहस्रों वर्षों से पृथक् हो चुकी हैं, इसका उल्लेख मिलता है। यह नहीं माना जा सकता कि संसार की इन विभिन्न जातियों ने किसी अत्यन्त प्राचीन कालखण्ड में किसी सभा या गोष्ठी में एकत्र होकर यह निश्चय किया होगा कि एक मिथ की कल्पना करके उसे सर्वत्र प्रसारित किया जाए। अतः जलप्लावन की घटना एक ऐतिहासिक तथ्य है। जो भी हो, सभी जातियों के इतिहास में एक घटना के लगभग समान रूप में पाये जाने से किसी समय उनके मूलतः एक होने की मान्यता को बल मिलता है।

---

१. It is a peculiarity of many of the ancient myths that they represent events which happen every day or every month or every year as having happened once upon a time···I have little doubt, therefore, that the accounts of deluge, for instance, which we find almost everywhere, are originally recollections of the annual torrents of rain or snow....India; what can it teach us.

भाषा

जब यूरोपियन विद्वानों ने भारत के सम्पर्क में आकर संस्कृत का अध्ययन किया तो वे संस्कृत की ग्रीक व लेटिन के साथ समानता देखकर दंग रह गए। यह समानता केवल शब्दकोश में ही नहीं है, अपितु भाषा के नियामक व्याकरणशास्त्र में भी है। भाषाविज्ञान के क्षेत्र में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खोज थी। सन् १७६७ में ग्रीक और लेटिन की संस्कृत के साथ समानता का उद्घोष करने वाले एक फ्रेंच विद्वान् 'अरदू' थे। उनके फ्रेंच होने के कारण ब्रिटिश विद्वानों ने उनकी इस बात पर ध्यान नहीं दिया। सन् १७८६ में रायल एशियाटिक सोसायटी आफ़ बंगाल के तृतीय अधिवेशन में सर विलियम जोन्स ने अपने उद्गार जिन शब्दों में प्रकट किए थे, वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण थे। उन्होंने कहा था—"संस्कृत भाषा कितनी पुरानी क्यों न हो, इसका गठन अद्भुत है। यह ग्रीक से अधिक निर्दोष, लेटिन से अधिक समृद्ध और इन दोनों से अधिक उत्कृष्ट एवं परिमार्जित है। इसके वावजूद धातुओं और व्याकरणिक रूपों में वह इन दोनों से इतना प्रगाढ़ सम्बन्ध रखती है कि वह आकस्मिक नहीं माना जा सकता—इतना प्रगाढ़ कि कोई भाषाविद् इनको किसी एक स्रोत से जो अभी तक अस्तित्व में नहीं है, उत्पन्न माने बिना नहीं रह सकता।"[1]

जोन्स की इस स्थापना से यूरोप के विद्वानों में एक तहलका-सा मच गया। हीगल ने तो यहाँ तक कह दिया कि यह आविष्कार एक नयी दुनिया की खोज के समान है। इस समय से उस नये विज्ञान का आरम्भ हुआ जिसे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के नाम से जाना जाता है। श्लीगल ने १८०८ में यह दावा किया था कि सभी भाषायें संस्कृत से निकली हैं। जोन्स के इन शब्दों ने भारत से बाहर इस भाषा का प्रयोग करने वालों की मूल भूमि की खोज करने की प्रेरणा दी। तभी से भारत में आर्य भाषा और संस्कृति को लेकर आने वाले लोगों की खोज होती रही जो आज तक जारी है। इतिहास, नृतत्व ज्योतिष, भूगोल और भूगर्भविज्ञान सबको इस काम पर लगा दिया गया। परन्तु किसी विज्ञान का पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर निष्पक्ष भाव से उपयोग नहीं किया गया। भाषाशास्त्र के निष्कर्ष बहुत स्पष्ट हैं, परन्तु उन दिनों में भी उन्हें आधार नहीं बनाया गया। सारा निष्कर्ष अटकलों

१. विलियम जोन्स : एशियाटिक रिसर्जेण्ट्स, १७८८, ४२२

और कल्पनाओं पर आधारित करने के प्रयत्न किये जाते रहे। यह जानते और मानते हुए भी कि संस्कृत मूलतः भारत की भाषा है, आर्यों के मूल निवास की खोज भारत में न करके मध्य एशिया में की जाती रही।

संसार की प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाओं का अध्ययन कर विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इटेलियन, फ्रेंच, इंगलिश, जर्मन, स्पेनिश, केल्टिक, ट्यूटोनिक, स्लावोनिक, ग्रीक, लेटिन, लिथुनियन, अल्बेनियन आदि यूरोपियन भाषाओं, ज़ेन्द, पर्शियन, पश्तो, बलूची, कुर्द व आर्मिनियन आदि एशियन भाषाओं और हिन्दी, पंजाबी, बंगला, उड़िया, असमिया, गुजराती, मराठी, तेलगू, कन्नड़, तमिल, मलयालम, कश्मीरी, सिन्धी आदि भारतीय भाषाओं का मूल एक ही है। इन सब भाषाओं में शब्दकोश और व्याकरण की जो आश्चर्यजनक समानता है, उसका कारण यही हो सकता है कि इन विविध भाषाओं के बोलने वाले लोगों के पूर्वज किसी अत्यन्त प्राचीन कालखण्ड में किसी एक स्थान पर निवास करते थे और एक भाषा बोलते थे। कालान्तर में जब वे अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होकर विविध प्रदेशों में बस गए, तो उनकी भाषा भी विविधरूपों में विकसित होती गई। पर मूलतः एक होने के कारण वह समानता बनी रही जो आज हमें आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। जिस प्रकार गुजराती, मराठी, बंगला आदि विविध भारतीय भाषाओं का उद्भव प्राचीन संस्कृत भाषा से हुआ है, वैसे ही यूरोप और एशिया की विभिन्न भाषाओं का स्रोत भी संस्कृत है। तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के जनक बॉप ने कहा था—"मैं नहीं मानता कि ग्रीक, लेटिन और दूसरी यूरोपीय भाषायें संस्कृत से निकली हैं... इसकी अपेक्षा मैं यह मानना अधिक उचित समझता हूँ कि ये सभी भाषायें किसी एक ही मूल भाषा के विविध रूप हैं जिसे संस्कृत ने अधिक अविकल रूप में सुरक्षित रक्खा है।" हम समझते हैं कि यहाँ जाने-अनजाने बॉप ने मूल 'वैदिक भाषा' की ओर संकेत किया है।

भारतीय वैयाकरणों ने देखा कि चाहे वह शुद्ध पुस्तकीय भाषा हो और चाहे सामान्य बोलचाल की प्राकृत भाषायें, इनमें पाये जाने वाले शब्दों और उनके अर्थों में बहुत अधिक साम्य है। जैसे हम एक धातु से विविध प्रयोजनों के लिए तरह-तरह के उपकरण बना लेते हैं और रूपभेद के बावजूद तात्त्विक दृष्टि से उनमें एक ही धातु होती है, वैसे ही विविध प्रयोजनों के लिए किन्हीं तात्त्विक धातुओं से विविध शब्द गढ़ लिए गये हैं। धातुओं की खोज और शब्दावली के रूपगत तथा अर्थगत विकास के नियमों की स्थापना का उनका प्रयत्न किसी प्राचीन भाषा की पुनर्सर्जना का निश्चय ही बहुत साहसिक प्रयत्न कहा जा सकता है।

जब मूलतः एक भाषा थी तो उसके बोलने वाले भी एक वर्ग या एक जाति के लोग रहे होंगे। उनके संचलन या बिखराव से ही उस भाषा का क्षेत्र विस्तार और कालान्तर में प्रभाव-क्षेत्र में प्रव्रजित होनेवाले जनों के अनुरूप ही उस भाषा का

विकास हुआ होगा। जब यह बात सत्य है कि अटलाण्टिक महासागर के समुद्रतट से भारत तक के विस्तृत क्षेत्र में जो भाषायें बोली जाती हैं उन सबका एक उद्गम है तो साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि उनके बोलने वाले लोग एक ही विशाल समुदाय के अंग हैं जो अत्यन्त प्राचीन काल में एक ही स्थान पर निवास करते थे। विल्सन ने विष्णु पुराण के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में लिखा है कि सब भाषाओं के मूल में संस्कृत होने से संसार के समस्त राष्ट्रों के एक ही स्थान से निकलकर यत्र-तत्र-सर्वत्र फैलने का निश्चय होता है।[1] भारत, ईरान, यूरोप आदि के निवासी जाति की दृष्टि से एक हैं और उनके रूप-रंग, भाषा आदि में जो अन्तर दिखाई देता है, उसका कारण जलवायु की भिन्नता और चिरकाल से एक-दूसरे से दूर रहना ही है।

मैक्समूलर के अनुसार एक समय ऐसा था जब भारतीयों, ईरानियों, यूनानियों, रोमनों, रूसियों, केल्टो (वेल्स व पश्चिमी फ्रांस के निवासी) और जर्मनों के पूर्वज एक चारदीवारी में ही नहीं, एक ही छत के नीचे रहते थे।[2] भाषा-साम्य ऐसी प्रत्यक्ष बात है जिसे झुठलाया नहीं जा सकता था। फलतः यह एक सामान्य सिद्धान्त बन गया कि जिनकी भाषायें मातृ स्वरूपा वैदिक भाषा (प्रायः यह माना जाता है कि सब भाषाओं की जननी संस्कृत है। परन्तु अनेक विद्वानों का मत है कि संस्कृत अपने समय की सदृश भाषाओं की माता नहीं, बहन है। इन सब भाषाओं का स्रोत अति प्राचीन काल की कोई भाषा रही होगी जो अब कहीं नहीं बोली जाती। वह वेदों की समसामयिक वैदिक भाषा ही हो सकती है। दूर तक गहराई में जाकर खोज करने पर इस मत की पुष्टि होती है।) से निकली हैं, उनके पूर्वज एक ही थे। अर्थात् किसी समय वे सब एक ही साथ रहते थे। जब ये लोग इतस्ततः दूसरे देशों में फैले तो एक-दूसरे से दूर हो जाने के कारण धीरे-धीरे उनकी भाषाओं में अन्तर पड़ता गया। कालान्तर में वह इतना बढ़ गया कि उसने साम्य को दबा-सा दिया।

---

१. The affinities of the Sanskrit language prove a common origin of the now widely scattered nations amongst whose dialects they are traceable and render it unquetionable that they must have all spread abroad from some centrical spot in that part of the globe first inhabited by mankind.
—Vishnuu Purana, Oxford, 1864.

२. There was a time when the first ancestors of the Indians, the Persians, the Greeks, the Romans, the Slavs, the Celts and the Germans were living together within the same enclosure, nay, under the same roof—Maxmueller : Lectures on Science and Religion, First Series, p. 211-12.

एक विशाल क्षेत्र में एक जैसी भाषा व संस्कृति के प्राचीनकाल में प्रचलित रहने की पुष्टि के साथ यह तो निर्विवाद है कि मूल जन उस पूरे क्षेत्र में से ही कहीं के रहे हो सकते हैं। अब उस क्षेत्र या प्रदेश का निश्चय करना रह जाता है। ऐलफ्रैड ब्राम्बेत्ती ने अत्यन्त व्यापक और विशद अध्ययन के बाद सर्वनामों और क्रियाओं की समानता का विवेचन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि सबसे अधिक समानतायें भारतीय केन्द्र को घेरकर फैली हैं और परस्पर दूरस्थ भाषाओं में पाई जाती हैं। अतः भारत ही वह स्थान है जहाँ से सब जातियाँ और भाषायें अलग-अलग दिशाओं में पहुँची हैं।[1]

प्राचीन वाङ्मय में आर्य शब्द जातिविशेष के लिए प्रयुक्त नहीं होता था। अब से लगभग १५० वर्ष पूर्व जब यूरोपियन लेखकों ने प्राच्य विद्याओं का अध्ययन आरम्भ किया, तभी से इस शब्द को जातिविशेष के अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा। इस प्रकार मूलतः गुणवाचक होते हुए भी कालान्तर में योगरूढ़ होकर आर्य शब्द संस्कृत और ईरानियन भाषा में अपनी जाति या समाज के लिए प्रयुक्त होने लगा। भारत के लोग तो अपने को आर्य कहते ही थे, ईरानी लोग भी अपने लिए इसी नाम का प्रयोग करते थे। 'ईरान' शब्द स्वयं आर्य या आर्यन का अपभ्रंश है। ईरान के शहंशाह भी अपने आपको 'आर्यमेहर' (सूर्यवंशी आर्य) कहते थे। इस नाम की संस्कृति का संकेत 'आयरलैण्ड' के 'आयर' में भी विद्यमान है। आर्य के जातिपरक होने की कल्पना को तथ्यात्मक रूप देने के लिए पाश्चात्यों ने भारोपीय (Indo-Europeon) भाषा की कल्पना की और इस सम्पूर्ण भाषावर्ग का सम्बन्ध कल्पित आर्य जाति से जोड़ दिया जिससे उसे अभारतीय (विदेशी) सिद्ध करने में सहायता मिल सके।

भारोपीय भाषा

आदि भारोपीय के अध्येताओं को सबसे अधिक उलझन का सामना टवर्ग तथा सघोष महाप्राण ध्वनियों की व्याख्या करते समय करना पड़ता है। सघोष महाप्राण ध्वनियों का अस्तित्व किसी अन्य भारोपीय भाषा में तो पाया ही नहीं जाता, पड़ोस की ईरानी शाखा में भी नहीं मिलता। तथोक्त द्रविड़ भाषाओं में तो सघोष महाप्राण का ही नहीं, अघोष महाप्राण और सघोष अल्पप्राण ध्वनियों का भी अभाव है। आर्य भाषा के अतिरिक्त भारत की किसी अन्य बोली में भी सघोष महाप्राण ध्वनियाँ नहीं पाई गई। इसके इसके बावजूद मूल भारोपीय भाषा में इसकी कल्पना की गई है। डा० रामविलास शर्मा लिखते हैं—

"कहा जाता है कि आर्यों ने द्रविड़ों को परास्त किया और उन्हें अपना दास बनाया। यदि यह बात सही है तो मानना होगा कि मुट्ठीभर आर्य आक्रमणकारी

---

१. मार्गरेट श्लाफ—गिफ्ट आफ टंग्स, १९४९, पृ० ७३-७४।

ऐसे देश में आये जहाँ की बहुसंख्यक जनता का भाषायी परिवेश घ्, ध्, भ् जैसी ध्वनियों के प्रतिकूल था। इस विरोधी परिवेश में दो-चार दिनों तक भी इन ध्वनियों का सुरक्षित रहना कठिन था। पर वैदिक काल से अब तक इन ध्वनियों का अविच्छिन्न व्यवहार भारत में होता आया है। द्रविड़ आदि भाषाओं के समुद्र में इन ध्वनियों को डूबकर विलीन हो जाना चाहिए था। यूरोप में इस प्रकार के विरोधी परिवेश का प्रमाण नहीं मिलता। तब भी वहाँ इनका लोप हो गया और भारत जैसे विरोधी परिवेश में ये ध्वनियाँ कायम रहीं। इसका क्या कारण है ?"[1]

डा० शर्मा के अनुसार इसका कारण यह है कि "महाप्राणता और सघोष महाप्राणता दोनों के प्रसार का मुख्य केन्द्र उत्तर भारतीय क्षेत्र—ब्रह्मावर्त्त या मध्य देश—है। यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि महाप्राणता और सघोष महाप्राणता के जो लक्षण इस उत्तर भारतीय केन्द्र से दक्षिण-पूर्वी एशिया में फैलते दिखाई देते है, वे मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया और इसकी सीमान्त भूमि यूरोप में भी प्रसारित हुए होंगे।"[2] प्रकारान्तर से कहें तो, यदि भाषाविज्ञान से हम कोई निष्कर्ष निकाल सकते हैं तो वह भी इस बात की पुष्टि करता है कि मूल भाषा, जिसका प्रसार भारोपीय क्षेत्रों में हुआ, भारत में ही विकसित हुई थी। भारत से बाहर से वैदिक या आर्य भाषा के आने का कोई प्रमाण नहीं दिखाई देता, जबकि भारतीय व्यापारियों के माध्यम से इस प्रभाव के बाहर फैलने की हर सम्भावना दिखाई देती है।

भाषा की जिस समानता का हमने उल्लेख किया है, वह इतना स्पष्ट है कि जो इनमें से दो-तीन भाषायें पढ़ेगा, उसका ध्यान इधर जाये बिना नहीं रहेगा। बहुत से संज्ञा शब्द सबमें हैं, कई सर्वनाम और धातु भी थोड़े से उलटफेर के साथ मिलते हैं। बीच की भाषाओं को छोड़ दीजिए, उदाहरणार्थ संस्कृत, ईरानी और अंग्रेजी को ही लीजिए—

संस्कृत	ईरानी	अंगरेजी
पितृ	पिदर	फ़ादर
मातृ	मादर	मदर
भ्रातृ	बिरादर	ब्रदर
दुहितृ	दुख़्तर	डॉटर
पद	पा	फ़ुट
गो	गो	काउ
भ्रू	अब्रू	ब्रो

१. रामविलास शर्मा : भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी, १९७९, I, १७।

२. वही, २६।

यह तो बहुत थोड़े से शब्द हैं। ऐसे सैकड़ों शब्दों की सूची बन सकती है। शब्दों के अतिरिक्त ग्रीक, लेटिन, ज़ेन्द और संस्कृत के व्याकरण में भी काफी समानता थी। आजकल तो इनसे निकली हुई भाषाओं का व्याकरण सर्वत्र सरल हो गया है। उस समय सर विलियम जोन्स ने तीन-चार भाषाओं के आधार पर ही अपना मत स्थिर किया था। परन्तु बाद में देखा गया तो बीसों भाषायें संस्कृत से मिलती पाई गईं। यदि हम भारत के पश्चिम की ओर चलें तो पहले पश्तो, फिर बलोची और फिर ईरानी (फ़ारसी) मिलेगी। ये तीनों जेन्द से निकली हैं और जेन्द संस्कृत से मिलती है। फिर रूस और बलगारिया की स्लाव भाषायें, आधुनिक यूनानी और इटालियन, जर्मन, फ्रेंच, डच, डेनिश, पुर्तगाली आदि यूरोप की प्रायः सभी प्रचलित भाषायें भी इसी सूची में आती हैं। इसका तात्पर्य यह निकला कि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं में संस्कृत, ज़ेन्द, ग्रीक, व लेटिन और आजकल प्रचलित भाषाओं में इन्हीं से निकली हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, तेलगू, कन्नड़, तमिल, मलयालम, पश्तो, ईरानी, रूसी, जर्मन, फ्रेंच, इंगलिश, इटालियन, स्पेनिश, पुर्तगाली आदि सब एक-दूसरे से मिलती हैं। एक-दूसरे से मिलने का एक ही अर्थ है कि इनका उद्गम किसी एक ही जगह से हुआ है। इसी कारण कालान्तर में अन्तर पड़ जाने पर भी उनमें मूलतः एक होने की भावना बनी रही। पहले यह विचारधारा इंगलैण्ड और जर्मनी में उभरकर सामने आई। वहाँ के लोग लम्बे और गोरे होते हैं, आँखें बड़ी होती हैं और नाक भी सुन्दर होती है। पुरानी मूर्त्तियों को देखने से प्रतीत होता है कि पुराने यूनानी भी लम्बे और सुन्दर होते थे। वैदिक कालीन आर्य भी लम्बे, गोरे और सुडौल होते थे। इस प्रकार इन सबके मूलतः आर्य होने की मान्यता को बल मिला।

संस्कृत से विभिन्न भाषाओं की समानता दिखाने के लिए यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

ज़ेन्द

संस्कृत	ज़ेन्द	संस्कृत	ज़ेन्द
असुर	अहुर	विश्व	विस्प
सोम	होम	अश्व	अस्प
सेना	हेना	गोमेध	गोमेज
हस्त	अस्त	मनस्	मनो
आहुति	आजुति	वैद्य	वैद्य
जानु	ज़ानु	रथ	रथ
अजा	अज़ा	गाथा	गाथा

फ़ारसी

संस्कृत	फ़ारसी	संस्कृत	फ़ारसी
तनु	तन	शत	सद
बाहु	बाज़ू	आप	आब
हस्त	दस्त	तारा	सितारा
अंगुष्ठ	अंगुश्त	गोधूम	गन्दुम
ग्रीवा	गरेबां	श्वेत	सफ़ेद
गो	गाव	विष्टर	बिस्तर
पंच	पंज	अस्ति	अस्त

अंगरेज़ी

संस्कृत	अंगरेज़ी	संस्कृत	अंगरेज़ी
मनु	मैन	पथ	पाथ
सूनु	सन	नाम	नेम
त्रि	थ्री	ऋत	राइट
अष्ट	एट	तरु	ट्री
मूष	माउस	स्वेद	स्वैट
लोक	लुक	चन्दन	सेंडल
हृत	हार्ट	दशमलव	डेसिमल
अन्तर	अण्डर	द्वार	डोर
दन्त	डेंट	समिति	कमिटी

अरबी

संस्कृत	अरबी	संस्कृत	अरबी
हर्म्य	हरम	सुर	हूर
अन्तकाल	इन्तक़ाल	गल्भ	बल्ग
लोहित	लहू	सप्त	सिब्बा

चीनी

संस्कृत	चीनी	संस्कृत	चीनी
स्थान	तान	श्री	शिर
ज्योतिस्थान	जितान	जन	जिन
अम्बा	मा	लिंग	लंग
होम	घोम	द्यौ	तौ

जापानी

संस्कृत	जापानी	संस्कृत	जापानी
क:	का	द्यो	दे
उक्ष	ओडशी	बहुत्व	भोत्तो
शिष्य	शोसेदू	कनक	किनका
अहिफेन	आहेन	यम	इम्मा
नित्यनित्य	नीची नीची	मार्ग	माच

ग्रीक

संस्कृत	ग्रीक	संस्कृत	ग्रीक
भ्राता	फ्राता	दश	डेक
नीरम्	नीरो	जननम्	जेनिसिस
मात्री	मेट्रन	श्वन्	क्वन्
ददामि	दिदोमि	प्र	प्रो
अष्टकोणम्	आक्टोगोनिक	वयस्	बायोस
मधु	मेथु	प्रस्तर:	पेत्रा

लेटिन

संस्कृत	लेटिन	संस्कृत	लेटिन
दानम्	डो-दोनम्	मातर	मेटर
युगम्	जुगम	श्वसुर	सौसर
नक्तम्	नोक्टिस	नीड:	नीडस
त्रय:	त्रे	अज्ञात:	इग्नोटस
इदम् अस्ति	इद एस्ट	प्रथम:	प्राइम
सम	सम	नव:	निओस
अस्ति	एस्ति	युवन्	युवेनिस
ददाति	दिदोति	ददासि	दिदोस
वाक्	वोसी	नव:	नोवस
पदाति	पेदिति	द्वौ	ड्यूओ

फ्रैंच

संस्कृत	फ्रैंच	संस्कृत	फ्रैंच
दानम्	दोन	मृत्यु	मोर्त
नाम	नोम	वय	वी
नीड	निड	त्वा	त्वा
त्वम्	तू	यौवनम्	जूविने
सप्त	सेप्त	चत्वार:	कात्रे

जर्मन

संस्कृत	जर्मन	संस्कृत	जर्मन
सम्मेलनम्	सम्मेलन	नक्तम्	नक्त
माता	मर्तर	मानव	मैन
नाम	नेम	विधवा	विदवे
दीक्षित	दिहतु	चरित्रम्	कैरेक्टर
दीनः	दिएने	गूढ़	गोत
गुह्याम्	गेहीं	अशनम्	एसेन

रशियन

संस्कृत	रशियन	संस्कृत	रशियन
अग्निः	ओग्न	गिरि	गोरा
गौः	गोव्यादी	जामातृ	ज्याति
चत्वारः (चतुर)	चेतीरे	त्रि	त्रि
त्वदीयः	त्वोड	नवः	नोव
देवी	देवा	नग्नः	नाव
नासा	नोस	पशु	प्योस
उक्षा	ओक्स	भ्राता	ब्रात
दुहिता	दोच	स्वसृ	सेस्त्रा
मक्षिका	मूखा	द्वारम्	द्वारे
ग्राम	ग्राम	भ्रूः	ब्रोव
मम	मोय	कदा	कोग्दा
तत्	तोत	तदा	तोग्दा

पुर्तगाली

संस्कृत	पुर्तगाली	संस्कृत	पुर्तगाली
नाड़ी	नर्व	माता	माइ
पिता	पाइ	त्रयः	त्रे
नव	नोवो	धरा	तेरा

मोहनजोदड़ो व वैदिक सभ्यता

कुछ समय पहले तक सिन्धु सभ्यता का नाम तक कोई नहीं जानता था। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाइयों के बाद उसका कुछ-कुछ परिचय मिला। परन्तु उसके स्वरूप को बहुत दिनों तक नहीं समझा जा सका। सुमेर और अक्काद में जो सादृश्य था उसे देखकर यह माना जाने लगा कि वह मूलतः अभारतीय थी और हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो के निवासियों ने कभी बाहर से आकर इस देश में अपना उपनिवेश स्थापित किया था। उस प्राचीन काल के जो अवशेष मिलते थे, वे कम-से-कम ईसा पूर्व ५ हज़ार वर्ष पीछे की स्मृति दिलाते थे। परन्तु पाश्चात्यों को इस बात को मानने में बड़ी अड़चन पड़ती थी कि भारतीय संस्कृति किसी रूप में इतना पीछे जा सकती थी। जिनके विचार में सृष्टि को बने ही छह हज़ार वर्ष से अधिक नहीं हुए थे, वे भारतीय संस्कृति के इतिहास के तीन-साढ़े तीन हज़ार वर्ष से अधिक पुरानी होने की कल्पना कैसे कर सकते थे? इसके आगे जाने से उनकी बहुत सारी धारणायें व कल्पनायें टूटती थीं। ऐसा मान लेने से कि यह तथाकथित सुमेरियन सभ्यता और संस्कृति अभारतीय थी, उनको अपने विचारों की रक्षा करने में सुविधा होती थी। परन्तु, जैसा कि हम आगे विवेचन करेंगे, उनके ये विचार निराधार थे।

सिन्ध के इन विश्वविख्यात खण्डहरों का ठीक-ठीक क्या नाम है? मोहन नाम का कोई राजा सिन्ध में नहीं हुआ। किसी ऐतिहासिक वर्णन में भी यह नाम नहीं पाया जाता। सिन्धी में मरे हुए लोगों को 'मुअनि' (पंजाबी में 'मोया') कहते हैं और 'दड़ो' का अर्थ टीला है। इस प्रकार आरम्भ में इसका नाम 'मुअनि' (मरे हुए लोगों) 'जो' (का) 'दड़ो' (टीला) = 'मुअनि जो दड़ो' रहा होगा। असिन्धी लोगों के उच्चारण भेद से 'मुअनि' को मोहन समझा गया होगा और इस प्रकार उसका शुद्ध रूप 'मोहनजो दड़ो' बनाया होगा। इससे मिलता-जुलता उदाहरण गुजरात में इसी संस्कृति के नगर लोथल (Lothal) में है जिसका शाब्दिक अर्थ है—'लोथ' (लाश = मरे हुए लोगों का) 'थल' = स्थल।

मोहनजोदड़ो सिन्ध के लड़काना (लड़काणो) जिले के डोकरी रेलवे स्टेशन से कोई सात-आठ मील की दूरी पर है। भारत के पुरातत्त्व विभाग के श्री

राखालदास बनर्जी सन् १९१८ से १९२२ तक दक्षिण पंजाब, बीकानेर, बहावलपुर और सिन्ध में सिकन्दर के स्मारक की खोज में प्रवृत्त थे। सिन्ध में क्षीरसागर (खीरथर पर्वत) से सिन्धु नदी तक जैकबाबाद, सक्करवर और लड़काना ज़िलों में लगभग २७ बड़े और ५३ छोटे उजाड़ खण्डहरों की खुदाई की गई। परन्तु वे सब बौद्ध स्मारक निकले। ऐसे ही अचानक मोहनजोदड़ो के पास एक बौद्धस्तूप के ऊपर पहुँचने पर वहाँ ढाई-तीन हज़ार वर्ष ईसा पूर्व की कुछ वस्तुएँ मिलीं। बस यहीं से मोहनजोदड़ो प्रकाश में आया।

इस अवशेष की खुदाई सन् १९२२ से आरम्भ होकर १९२७ तक चली। उत्खनन में प्राप्त वस्तुओं के चित्रों सहित इसका विवरण भारत सरकार की ओर से Annual Report of the Archaeolgical Survey of India में प्रकाशित होता रहा। इन सब विवरणों को सम्पादित कर ग्रन्थाकार में तत्कालीन महानिदेशक सर जॉन मारशल ने तैयार किया और लण्डन से M/S Arthur Polesthain नामक फ़र्म ने तीन खण्डों में प्रकाशित किया। ग्रन्थ का नाम था—'Mohenjodaro and the Indus Civilisation'। इसके पश्चात् मोहनजोदड़ो की फिर खुदाई हुई और यह काम मैके (Earwest V. Mackey) के निरीक्षण में हुआ जो बाद में इसी विभाग के महानिदेशक नियुक्त हुए। यह सारा विवरण भारत सरकार की ओर से दो बड़ी जिल्दों में प्रकाशित हुआ। इसके बाद सिन्ध के नवाबशाह ज़िले में सुखपुर गाँव से कोई डेढ़ मील दूर चाहूंदरो' की खुदाई Museam of Fine Arts Boston (U. S. A.) की ओर से इन्हीं मैके के निरीक्षण में हुई जिसका विवरण भी ग्रन्थाकार में उक्त म्यूज़ियम की ओर से 'Chunhun Daro Excavations' नाम से प्रकाशित हुआ था। यह भी मोहनजोदड़ो की तरह एक महत्त्वपूर्ण अवशेष है। जनसाधारण को मोहनजोदड़ो की जानकारी तब मिली जब सन् १९२४ में इस विषय का एक लेख सर जॉन मारशल ने लण्डन के साप्ताहिक पत्र 'Illustrated London News' में चित्रों सहित प्रकाशित किया। इस लेख के प्रकाशित होते ही पाश्चात्य जगत् में कोलाहल मच गया। जो लोग इससे पूर्व भारत को असभ्य और गँवारों का देश समझते थे, वे इस देश की मिट्टी से विकसित और उन्नति की पराकाष्ठा को प्राप्त संस्कृति को देख चकित रह गये। भारतीय इतिहास सम्बन्धी उनकी समस्त कल्पनायें और विश्वास लँगड़े पड़ गये। सृष्टि की आयु सम्बन्धी उनके विश्वास लड़खड़ा गये।

भारत के समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में भी एतद्विषयक लेख प्रकाशित हुए। इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान कलकत्ता के 'Modern Review' का रहा। पुरातत्त्व द्वारा प्रकाशित विवरण विद्वानों, विशेषत: इतिहासविदों तक ही सीमित रहते थे। 'Modern Review' की पहुँच विद्वानों के साथ-साथ सर्वसाधारण तक भी थी। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में उपलब्ध

सभ्यता कोई प्रारम्भिक काल की नहीं थी, उसके पीछे हज़ारों-लाखों वर्ष की साधना थी। मोहनजोदड़ो वाले वास्तव में आर्य ही थे। उनकी सभ्यता आर्य सभ्यता का ही अंग थी। सुजनतोषन्याय से यदि हम यह भी मान लें कि आर्य लोग बाहर से आकर यहाँ बसे थे तो भी विक्टोरिया म्यूज़ियम कराची के क्यूरेटर सी० आर० राय (C. R. Ray) के 'Indian World' पत्रिका में प्रकाशित वक्तव्य के अनुसार मोहनजोदड़ो के अवशेषों को देखकर इस कल्पना को रद्द करना पड़ेगा कि ४,००० वर्ष पूर्व भारत में आकर जब आर्यों ने बलात् इस देश पर अधिकार किया था तो यहाँ के लोग जंगली थे और यहाँ ऐसी कोई सभ्यता नहीं थी जिसका वर्णन किया जा सके।

मोहनजोदड़ो की खुदाई के बाद यह प्रश्न खड़ा हुआ कि भारत में होने के नाते सिन्धु संस्कृति आर्य है या द्राविड़ तथा सिन्धी आर्य हैं या अनार्य अर्थात् द्राविड़ ? सन् १९२३ में भारत के प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक सुनीतिकुमार चटर्जी ने दो बड़े लेख लिखकर उन्हें द्राविड़ अथवा अनार्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया। पाश्चात्य तथा तदनुयायी अथवा उच्छिष्टभोजी कुछ पौरस्त्य पुरातत्त्ववेत्ताओं ने जिन बातों के आधार पर सिन्धु सभ्यता को अनार्य या अभारतीय सिद्ध करने की चेष्टा की है, उनमें मुख्य बात हड़प्पा के नाम से प्रसिद्ध सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में शवों को गाड़ने की प्रथा का किसी सीमा तक प्रचलित रहना है। सर जान मार्शल ने लिखा है—"इस समय हमें जो प्रमाण मिले हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि जिस समय हिन्दू सभ्यता अपने उच्च शिखर पर थी उस समय मृतकों को गाड़ा जाता था।"[1] वस्तुतः मोहनजोदड़ो में जलाने और गाड़ने दोनों की साक्षी मिली है। वे लोग प्रायः अपने मृतकों को जलाते थे, यह बात उन बर्तनों से भी प्रमाणित होती है जिनमें मनुष्यों की जली हुई अस्थियाँ और चिता की राख (आजकल फूल नाम से अभिहित) रक्खी हुई मिली है। यह हो सकता है कि विशेष परिस्थितियों में शवों को गाड़ भी दिया जाता हो। वर्त्तमान में भी जब सभी आर्य (हिन्दू) शवों को जलाते हैं, बच्चों और साधुओं के शव प्रायः धरती में गाड़े जाते हैं। 'Illustrated London News' (dated 19-7-1977) के अनुसार इंगलैण्ड के वेस्ट सफ़ोक (West Suffolk) ज़िले में ऐंग्लो सेक्सन काल का एक श्मशान खुदाई में मिला है जिसमें छोटे-बड़े हज़ारों घड़े अस्थियों से भरे मिले हैं जिससे सिद्ध होता है कि वहाँ के प्राचीन लोग शवों को जलाते थे। कुछ प्रथायें परिस्थितिवश पड़ जाती हैं और फिर हज़ारों वर्षों के परम्परागत संस्कारों या रिवाजों का छूटना कठिन हो जाता है। अरब (जहाँ रेत-ही-रेत है और दूर तक पेड़ दिखाई नहीं देते) में रहनेवाले लोगों से अपने मृतकों को जलाने की आशा कैसे की जा सकती है?

---

१. Mohenjodaro and the Indus Civilisation, Vol. I, P. 79-89.

ऐसा तो नहीं है कि उत्तर भारत के आर्य शवों को जलाते हैं और दक्षिण भारत के तथाकथित द्रविड़ शवों को गाड़ते हैं। पर हिन्दू से मुसलमान बननेवाले अपने शवों को प्राय: गाड़ते हैं और मुसलमान से हिन्दू बनने वाले जलाते हैं। फिर भी इस आधार पर उनका देश या नसल नहीं बदल जाते।

सिन्धु सभ्यता के सम्बन्ध में नयी-नयी शोधों के द्वारा ज्यों-ज्यों जानकारी मिलती जाती है, त्यों-त्यों भारतीय इतिहास के कई ऐसे स्थलों पर प्रकाश पड़ता जाता है जो अब तक अन्धकार में छिपे रहे हैं। पंजाब में तो उसकी व्यापकता के प्रमाण पहले ही मिल चुके थे, कुछ समय पूर्व राजस्थान में भी ऐसे प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिनके आधार पर यह मानना पड़ता है कि सिन्ध के उन पुराने निवासियों का साम्राज्य राजस्थान तक फैला हुआ था। इतना ही नहीं, भारत के अन्य भागों में भी ऐसी चीज़ें मिली हैं जिनका सिन्ध की उस पुरानी सभ्यता से सम्बन्ध निर्विवाद प्रतीत होता है। वैदिक या आर्य सभ्यता मुख्यतया सिन्धु और सरस्वती के अन्तर्वेद में पली बताई जाती है। तब, यदि वह भारतीय है तो वह सभ्यता भी जिसका विशेष सम्बन्ध सिन्ध से रहा है, निश्चय ही भारतीय है।

यदि सिन्धु सभ्यता को अभारतीय माना जाता है तो भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में एक बहुत बड़ा प्रश्न उठता है जिसका उत्तर दिया जाना बहुत कठिन है। आज से लगभग ३८०० वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध का जन्म हुआ। देश में जो कलात्मक अवशेष मिले हैं, वे प्राय: उसी काल के आगे-पीछे के हैं और उनमें जो कला देख पड़ती है वह काफ़ी उन्नत है। आखिर वह कला कहाँ से आई ? सिन्धु सभ्यता की व्यापकता और उसका हज़ारों वर्षों का इतिहास इन प्रश्नों का उत्तर देता है—उस सभ्यता का जिसका भारत में ही उदय हुआ था। देश में दूर-दूर तक फैली हुई थी। उसी सभ्यता का विकसित रूप हमें मौर्य (३५०० वर्ष पूर्व) तथा बौद्धकालीन कला के रूप में देख पड़ता है।

अपने को सुसंस्कृत वैदिक आर्यों का सजातीय और वंशज सिद्ध करने में संलग्न पाश्चात्य विद्वानों के सामने जब आँखों को चकाचौंध करने वाली सिन्धु संस्कृति देखने में आई तब से उनके सिर पर उस पुरातन संस्कृति को अभारतीय और अवैदिक सिद्ध करने की धुन सवार हो गई; क्योंकि ऐसा करने से उनके आर्य जाति से कटकर अलग होने की सम्भावना कम हो जाती थी। इन पश्चिमी विद्वानों के कथन को आँख मूंदकर वेदवाक्य मानने वाले भारतीय विद्वान् भी इस विषय से सम्बन्धित अपने साहित्य की गहराई में न जाकर उनकी हाँ में हाँ मिलाते रहे।

हड़प्पा व वैदिक सभ्यता

हड़प्पा सभ्यता की खोज के बाद इस समस्या पर विचार करने की आवश्यकता हुई कि क्या वैदिक सभ्यता से उसका कोई सम्बन्ध हो सकता है। मार्शल के मत में वैदिक और हड़प्पा — सिन्ध सभ्यता में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका कहना है कि "यदि वैदिक सभ्यता सिन्धु सभ्यता से पूर्ववर्त्ती थी तो क्या कारण है कि लोहा, रक्षाकवच और घोड़ा जो वैदिक संस्कृति की विशेषतायें थीं, सिन्धु संस्कृति के लिए अपरिचित हो गईं। या इस बात का क्या कारण है कि सिन्धु काल में वैदिक काल की गाय के स्थान पर वृषभ पूज्य बन गया और कालान्तर में इसका स्थान फिर गाय ने ले लिया ?"[1]

समय-समय पर मार्शल द्वारा उठाये गये प्रश्नों को ही किसी-न-किसी रूप में हड़प्पा और वैदिक को दो भिन्न और परस्पर असम्बद्ध सभ्यतायें सिद्ध करने के लिए दुहराया जाता रहा है। जनसाधारण को अभी तक इस बात की जानकारी नहीं है कि १९३१ और १९८६ तक के बीच पुरातत्त्ववेत्ताओं ने भारत और पाकिस्तान में इतना उत्खनन किया है और उसके परिणामस्वरूप इतने तथ्य इकट्ठे किये हैं कि अब मार्शल द्वारा स्थापित मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक हो गया है।

वस्तुतः मार्शल द्वारा उठाये गये अधिकांश प्रश्न सतही हैं और वैदिकसाहित्य से उनकी अनभिज्ञता की देन हैं। और उनसे सहमत विद्वानों की विवशता का भी एक कारण यह है कि वे वैदिक सभ्यता के विषय में मान्य बना दिये गये पूर्वाग्रहों से बुरी तरह ग्रस्त थे। वास्तविकता यह है कि जब हड़प्पा सभ्यता का कोई नाम तक नहीं जानता था, तब सम्पूर्ण ऋग्वेद का अनुवाद करने वाले विल्सन ने वैदिक साक्ष्यों के आधार पर ही यह कहा था कि वैदिक सभ्यता का स्तर उससे मिलता-जुलता है जिसका दर्शन भारत में सिकन्दर के आक्रमण के समय यूनानियों को हुआ था। विल्सन के इस कथन को इसलिए अमान्य कर दिया गया कि वे मौर्यकाल से लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व (जो विल्सन आदि के द्वारा ऋग्वेद के लिए अनुमानित

१. मार्शल : मोहनजोदड़ो एण्ड इण्डस सिविलिज़ेशन, १९३१, पृष्ठ ११०-१११

काल था) इतने उच्चस्तर की सभ्यता की कल्पना नहीं कर सकते थे। जहाँ तक लोहे का प्रश्न है, शैफ़र ने इस बात का निर्णायक प्रमाण प्रस्तुत किया है कि हड़प्पा वासी लोहे से परिचित थे, यद्यपि इसका प्रयोग सीमित रूप में ही होता था।[1] घोड़ा भी हड़प्पावासियों के लिए अपरिचित पशु नहीं था, इसे राना घुंडाई के पुरातात्त्विक अवशेष के आधार पर ह्वीलर स्वीकार करने के लिए बाध्य थे और जोशी तथा राव आदि ने हड़प्पा सभ्यता के अन्य स्थलों से प्राप्त घोड़ों की अस्थियों के आधार पर अपेक्षाकृत व्यापक प्रचलन की पुष्टि की है।[2] अगस्त १९८३ के 'Theosophical Path में हेनसेन ने लिखा था कि नेवदा (Nevada) में जान टी० रीड को एक आदमी का अच्छी तरह बना हुआ जूते का तला मिला है जो भूगर्भशास्त्र के नियम से ५० लाख वर्ष पुराना बताया जाता है। प्रश्न पैदा होता है कि जब जूते की सिलाई ५० लाख वर्ष पुरानी है तो जिस सुई से उसकी सिलाई हुई होगी वह तो उससे भी पुरानी होनी चाहिए। यदि हड़प्पा सभ्यता वैदिक सभ्यता से पूर्ववर्ती है तो उस काल में सिले हुए जूते के मिलने से लोहे का प्रयोग सिद्ध है। यदि सिन्धु सभ्यता वैदिक काल से उत्तरकालीन है तो वेदों में लोहे का उल्लेख होने से कम-से-कम ५० लाख वर्ष पूर्व वेदों का अस्तित्व सिद्ध है।

जनवरी १९७७ में नई दिल्ली में 'International Conference of Surgical Colleges' का वार्षिक अधिवेशन हुआ था। नई दिल्ली से प्रकाशित दैनिक 'Statesman' ने उसका विवरण 'Plastic Surgery traced to Rigveda' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित किया था। अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रो० विटोल्ड रुडोविस्की ने कहा था—"वैदिक काल में पथरी, फूला, ट्यूमर, हर्निया, कान व नाक के आपरेशन करने के लिए १०० प्रकार के औज़ार काम में लाये जाते थे। आयुर्वेदशास्त्र के विश्वविख्यात विद्वान् सुश्रुत का समय महाभारत से २७०० वर्ष अर्थात् आज से लगभग ८००० वर्ष पूर्व है। सुश्रुत संहिता के सूत्रस्थान में शल्य-चिकित्सा के साधनभूत औज़ारों का वर्णन है। ये औज़ार इतने तीक्ष्ण होते थे कि बाल को भी लम्बाई में काट सकते थे।[3] भारतीय शल्यचिकित्सा के विषय में वेबर ने लिखा है कि शल्यचिकित्सा में भारतीय इतने दक्ष थे कि यूरोपीय सर्जन अब भी

१. जिम० जी० शैफ़र, १९८४, पृष्ठ ४१-६२।

२. Rao : The decipherment of the Indus script, 1982, P. 308; Jagatpati Joshi : Transformation of Harappa Culture in Kachha, 1972; A. K. Sharma : Evidence of Horse from the Harappa Settlement at Surkotada, Archaeology, 7, 1974.

३. The surgical instruments of the Aryans were sufficiently sharp, indeed, as to be capable of dividing a hair longitudinally—Maning : Ancient and Medieval India.

उनसे कुछ सीख सकते हैं।[१]

यदि शल्य चिकित्सा के इतने उत्कृष्ट औजार आज से आठ हज़ार वर्ष पूर्व उपलब्ध थे तो ईसापूर्व ३००० वर्ष पूर्व (पाश्चात्यों के अनुसार) सिन्धु सभ्यता के लोगों के अथवा ईसा से १५००-२५०० वर्ष पूर्व वैदिक आर्यों के लोहे से परिचित न होने की बात कैसे मानी जा सकती है? और जब वेद का उपवेद आयुर्वेद (सुश्रुत संहिता) ८००० वर्ष पूर्व उपस्थित था तो स्वयं वेदों का उसके बाद प्रादुर्भूत होना कैसे सम्भव है? फिर, यदि ५० लाख वर्ष पूर्व मनुष्य पृथिवी पर अवतरित हो चुका था और उसे जूते की सिलाई में इतनी दक्षता प्राप्त थी तो ईसा से ५ हज़ार वर्ष पूर्व उसके पाषाण-युग में निकम्मी अवस्था में पड़े होने और वेदों की रचना कर डालने वाली बात कैसे समझ में आ सकती है? आज भी हमारे घरों में पत्थर के सिल-बट्टे, खरल, प्याले, चक्कियाँ आदि पाये जाते हैं। क्या आगे चलकर कभी हम पाषाण-युग के लोग माने जाने लगेंगे? वस्तुत: इस प्रकार का काल-विभाजन सर्वथा कपोल कल्पित हैं।

संस्कृत में 'गो' शब्द उभयलिंग होने से गाय और बैल दोनों का वाचक है। वेदों में जैसे गौ के लिए 'अघ्न्या' शब्द का प्रयोग हुआ है, वैसे ही बैल के लिए भी 'अघ्न्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस सन्दर्भ में यजुर्वेद का यह मन्त्र द्रष्टव्य है—

विमुच्यध्वमघ्न्या देवयान अगन्म तमसस्पारमस्य ज्योतिरापाम।

—यजु: १२।७३

कात्यायन श्रौतसूत्र में **'अघ्न्या:'** का अर्थ **'अहन्तव्य बलीवर्द'** (बैल) लेकर वृषभोत्सर्ग में इस मन्त्र का विनियोग किया है—**'अनडुहो विमुच्यध्वमिति बलीवर्दान् विसृजेत।'** इसी के प्रमाण से सायणाचार्य ने काण्वसंहिताभाष्य में लिखा है—**"हे (अघ्न्या:) अहन्तव्या गावो बलीवर्दा: यूयं विमुच्यध्वम् युगानि मुञ्चत।"** उवट, महीधर आदि भी **'अनडुह'** = बैल के विमोचन में विनियुक्त करते हुए कहते हैं—'देवकर्म के साधक गौओं और बैलों को छोड़ो।' यदि मार्शल की तरह कोई आग्रह करे कि कालान्तर में बैल का स्थान गाय ने ले लिया था तो पाश्चात्यों के अनुसार सबसे अन्त में रचित अथर्ववेद में गाय की नहीं, (गाय के पति) बैल की रक्षा की बात कही गई है—**'गवां य: पतिरघ्न्य:'**—(९।४।१७)। इसीलिए पूज्य

१. The Indians seem to have attained a special proficiency and in this sphere Europeon sergeons might perhaps, even of present day still learn something, as indeed they have borroewed from them the operation of Rhinoplasty making artificial noses and ears.—Weber's History of Sanskrit literatur, Quoted here from 'Real Hinduism' by Dr. G. C. Narang P. 26

भाव की दृष्टि से गाय और बैल दोनों ही समानरूप से श्रद्धास्पद रहे हैं।

आर्यों के जिस आक्रमण की बात बार-बार दुहराई जाती है, उसका सार यह है कि आर्य आक्रमण और उनकी विजय का चाहे जो भी रूप रहा हो, पर अपनी विजय के बाद न तो उन्होंने कोई नगर बसाया और न ही किसी स्थान-विशेष में अपनी शक्ति का केन्द्रीकरण किया। इसके विपरीत वे सीधे ग्रामीण क्षेत्रों में फैल-कर पशु चराने और खेती करने के काम में लग गये। वैदिक आर्यों के नगरों की उपेक्षा करके ग्रामीण अंचलों में पहुँचने का औचित्य यह कहकर सिद्ध किया जाता है कि वे नगर जीवन के अभ्यस्त नहीं थे। पर यह सब सर्वथा निराधार है। किन्हीं भी विदेशी विजेता लोगों के लिए विजय के बाद एकजुट होकर बड़े-बड़े नगरों में रहना अनिवार्य है, क्योंकि किसी एक केन्द्र में अपना प्रभावशाली जमाव करके ही वे अपने आपको सुरक्षित अनुभव कर सकते हैं और आवश्यकता पड़ने पर स्थानीय लोगों को सफलतापूर्वक नियन्त्रित कर सकते हैं। पश्चिमी एशिया के जिन भी स्थलों में आर्यों की उपस्थिति की पुष्टि होती है, वहाँ वे नगरों में बसे दिखाई देते हैं और स्थानीय शासन की बागडोर सँभाले मिलते हैं। फिर, भारत में प्रवेश करने वाले आर्यों में नगरों के प्रति अरुचि क्यों पैदा होने लगी, विशेषत: जब उनका निवास मूलत: एक ही स्थान से हुआ माना जाता है। वेदों में बड़े-बड़े नगरों तथा भव्य एवं विशाल भवनों का उल्लेख होने से आर्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए यदि ऋग्वेद में स्थानीय भूसम्पदा और पशु-धन पर वैदिक किसानों का आधिपत्य दिखाई देता है तो इसका समाधान यही है कि वैदिक किसान मूलत: इसी देश के वासी थे और इसलिए वे यहाँ की धरती से काम लेते थे। उन्हें विदेशी आक्रान्ता मान स्वयं समस्या खड़ी करके उसके समाधान के लिए बेसिर-पैर की कल्पनायें करना जानबूझकर समस्या को उलझाये रखना और उसके परिणामस्वरूप नई-नई समस्यायें पैदा करना है।

ह्वीलर, मार्शल और मैकाय का हवाला देते हुए हड़प्पा और मोहनजोदड़ो पर हुए आक्रमण और नरसंहार की एक जीती-जागती तसवीर गढ़कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "परिस्थितियाँ इस बात की गवाह हैं कि इस हत्या का दोष (आर्यों के सेनापति) इन्द्र पर आता है।"[1] परन्तु इस हत्याकाण्ड और नाश की गहराई से जाँच करने पर अधिकृत विद्वान् इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह सब कोरा मिथक या कल्पना है।[2] एम० आर० साहनी हड़प्पा सभ्यता के पतन का कारण भयंकर बाढ़ को मानते हैं। डेल्स मोहनजोदड़ो के ऊपरी स्तर पर पुन: मिले कंकालों के आधार पर यह नतीजा निकालते है कि इन कंकालों का हत्याओं से कोई सम्बन्ध नहीं है और जिन पुरातात्त्विक सन्दर्भों में ये पाये जाते हैं उनसे

---

१. मार्शल २, ६२४; मैकाय १९४८, १, ९४, ११७।
२. Man in Evolution, 1952, 153, 154.

सिद्ध होता है कि प्राप्तिस्थल पर ये देर से पहुँचे हैं।[1] डेल्स इस नतीजे पर पहुँचे थे कि मोहनजोदड़ो ही नहीं, हड़प्पा के अन्य नगरों का पतन भी बाढ़ के कारण हुआ था। इसके अतिरिक्त नरहत्या की मान्यता को उन्होंने निस्सार सिद्ध किया था।[2] राबर्ट राइक्स जिनकी देख-रेख में मोहनजोदड़ो की टोहपरक ड्रिलिंग (Exploratory drilling) की गई थी, अनेक बार इस नगर के बाढ़ग्रस्त होने की पुष्टि करते हैं। हड़प्पा के अन्य स्थलों के उजड़ने का कारण भी वह प्राकृतिक आपदा को मानते हैं।[3] इस प्रकार कहीं से भी नरसंहार की पुष्टि नहीं होती। डेल्स का मत है कि नरसंहार ही नहीं, मोहनजोदड़ो पर किसी आक्रमण का कोई लक्षण नहीं मिलता, यद्यपि ऊपरी स्तर पर आर्थिक स्थिति में गिरावट के प्रमाण अवश्य मिलते हैं।

आगे चलकर स्वयं ह्वीलर ने भी कुछ हद तक अपनी भूल स्वीकार करते हुए माना कि यह, बिना गहराई से विचार किये, झटके में की गई अटकलबाज़ी मात्र थी।[4] ह्वीलर के मत से हड़प्पा का काल २०००-२५०० ईसा पूर्व रखना तर्कसंगत होगा।[5] अत: आक्रमण की तिथियों में भारी फेरबदल किये। इसके बिना हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के निवासियों से आर्य आक्रमणकारियों का सम्पर्क नहीं कराया जा सकता। परन्तु ईसापूर्व महाभारत का काल निश्चित होने तथा वेदों का काल बहुत पहले प्रमाणित होने से हड़प्पा के लिए निर्धारित कालक्रम तत्काल खण्डित हो जाता है। यहाँ एक अन्य बिन्दु पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। हड़प्पा सभ्यता के लोगों को हर दृष्टि से काफ़ी उन्नत माना जाता है। परन्तु जिन लोगों से आर्यों के संघर्ष की बात कही जाती है, वे अपने क्रिया-कलाप आदि के आधार पर असभ्य बताये जाते हैं। आचार-विचार, नैतिक मापदण्ड—हर दृष्टि से पिछड़े हुए वे लोग हड़प्पा सभ्यता के लोग तो हो ही नहीं सकते। ऐसी स्थिति में आर्यों के हड़प्पावासियों पर आक्रमण की बात तो स्वयं मिथ्या हो जाती है। इसलिए यदि इसे दुर्गों और नगरों पर आक्रमण माना ही जाये तो ये भारत में ही बसे समान स्थिति के दो प्रतिस्पर्धियों के बीच का संघर्ष मानना होगा।

---

१. Dailse : Civilisatian and Floods in the Indus Valley, Expedition, 1965, 10-19.
२. The Mythical Massacre at Mohenjodaro, Expedition 4, 3, 1964 तथा Decline of the Harappans, Scientific American 2, 14, 5, 1966
३. Kalibanga : Death from natural causes, Antiquity, 42, 167-68, 1968, 286-91.
४. Wheeler : Early India and Pakistan, 1968, 113-114.
५. भगवानसिंह : हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य, ५२।

ह्वीलर पुरातत्त्व के जानकार अवश्य थे, किन्तु वेद और संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इसीलिए मात्र पुरातत्त्व के आधार पर भारत पर बाहर से हुए आक्रमण की बात सही नहीं मानी जा सकती।

एस० आर० राव के निर्देशन में द्वारिका क्षेत्र में समुद्रतल में चल रहे सर्वेक्षणों और खुदाइयों ने हड़प्पा और भारतीय पौराणिक विवरणों की संगति पर मोहर लगा दी है। वास्तव में वैदिक और हड़प्पा सभ्यतायें अलग नहीं हैं। इसके भौतिक अवशेषों को सामने रखने पर हम इसे हड़प्पा का नाम दे देते हैं और साहित्यिक साक्ष्यों को सामने रखने पर वैदिक सभ्यता कहकर पुकारते हैं। वस्तुतः इन सभ्यताओं में इतना भी अन्तर नहीं है कि हम इन्हें भारत में ही एक-दूसरे के पड़ोस में समानान्तर विकसित होने वाली दो सभ्यताओं के रूप में कल्पित कर सकें। इनको अभिन्न मानने पर ही इनके सर्वसादृश्य की कल्पना की जा सकती है।

रोमिला थापर यह मानती हैं कि क्योंकि भारत से बाहर कहीं भी वर्णव्यवस्था नहीं पाई जाती, अतः आर्यों ने यह व्यवस्था हड़प्पा के आर्येतर जनों से ली होगी। कोसाम्बी, आर० एस० शर्मा आदि का भी यही मत है, क्योंकि वे अधिकांश पुरोहितों को हड़प्पा से लिया मानते हैं और आर्य आक्रमण को क्षत्रिय आक्रमण के रूप में कल्पित करते हैं।[1] यदि भारत से बाहर कहीं वर्णव्यवस्था नहीं थी तो बाहर से आने वाले आर्यों में भी नहीं रही होगी। इस प्रकार यदि आर्यों के समाज में ब्राह्मणादि के रूप में वर्णव्यवस्था का अस्तित्व ही नहीं था तो भारत में आते ही उन्हें पुरोहितों की आवश्यकता कैसे अनुभव होने लगी? वर्णव्यवस्था तो मूलतः वेदों से निःसृत मानी जाती है और ऐसा मानने वाले वेदों की रचना आर्यों द्वारा भारत में आने के बाद की गई मानते हैं। तो आर्यों से पहले हड़प्पा में रहने वाले आर्येतर जनों में वैदिक पुरोहित कहाँ से मिल सकते थे? यदि हड़प्पा में रहने वाले समाज में हम वैदिक पुरोहितों का होना स्वीकार करते हैं तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि हड़प्पा का साहित्य और समाज सभी कुछ वैदिक है और अज्ञान या भ्रम के कारण इन दोनों के बीच सर्वथा कृत्रिम खाई तैयार की गई है। मूल में भूल यह है कि किसी भी पहलू पर समग्र रूप से चिन्तन न करके उसके टुकड़ों पर विचार किया जाता है और हर मामले में यह मानकर चला जाता है कि, जैसे भी सही, आर्य भारत से बाहर से आये विदेशी आक्रान्ता हैं।

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सभ्यता के बारे में अभी तक जो कुछ कहा गया है, उससे इस सभ्यता का समय महाभारत के आसपास का ठहरता है। महाभारत का काल ईसापूर्व ३१०२ वर्ष ज्योतिष के आधार पर निर्णीत है, जबकि मोहन-

---

१. डी० डी० कोसाम्बी : Early stages of Caste system in Northern India, 1946, P. 35; R. S. Sharma : Material Culture and Social Formation, 1983, P. 19.

जोदड़ो का समय पुरातत्त्व की अटकलबाज़ियों की बैसाखी के सहारे खड़ा है। पुरातत्त्व की कोई भी वस्तु किसी भी अवस्था में अपना निश्चित समय नहीं बता सकती; विशेषतः जबकि उसकी मुद्राओं की भाषा अभी तक विवाद का विषय बनी हुई है। विकासवाद की मान्यता भी उसके निष्कर्षों पर प्रश्नचिह्न लगा देती है। इस विषय में बाबू सम्पूर्णानन्द की मान्यताओं पर विचार करना उपयोगी होगा—

"यहाँ हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई और उसके फलस्वरूप जो वस्तुयें उपलब्ध हुई हैं, उनका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि मोहनजोदड़ो की कला बड़ी उच्च कोटि की है। इस विषय में विशेषज्ञों का कहना है कि ये चीज़ें ४५०० से ५५०० वर्ष पुरानी हैं।...इस खुदाई से यह बात तो सिद्ध हो गई कि यदि सारे भारत में नहीं तो कम-से-कम सिन्धु नदी के किनारे बसे इस प्रान्त में तो आज से ५ हज़ार वर्ष पहले भी बड़े-बड़े नगर बसे थे।...इस प्रकार मौर्यकाल और उसके बाद की कला का पितृत्व खोजने हमें ईरान जाने की आवश्यकता नहीं है, वह हमें भारत में ही मिल जाता है।...मोहनजोदड़ों में जिस सभ्यता का पता चलता है, वह उसी ढंग की है जैसी कि सुमेर की सभ्यता थी। दोनों जगहों की भाषा एक ही है और कई व्यक्तियों के नाम भी दोनों जगहों में मिलते हैं। इतना गहरा साम्य है कि इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि हम दोनों जगहों में एक ही सभ्यता और संस्कृति के दर्शन कर रहे हैं। मूर्त्तियों के प्रकार से ये लोग तूरानी अर्थात् मंगोल उपजाति की शाखा के प्रतीत होते हैं। इनकी भाषा का ठीक-ठीक स्वरूप क्या था, यह नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों का अनुमान है कि वह द्रविड़ थी। परन्तु कुछ विद्वान् उसे संस्कृत से मिलती-जुलती मानते हैं। सुमेर सभ्यता आज से ६००० वर्ष पुरानी बताई जाती है।... इससे यह कहा जा सकता है कि वैदिक सभ्यता प्राचीन है और मोहनजोदड़ो काल से कम-से-कम ४-५ हज़ार वर्ष पुरानी है।...पर अभी तक जो सामग्री मिली है, वह अपर्याप्त है। जो खुदे हुए लेख मिले हैं, उनका क्या अर्थ है, इस सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। अतः उनके सहारे अटकल लगाना भ्रामक होगा।"—आर्यों का आदि देश, पृष्ठ २१९-२२६।

उपर्युक्त उद्धरणों से इतनी बातें स्पष्ट हैं—

१. मोहनजोदड़ो की सभ्यता ४००० से ४५०० वर्ष पुरानी है।

२. वैदिक सभ्यता मोहनजोदड़ो सभ्यता से कम-से-कम चार-पांच हज़ार वर्ष पहले की है।

३. जो खुदे लेख मिले हैं, उनके आधार पर अटकल लगाना भ्रामक होगा।

बाबू सम्पूर्णानन्द वैदिक सभ्यता को हड़प्पा सभ्यता से पूर्वकालीन मानते हैं। परन्तु ऐसा मानने में उन्हें दो-एक अड़चन दिखाई पड़ती हैं। "वैदिक आर्य लोहे

से काम लेते थे, परन्तु मोहनजोदड़ो में और धातु तो मिलती हैं, लोहा नहीं मिलता। यदि इस सभ्यता का विकास वैदिक सभ्यता से हुआ होता तो यह असम्भव था कि ये लोग ऐसी उपयोगी चीज़ों को भूल जाते। वेदों में गौ का महत्त्व है, इनके यहाँ वृषभ का। हम यह भी देखते हैं कि वैदिक आर्यों के वंशजों में आज भी गौ का वही स्थान है।" इस शंका का समाधान हम इस प्रकरण के प्रारम्भ में कर चुके हैं।

बाबू सम्पूर्णानन्द के अनुसार वेदों का प्रादुर्भाव आज से १८ हज़ार वर्ष पूर्व हुआ था। मोहनजोदड़ो की सभ्यता ४००० से ४५०० वर्ष पुरानी है। अतः वैदिक सभ्यता का उससे प्राचीन होना उनके अपने दृष्टिकोण और विचारधारा के अनुसार ठीक है। महाभारत काल का आज से लगभग ५ हज़ार वर्ष पूर्व होना निर्विवाद है। ऐसी स्थिति में मोहनजोदड़ो की सभ्यता महाभारत से कुछ शताब्दी पीछे की, अथवा बहुत खींचतान करके, उसके आसपास की ठहरेगी। वेदों का काल महाभारत से बहुत पहले है। अतः वैदिक सभ्यता का हड़प्पा सभ्यता से पूर्वकालीन होना असन्दिग्ध है।

मोहनजोदड़ो में किये गये उत्खनन में उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह दावा किया जाता है कि यह भारत की प्राचीनतम संस्कृति है। इसके पतन के बाद या साथ ही यहाँ आर्यों का आगमन हुआ। इस सन्दर्भ में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त एक सील (मुद्रा) की प्रतिकृति दे रहे हैं जो स्वयं अपनी कहानी कहती प्रतीत होती है—

Photostat of Plate No. CXII, Seal No. 387, from the excavations at Mohenjodaro. (From Mohenjodaro and the Indus Civilisation, edited by Sir John Marshall, Cambridge, 1931.)

इस चित्र में एक वृक्ष पर बैठे दो पक्षी दिखाई दे रहे हैं जिनमें एक फल खा रहा है, जबकि दूसरा केवल देख रहा है—

ऋग्वेद का एक मन्त्र इस प्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥—१।१६४।२०

इस मन्त्र का भाव यह है कि एक (प्रकृतिरूपी) वृक्ष पर लगभग एक जैसे दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) बैठे हैं। उनमें से एक (जीवात्मा) उसके फलों का भोग कर रहा है, जबकि दूसरा बिना भोगे उसका निरीक्षण कर रहा है।

स्पष्ट है कि मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त इस चित्र में जो कुछ दिखाया गया है, उसका आधार ऋग्वेद का उपर्युक्त मन्त्र है। यह निर्विवाद है कि संसार में ऋग्वेद से पुरानी कोई पुस्तक नहीं है। कलाकार द्वारा बनाये गये चित्र से पहले ऋग्वेद का अस्तित्व सिद्ध है और मोहनजोदड़ो की खुदाई में इस चित्र के पाये जाने से वेदों का (कम-से-कम ऋग्वेद) तथाकथित हड़प्पा संस्कृति का पूर्ववर्ती होना सिद्ध है। वेद आर्यों के ग्रन्थ हैं। इसलिए सबसे पूर्व आर्यों का ही इस देश में होना प्रमाणित है। पुरातत्त्व विभाग से सम्बद्ध इतिहासविद् हमारे एक सहाध्यायी मित्र का कहना है कि हो सकता है कि हड़प्पा संस्कृति और आर्य संस्कृति दोनों समकालीन हों। सुजनतोषन्याय से यदि यह मान लिया जाये तो भी आर्यों से पहले किसी के यहाँ होने की कल्पना तो मिथ्या सिद्ध हो जाती है।

वेदों में ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख मानने वालों का कहना है कि ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों में हम वैदिक जनों को भारत के एक विशाल क्षेत्र में प्रभावशाली रूप में आबाद पाते हैं। क्या कोई आक्रमण इतना विशाल हो सकता है जिसमें विदेशी लोग इतनी बड़ी संख्या में पहुँच सकें कि उस पूरे क्षेत्र को प्रभावशाली ढंग से आबाद कर सकें? ज्ञात ऐतिहासिक कालों में भारत पर बार-बार आक्रमण होते रहे हैं। लूटमार करके वे वापिस जाते रहे अथवा कुछ समय तक शासन करने के बाद भारतीय जन-समुद्र में विलीन होकर अदृश्य होते रहे। इसका मुख्य कारण उनकी तुलनात्मक नगण्य संख्या रही है। उनकी भाषा के गिने-चुने शब्दों के अवशेष भले ही भारतीय भाषाओं में बने रह गये हों, पर वे यहाँ की समूची भाषा और संस्कृति को किसी प्रभावशाली रूप में बदलने में असमर्थ रहे हैं। एक अर्धबर्बर समाज द्वारा यदि कोई आक्रमण हुआ भी होता तो वह अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर ही हो सकता था। पर यदि इसे इतिहास के विशालतम आक्रामक दल के रूप में भी स्वीकार किया जाये तो भी वे इतनी बड़ी संख्या में कदापि नहीं हो सकते हैं कि इस समूचे क्षेत्र को आबाद कर सकें।

इस सीमा को ध्यान में रखते हुए 'इम्पीरियल गज़ेटियर' के लेखक ने इसे अपवादरूप एक विराट् आव्रजन के रूप में कल्पित करके लिखा—

"अब यदि भारत के सीमान्त देशों की भौतिक और सामाजिक स्थितियाँ उस सुदूर काल में भी वही रही हों जैसी कि हम उन्हें आज पाते हैं तो यह समझ में नहीं आता कि इस परिवार या कबीले का मन्द्र प्रव्रजन इतने बड़े स्तर पर कैसे हुआ होगा कि वह पंजाब और उसके आसपास के क्षेत्र को प्रभावशाली ढंग से आबाद कर सके। सीमान्त की पट्टी खुद सूनी पहाड़ियों और सँकरी घाटियों का जालमात्र है जो किसी की आवभगत करने की दृष्टि से सर्वथा अनपयुक्त है, जबकि चारण-जीवी समाज उससे भी पश्चिम के अपेक्षाकृत अनुकूल प्रदेश से अपने कुल-कुटुम्ब के साथ बढ़ते हुए अपने रास्ते को ऐसी बाधाओं से अवरुद्ध पायेगा जिन्हें उनमें से कुछ अधिक शक्तिशाली लोग ही पार कर सकते थे। औरतों और बच्चों को वे पीछे छोड़ आये होंगे या रास्ते में मर-खप गये होंगे। इसके अलावा भारत के पड़ोसी देशों की वर्त्तमान वर्षा और जल-वायु को देखते हुए, आज सीमान्त से उपयुक्त दूरी के भीतर वह अनुकूल क्षेत्र कहाँ मिलेगा जिसमें से लोगों की इतनी बड़ी भीड़ निकलकर पंजाब के विस्तृत क्षेत्र को आबाद कर सके? दक्षिण-पूर्वी फ़ारस में तो कदापि नहीं, जिसके बालू के ढूह—बदलते हुए रेगिस्तान रहने के योग्य ही नहीं हैं। और न ही निर्जन दक्षिण एशियायी स्टैपी में, जहाँ मुट्ठीभर खानाबदोशों को भी मुश्किल से ही आहार मिल सकता है।"[१]

परन्तु समस्या की गुरुता इसके बावजूद बनी रहती है। लेखक इस मुश्किल को हल करने या आसान करने के लिए कल्पना करता है कि सम्भव है, इन क्षेत्रों में पहले वर्षा का औसत कम रहा हो और बीच के चार-पाँच हज़ार वर्षों के अन्तराल में वहाँ का जलवायु बदल गया हो। इसकी पुष्टि में उसने एक भूविज्ञानी डब्ल्यू० टी० ब्लैनफ़र्ड का हवाला भी दिया है। जलवायु परिवर्तन की यह बात विवादास्पद है। प्रोफ़ेसर ज्याइनर, लण्डन विश्वविद्यालय और राबर्ट राइक्स, हाइड्रोलोजिस्ट पाकिस्तान सरकार आदि ने गहरी छानबीन के आधार पर कहा है कि पिछले नौ हज़ार वर्षों में इस क्षेत्र के जलवायु में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।[२] इस तरह आक्रमण हो या आव्रजन, जनसंख्या के आधार पर भी वैदिक आर्यों के भारत में प्रवेश की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसा लगता है कि अपनी पूर्वाग्रहीत मान्यताओं को आरोपित करने के लिए, अन्य कोई उपाय न देखकर, कुछ विद्वानों ने जलवायविक परिवर्तन की आड़ लेना सुविधाजनक समझा।

प्रो० गाइल्स लिखते हैं कि इतिहास हमें इस विषय में कुछ नहीं बताता कि

---

१. इम्पीरियल गज़ेटियर आफ़ इण्डिया १९०७, I, ३०१।

२. राइक्स व डायसन : दि प्रि-हिस्टोरिक क्लाइमेट आफ़ बिलोचिस्तान एण्ड इण्डस वेली, १९६१।

'इण्डोजर्मनिक भाषा बोलनेवाली जातियों का प्रवेश भारत में कैसे हुआ।'[१] कीथ का कहना है कि "यह लगभग सुनिश्चित-सा है कि वैदिक भारतीय भारत में कैसे घुसे, इसका निश्चय करने में ऋग्वेद हमारी कोई सहायता नहीं करता।"[२] वह आगे लिखते हैं—"यदि आक्रमणकारियों ने भारत में हिन्दूकुश के दर्रों से भारत में प्रवेश किया हो और पंजाब से होते हुए आगे बढ़े हों तो इस यात्रा की भी कोई झलक ऋग्वेद में नहीं मिलती।"[3] इमेनो स्वीकार करते हैं कि "साफ़ बात तो यह है कि (आर्यों के) आव्रजन के इतिहास के बारे में हमें क़तई कुछ पता नहीं है।"[४] डा० थापर लिखते हैं—"भारत में आर्यों के प्रवेश के सम्बन्ध में उपलब्ध वस्तुगत साक्ष्य अभी तक अनिर्णायक बने हुए हैं"[५] भारतीय पुरातत्त्व के अधिकृत विद्वान् डा० स्वराज्य गुप्त भारत के सीमावर्ती क्षेत्रों के पुरातात्त्विक साक्ष्यों की छानबीन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारत से बाहर की किसी संस्कृति को सिन्धु से पार भारत की ओर बढ़ते नहीं पाया जाता।[६] रोमिला थापर के अनुसार "आर्यों के विषय में हमारी बनी धारणायें चाहे कुछ भी क्यों न हों, पुरातात्त्विक साक्ष्यों से बड़े पैमाने पर किसी आक्रमण या आव्रजन का संकेत नहीं मिलता।...गंगा की उपत्यका के पुरातात्त्विक साक्ष्यों से यह प्रकट नहीं होता कि

---

१. Of the earliest movements of the tribes speaking Indo-Germanic languages which occupied the Iranian plateau and ultimately passed into Northern India, history has yet nothing to say—'The Aryans', Cambridge History of India, 1922, Ed. II, 1962, P. 64.

२. It is almost certain that the Rigveda offers no assistence in determining the mode in which the Vedic Indians entered India.—'The Age of Rigveda', Ibid, P. 70.

३. If, as may be the case, the Aryan imaders of India entered by the western passes of the Hindu Kush and proceeded thence through the Panjab to the east, still that advance is not reflected in the Rigveda.—Ibid, 70-71.

४. Imeno : 'The dialects of the old Indo-Aryan', Ancient Indo-Europeon dialects, Ed. Heneric Bernbalm, 1966-132

५. B. K. Thapar : The Aryans : A rappraisal of the problem, 1970, 160.

६. S. P. Gupta : Archaeology & Soviet Central Asia and the Indian Border Lands, 1979, 2, 318.

यहाँ के पुराने निवासियों को कभी भागना या पराजित होना पड़ा था।"

सोवियत संघ में कुछ इतिहासकारों ने सोवियत विद्वानों की इस धारणा को नकार दिया है कि भारत में आर्य एशिया माइनर से आये थे।

भारत में आर्यों के एशिया माइनर से आने की स्थापना के लिए प्रोफ़ेसर तमज गामरेलिद्ज और प्रोफ़ेसर ब्याय चिल्लावइवानोव को लेनिन पुरस्कार मिला था। किन्तु नेहरू पुरस्कार विजेता प्रोफ़ेसर ग्रिगोरी बोगार्ट इनसे सहमत नहीं हैं। उन्होंने इस स्थापना को तथ्यों से परे बताया है। प्रो० बोगार्ट के सहयोगी प्रोफ़ेसर लेबिन ने भारत में आने वाले आर्यों की मूलभूमि एशिया माइनर की बजाय काले सागर का समीपवर्ती इलाका या मध्य एशिया को माना है।

उन्होंने कहा—हो सकता है ये आर्य वोल्गा नदी क्षेत्र से काला सागर पहुँचे हों। भारतीय विद्वान् राहुल सांकृत्यायन का मानना है कि भारत में आर्य बोल्गा नदी से होते हुए आए। 'बोल्गा से गंगा' नामक अपनी पुस्तक में उन्होंने यह बात कही है।

श्री लेबिन इसके अतिरिक्त 'इण्डिया इन द एनशिएंट एपक' 'एनशिएंट इण्डिया' और 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' इत्यादि भारत से सम्बन्धित पुस्तकें लिख चुके हैं। इस समय वह 'रूसी में कालिदास की कहानी' पर काम कर रहे हैं।

श्री लेबिन ने इस प्रचलित मान्यता से भी इंकार किया है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता को आर्यों ने नष्ट किया। उन्होंने कहा कि पुरातत्त्व के तथ्यों से पता चलता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता के ह्रास और आर्यों के भारत आगमन के काल में काफ़ी अन्तर है।

श्री लेबिन ने कहा—इसका अर्थ है कि भारत पर आर्यों के आक्रमण की बात भी ग़लत है। आर्यों का भारत आना लम्बे समय तक चलता रहा। वे एक विजेता के रूप में भारत नहीं आए।

श्री लेबिन का मत है कि द्रविड़ों की मूलभूमि भी भारत नहीं थी। वे दक्षिण पूर्वी ईरान और अफ़गानिस्तान से भारत आए। उन्होंने कहा—ईरान, अफ़-गानिस्तान और मध्य क्षेत्रों में रहने वाले 'ब्राह्वी' कबायली आज भी द्रविड़ बोली बोलते हैं।

सिन्धु घाटी में सभ्यता का निर्माण करने के बाद द्रविड़ पंजाब और दक्षिण भारत की ओर चले गए।[1]

---

१. The theory that Asia Minor was the original home of Indo-Aryans—for which Professors Tamaz Gamkrelidze and Vyacheslav Ivanov have got the Lenin Prize—has become "fashionable" with Soviet Orientalists and historians.

इस उद्धरण में निम्न बातों का संकेत किया गया है—

१. आर्य लोग भारत में बाहर से आये, किन्तु आक्रान्ता के रूप में नहीं।

२. हड़प्पा सभ्यता के विनाश और आर्यों के भारत आगमन के काल में काफ़ी अन्तर है। इसलिए हड़प्पा सभ्यता के विनाश के लिए आर्यों को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।

Prof. Grigory Bongardt-Levin, Nehru Prize winning authority on ancient India, is however, among the Soviet Orientalists who do not agree with this theory.

Prof. Bongardt-Levin subscribes to the theory that the Aryan homeland was around the Black Sea or the Central Asian steppe in the Soviet Union.

In a concession to Rahul Sankrityayan, he concedes that Aryans might have come to the Black Sea from the Volga river region. There were many points still in dispute, Prof. Bongardt-Levin had told PTI in an interview given before the Lenin Prize was announced.

Prof. Bongardt-Levin is known for his authoritative work in Russian, India in the Ancient Epoch, and for his contribution on Ancient India in the two-volume Soviet work in English, A History of India.

Head of the Department of Ancient Orient at the Soviet Institute of Regional Studies, Prof. Bongardt-Levin is presently editing a book in English, The Ancient Civilisation.

In the book India in the Ancient Epoch—co-authored with the late Grigori Ilin—Prof. Bongardt-Levin challenges the generally held view that the Harappan or the Indus Valley civilisation was destroyed by Aryans.

New archaeological material, according to Prof Bongardt-Levin, shows that there was a "chronological gap" between the decline of the Harappan civilisation and the arrival of Aryans in India much later in the second millenium before Christ.

Prof. Bongardt-Levin in his interview said this meant that the theory of Aryan invasion of India is wrong. They drifted into India over time and did not come as conquerors.

—Indian Express, New Delhi, 26.4.88

३. आर्यों की तरह द्रविड़ लोग भी भारत के मूल निवासी नहीं हैं। परिणामतः सभी भारतवासी विदेशी हैं। भारत किसी की भी मातृभूमि नहीं है।

वस्तुतः भारत में 'आर्यों की स्थिति' विषयक ये सभी मान्यतायें स्वतः एक दूसरे का प्रत्याख्यान करती हैं।

विक्रम विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष पद्मश्री डा० विष्णु श्रीधर वाकणकर मोहनजोदड़ो में प्राप्त सिन्धु घाटी सभ्यता से सम्बन्धित मुद्राओं को पढ़कर इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि सिन्धु घाटी की लिपि भारतीय है और उसका मूल आर्य सभ्यता में है। उन्होंने विद्वानों की इस मान्यता का बलपूर्वक खण्डन किया है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता आर्येतर है। उनके निष्कर्ष कम्प्यूटर पर आधारित हैं।[1]

विभिन्न क्षेत्रों (पुरातत्त्व, भूगर्भशास्त्र, इतिहास, लोकवार्त्ता आदि) के विशेषज्ञ ३० विद्वानों के सहयोग से चल रही उनकी खोज का कार्य जिस दिन पूरा हो जायेगा उस दिन वह आर्यों के विदेशी आक्रान्ता होने की मान्यता को जड़ से उखाड़ फेंकेंगे।[2]

सन् १६६० में सर्वप्रथम डा० फ़तहसिंह ने सिन्धु लिपि को सफलतापूर्वक पढ़ा था। उस समय तक उन्होंने लगभग ढाई हज़ार मुद्रायें पढ़ ली थीं जिनके आधार पर 'राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान' जोधपुर से प्रकाशित पत्रिका 'स्वाहा' में उन्होंने कई लेख लिखे थे। डा० फ़तहसिंह की खोज पर आधारित एक लेख डा०

१. Mr. Vishnu Shridhar Wakankar, former Head of the Archaeology Department of Vikram University Ujjain claimed here on Thursday that he had successfully made a break through in solving the mystery of the writing of the seals found in the Indus Valley Civilistion of Harappa and Mohenjodaro. He claimed that the Indus Valley script was original to India and its roots are found in the Aryan civilisation. He challenged foreign claims that the Indus Valley civilisation was non-Aryan by stating that recent results were based on computors.—Indian Express, N. Delhi, 3.8.85

२. His survey (conducted by 30 experts drawn from different disciplines like archaeology, geology, history, folklore etc.) when completed might even drastically change the popular conception among historians that Aryans invaded India from central Asia etc.–Times of India, Ahmedabad, 22.12.85

पद्मधर पाठक ने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में उनके समर्थन में लिखा था। इसके बाद इसी पत्र में कैम्ब्रिज के डाक्टर अल्विन ने सम्पादक के नाम पत्र लिखकर उनको सावधान किया था कि डाक्टर सिंह की खोज से तो एक दिन आर्य और द्रविड़ सभ्यता का भेद ही मिट जायेगा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७५ में 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा था—"किसी संस्कृत ग्रन्थ वा इतिहास में नहीं लिखा कि आर्य लोग ईरान से आये और यहाँ के जंगलियों से लड़कर, जय पाके, उन्हें निकाल के इस देश के राजा हुए। पुनः विदेशियों का लेख कैसे माननीय हो सकता है?"—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ८

विदेशी होते हुए भी म्यूर ने स्वामी दयानन्द के मत की पुष्टि की। उनके शब्दों को हम पहले ही उद्धृत कर चुके हैं। इसी मत का बलपूर्वक समर्थन विश्व-विख्यात इतिहासवेत्ता एलफ़िस्टन ने इन शब्दों में किया—"यह निश्चित है कि न मनुस्मृति में, न वेदों में और न मनुस्मृति से प्राचीन किसी अन्य संस्कृत ग्रन्थ में (भारत में आने से पूर्व) आर्यों के भारत से बाहर अन्य किसी देश में रहने का उल्लेख है।[1]

इतना ही नहीं, मिस्र, बैबिलोनिया, सीरिया, चीन, यूनान और अरब के किसी भी पुराने इतिहासकार ने इस बात का संकेत नहीं किया कि भारत में आर्य लोग कहीं बाहर से आकर बसे थे।

---

१. Neither in the code of Manu, nor in the Vedas, nor in any book which is older than the code of Manu, is there any allusion to the Aryan's prior residence in any country outside India.—Elphinston : History of India Vol. I

Ravi Shastri

आर्य और द्रविड़

सामान्य लोगों को सम्भ्रमित करने के उद्देश्य से आर्य-द्रविड़ जातियों के सिद्धान्त की कल्पना लण्डन की रायल एशियाटिक सोसायटी के बन्द कमरे में ६ अप्रैल, १८६६ की सभा में की गई। उस सभा का विवरण इस प्रकार है—

"राइट आनरेबल वाइकाउंट स्ट्रौंगफ़ोल्ड ((Viscount Strongfold) की अध्यक्षता में मिस्टर एडवर्ड टामस ने चौथे शीर्षक के अन्तर्गत चर्चा का प्रारम्भ करते हुए कहा—'आक्सस नदी से आर्यन आक्रामकों की लहरें अरियानिया प्रान्त तथा हिन्दुकुश मार्ग से नीचे उतरीं। प्रथम पंजाब में पहुँचे, तदनन्तर उन्होंने सरस्वती नदी के किनारे ब्राह्मण संस्थायें बनाईं और तक्षशिला में जाकर संस्कृत व्याकरण रचा। जो वर्णमाला उन्होंने अरियानी प्रान्त में पणि (फ़िनीशियन) लोगों से प्राप्त की थी उसका विस्तार करने में उन्हें भोजपत्रों की प्राप्ति से बहुत सहायता मिली। बाद में यह लिपि उत्तर भारत के राज्य में चलती रही। जब उसे अधिक प्रगल्भ और योग्य स्थानीय पाली लिपि ने जीत लिया, जैसा कि अशोक के शिलालेखों तथा लाट लेखों से सिद्ध होता है, और जिससे ईसा पूर्व २५० के समय की लिपि भारतीय उपखण्ड में प्रस्थापित हुई तो आर्य लोग अपनी भाषा के लिए कोई लिपि न खोज सके। तब वे जिस प्रान्त के सम्पर्क में आये उसी की लिपि से उन्होंने अपना काम चलाया। इस प्रकार पुरानी संस्कृत के स्थान पर नई संस्कृत आई। उसके लिए उन्होंने देवनागरी लिपि बनाई जो पूर्व में तुराणी उपभाषाओं की मूल लिपि थी।"[1]

वस्तुतः यह सिद्धान्त कल्पना का खेलमात्र है और गत शताब्दी के साहित्य अथवा पुरातत्त्वीय उपलब्धियों में उसके लिए कोई ठोस साक्ष्य नहीं मिली है।

जब सिन्धु घाटी की सभ्यता का उत्खनन हुआ तब जॉन मार्शल ने लिखा कि सिन्धु घाटी की सभ्यता का विनाश आक्रान्ता आर्यों ने ही किया होगा जो

---

१. अगस्त्य : भारतीय इतिहास तथा कालक्रम का अत्यधिक विपर्यास, नागपुर। रायल एशियाटिक सोसायटी जर्नल, लण्डन, नयी मालिका ५, पाद टिप्पणी, पृष्ठ ४२०।

मैक्समूलर के अनुसार ईसा पूर्व १५०० के आसपास हुआ। पर मार्शल की मान्यता है कि मोहनजोदड़ो पर आर्यों का आक्रमण ईसा पूर्व ३२०० और २७०० के बीच हुआ होगा। और सिन्धु सभ्यता की भाषा का संस्कृत से सम्बन्ध मानना ठीक नहीं होगा। (पृष्ठ १०४); सिन्धु सभ्यता आर्यों से पूर्वकालीन है। सम्भव है, वहाँ एक से अधिक भाषायें रही हों जिनमें से एक द्रविड़ भी हो सकती है। पहला कारण यह है कि आर्यों से पहले सारे उत्तर भारत में द्रविड़ बसे थे और वे वही लोग थे जिनके पास सिन्धु सभ्यता जैसी प्रगत सभ्यता हो सकती थी। दूसरा कारण यह है कि सिन्धु घाटी के पास ही बिलोचिस्तान में बाहुई समाज था जिसने आर्य-पूर्वकाल से द्रविड़ी भाषा का द्वीप सँभाल रक्खा था—उस समय से जब द्रविड़ी यहाँ की सामान्य भाषा रही होगी। तीसरा यह कि द्रविड़ी भाषा संश्लिष्ट भाषा है, जैसी सुमेरी भाषा थी और सुमेरियों का सिन्धु घाटी से बहुत सम्बन्ध था।"[1]

इसी सूत्र को पकड़कर हेनरी हेरास ने १९५३ में दावा किया कि उन्होंने सिन्धु लेख पढ़ लिये हैं और उनकी भाषा द्रविड़-तमिल है। इनके मतानुसार भी जहाँ की भाषाओं में कुछ तमिल सदृश शब्द उपलब्ध हैं, वह द्रविड़ों का मूल देश है। बाहुई भाषा का बिलोचिस्तान में अड्डा है। पर इस तर्क के लिए अभी तक कोई ठोस सबूत नहीं मिला है। यह भी तो हो सकता है कि तमिल प्रवासी तमिलनाडु से बाहर फैले हों।

दक्षिण भारतीयों को अलग इकाई मानने की कल्पना का आरम्भ ईसवी सन् १७०० के आस-पास फ़ादर बार्थलोम्य जिगेलवर्ग ने किया। उसकी पुष्टि आर्य जाति की कल्पना के जनक एडवर्ड टामस ने १८६६ में की। परन्तु उसे द्रविड़ शब्द नहीं सूझा था। १५० वर्षों में द्रविड़ भाषा या वंश के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिला। यह शब्द भाषाशास्त्रियों की सृष्टि है। परन्तु इससे तमिल लोगों में पृथकता की भावना को उभारने में बड़ी सफलता मिली है।

सन् १८१४ में जन्मे डा० काल्डवेल तथा १८१९ में जन्मे फ़ादर बेस्छी ने आर्यभाषाओं से अलग द्रविड़ भाषा का व्याकरण तैयार करके द्रविड़ात्मकता के आधार का निर्माण किया और रैवरण्ड जी० यू० पोप, ह्यूगेन हुल्त्श, ज्यूलस ब्लाक से लेकर फ़ादर हेरास तक मिश्नरियों ने उस आधार को सुदृढ़ किया। दाक्षिणात्यों के दिमाग में उन्होंने यह भी अच्छी तरह बिठा दिया कि उत्तर वाले हिन्दीभाषी लोग तुम्हारे परम्परागत शत्रु हैं जिन्होंने तुम पर अनेक तरह के अत्याचार करके तुम्हें दक्षिण की ओर धकेल दिया।

एडवर्ड टामस ने ही १८६६ में कहा था कि हो सकता है कि ब्राह्मी लिपि का निर्माण द्रविड़ लोगों ने ही किया हो जो सारे भारत में फैले हुए थे और बाद में आर्यों ने उसे स्वीकार कर लिया हो। के० एस० रामचन्द्रन ने लिखा कि एडवर्ड

१. मोहनजोदड़ो एण्ड इण्डस वैली सिविलिज़ेशन, पृष्ठ ४२।

टामस और उसके सहयोगियों ने इस बात का बलपूर्वक प्रचार किया कि ब्राह्मी का उद्‌भव द्रविड़ों से हुआ। परन्तु अब अधिकतर विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं क्योंकि–

१. स्वयं द्रविड़ों का मूल स्थान विवाद का विषय है।

२. ब्राह्मी के सबसे प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण लेख उत्तर भारत में ही मिले हैं।

३. तमिल तथा ब्राह्मी वर्णों की ध्वन्यात्मक रचना एकरूप नहीं है।[1]

वस्तुतः भारतीयों में भेद डालने का षड्यन्त्र प्रायः ईसाई पादरियों ने रचा। पाश्चात्य आक्रान्त सैनिक आक्रमण से पहले पादरियों को भेजते थे जो प्रारम्भ में उन्हें धरती पर पैर रखने और तत्पश्चात् पैर जमाये रखने में सहायक सिद्ध होते थे। इसी कारण सन् १८७६ में बम्बई के गवर्नर लार्ड री ने प्रिंस आफ़ वेल्स के सामने ईसाई मिशनरियों के शिष्टमण्डल को प्रस्तुत करते हुए कहा था —"जितना काम आपके सिपाही, जज, गवर्नर आदि सब मिलकर कर रहे हैं उससे कहीं अधिक ये पादरी लोग कर रहे हैं।"[2] सन् १८५६ में काल्डवेल ने भाषा शास्त्र के निमित्त से 'Comparative philology of the Dravadian or South Indian Languages' नामक पुस्तक लिखी। यह पहले ईसाई पादरी था जिसने द्रविड़ शब्द गढ़कर इस शरारत का सूत्रपात किया। बाद में यह शब्द दक्षिण की भाषा तथा वहाँ के लोगों के लिए प्रचलित हो गया। यद्यपि बाद में दूसरे भाषाशास्त्री जार्ज ग्रीयरसन ने स्पष्ट किया कि "यह द्रविड़ शब्द स्वयं संस्कृत शब्द 'द्रमिल' (Dramila) अथवा 'दमिल' (Damila) का बिगड़ा रूप है और केवल तामिल के लिए प्रयुक्त होता है।" कालान्तर में यह दबा हुआ सत्य, शायद भूल से, स्वयं काल्डवेल भी इन शब्दों में व्यक्त कर बैठा—"यह (द्रविड़) शब्द असल में तमिल है और केवल तमिल लोगों तक सीमित है।"—वही, सं० २, पृष्ठ ५-७

जब द्रविड़ भाषा का नाम गढ़ लिया गया तो द्रविड़ नामक जाति भी खड़ी करनी पड़ी। परन्तु सर जार्ज कैम्पबेल नामक नृवंशवैज्ञानिक (Ethnologist) ने उसके किये धरे पर पानी फेर दिया। उसने लिखा कि "नृवंशशास्त्र के आधार पर उत्तर और दक्षिण के समाज में कोई विशेष भेद नहीं है।...द्रविड़ नाम की कोई जाति नहीं है। निस्सन्देह दक्षिण भारत के लोग शारीरिक गठन, रीति-रिवाज और प्रचार-व्यवहार में केवल एक आर्यसमाज है।"[3]

---

१. The Origin of Brahmi script : D. K. Publications, Delhi, 1979, Introduction, PP. XIX —XX.

२. They are doing in India more then all those civilians, soldiers, judges and governors your Highness has met.

३. I draw no ethnological line between the northern and southren parts of India, not recognising the separate Dravadian classification of the latter as ethnological...A change

उन्हीं दिनों श्री ग्रोवर ने दक्षिण भारत के लोक गीतों पर एक पुस्तक 'Folk Songs of Southern India' लिखकर उसमें तथाकथित द्रविड़ों को आर्य सिद्ध किया। खिसियानी बिल्ली की तरह काल्डवेल खम्भा नोचते रहे। परन्तु विश्व-विख्यात इतिहासविद् श्री बाशम (A. L. Basham) ने अपने एक लेख में 'Some Reflections on Aryans and Dravadians' में जो लिखा उसने इस विवाद को समाप्त-सा कर दिया। उसने लिखा—"इतिहास लेखकों ने मोहनजोदड़ो और हड़प्पा को द्रावड़ कहा है। परन्तु मोहनजोदड़ो में देखी गई कई धार्मिक बातें दक्षिण भारत की विशेष नहीं हैं, न ही दोनों की खोपड़ियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं। इसलिए न कोई आर्य जाति है और न द्राविड़। और हम भी ऐसा ही मानते हैं कि केवल एक मनुष्य जाति है।"[1]

"आस्ट्रेलिया के आदिवासियों और दक्षिण भारत के तथाकथित द्रविड़ों के बहुत से रीति-रिवाजों में समानता है।"[2] यदि आस्ट्रेलिया के निवासी आर्य हैं तो उनके समान रीति-रिवाज वाले द्राविड़ लोग आर्य क्यों नहीं ?

४. सितम्बर १९७७ को संसद् में राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सदस्य सर फ्रैंक एन्थोनी ने माँग की थी कि भारतीय संविधान के आठवें परिशिष्ट में परिगणित भारतीय भाषाओं की सूची में से संस्कृत को निकाल देना चाहिए, क्योंकि यह विदेशी आक्रान्ता आर्यों द्वारा इस देश में लाई गई विदेशी भाषा है।[3]

पुन: २३ फ़रवरी १९७८ को द्रमुक सदस्य के० लक्ष्मणन ने राज्यसभा में माँग की कि (अन्तरिक्ष में छोड़े गये प्रथम) भारतीय उपग्रह का नाम 'आर्यभट्ट' नहीं रक्खा जाना चाहिए था, क्योंकि यह विदेशी नाम है। स्पष्ट है कि संस्कृत के विरोध के मूल में उसका आर्यों की भाषा होना और आर्यों के विदेशी होने के मूल में उनके विदेशी आक्रान्ता होने की भ्रान्त धारणा का होना है।

वास्तव में संस्कृत आर्यबहुल समझे जाने वाले उत्तर भारतीयों की ही भाषा

---

takes place when passing southward we exchange the Marathi for Telgu or Canarese...But looking at the people we see no radical change of features...I have no doubt that the southern society in its structure, its manners and its laws and institutions is an Aryan society—Ethnology of India, P. 15

१. There is no Aryan race and no Dravadian race.—Bulletin, Institute of Historical Research, Madras, 1963, P. 225.

२. Gilbert Slater : Dravadian Elements in Indian Culture, P. 97.

३. Sanskrit should be deleted from the 8th schedule of India's constitution, because it is a foreign language brought to this country by foreign invaders, the Aryans.
—Indian Express, Delhi, 5.9.77.

नहीं है। आज संस्कृत के उच्चकोटि के विद्वान् जितने दक्षिण भारत में हैं उतने शायद उत्तर भारत में नहीं। एक-एक अक्षर और एक-एक मात्रा को ध्यान में रखकर वेदों के शुद्ध रूप को जानने वाले दक्षिण भारत के तथाकथित अनार्य-द्राविड़ ब्राह्मण ही मिलेंगे। यहाँ ब्राह्मण भी द्राविड़ होता है। समय बीतने के साथ जलवायु के भेद अथवा भौगोलिक अवरोध के कारण आदान-प्रदान के अवसरों में कमी हो जाने से कई रीति-रिवाज बदल जाते हैं। तो क्या इससे जातियाँ बदल जाती हैं।

कहा जाता है कि आर्यों के भारत प्रवेश से पूर्व भारत में जो द्राविड़ सभ्यता विद्यमान थी अब ईराक और भूमध्यसागर के तट पर विद्यमान प्राचीन सभ्यता या यूरोप की आइबीरियन सभ्यता के समकक्ष थी। इसे संसार की मूलभूत सभ्यता कहा जाता है। आर्य लोग इस सभ्यता के साथ आक्रान्ता के रूप में सम्पर्क में आये। जिस प्रकार यूरोप में ग्रीक, लेटिन आदि प्राचीन आर्य जातियों ने आक्रमण कर आइबीरियन सभ्यता को ध्वस्त किया और जैसे हत्ती (या हित्ताइत), मित्तनी आदि जातियों ने पश्चिमी एशिया की मूल सभ्यता का नाश किया, वैसे ही भारत में आर्य आक्रान्ताओं ने द्रविड़ सभ्यता को परास्त किया। ये ग्रीक, लेटिन, हत्ती, मित्तनी, भारतीय आर्य आदि सब एक विशाल आर्य जाति की ही विविध शाखायें थीं जो अनेक धाराओं में प्रवाहित होकर प्राचीनतम सभ्यताओं के क्षेत्र में प्रविष्ट हुई। यूरोप में ग्रीक और लेटिन लोगों से पहले भी केल्टिक जाति के रूप में आर्य जाति की एक धारा प्रवेश कर चुकी थी। भारत में भी आर्यों का प्रवेश अनेक धाराओं में हुआ। डाक्टर हार्नली के अनुसार आर्य लोग भारत में दो धाराओं में आये। पहली धारा उत्तर-पश्चिम की ओर से प्रविष्ट होकर भारत के मध्य देश (गंगा-यमुना का क्षेत्र) तक चली गई। आर्यों की दूसरी धारा ने मध्य हिमालय (किन्नर देश, गढ़वाल और कूर्मांचल) के रास्ते भारत में प्रवेश किया और अपने से पहले बसे हुए आर्यों को पूर्व, पश्चिम और दक्षिण की ओर धकेल दिया।

वस्तुतः इनमें से बहुत-सी स्थापनायें कल्पनाप्रसूत होने से अटकल, अनुमान, सम्भाव्यता आदि पर आधारित हैं। आर्यों ने अपने इतिहास में कहीं इस बात का संकेत नहीं किया कि वे कहीं बाहर से आकर भारत में बसे। आर्यों को विदेशी सिद्ध करने का प्रयास करने वालों में मिस्टर म्यूर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर्षों तक आर्य साहित्य को उलटने-पलटने के बाद उन्हें लिखना-पड़ा—"जहाँ तक मुझे ज्ञात है, संस्कृत के किसी ग्रन्थ में, यहाँ तक कि प्राचीनतम साहित्य में भी, आर्यों के विदेशी होने का संकेत नहीं मिलता।"[1] वास्तव में आर्यों की

१. So far as I know, none of the Sanskrit books, not even the most ancient, contain any reference or allusion to the foreign origin of the Aryans.–Muir's Sanskrit Texts, Vol. II, P. 323.

किसी भी शाखा ने कहीं इस बात का संकेत नहीं किया कि हमारा एक दल भारत की ओर गया। आर्यों के साहित्य से न सही, तथाकथित मूल निवासियों की किसी कथा से भी यह सिद्ध नहीं होता कि आर्य लोग कहीं बाहर से आये और उन्हें मार-पीटकर अपने घर से खदेड़ दिया। पाश्चात्य मतानुसार जिन आर्यों ने ऋग्वेद जैसा महान् ग्रन्थ लिखा, उन्होंने उसमें अपनी इतनी भारी विजय का कहीं उल्लेख नहीं किया। संसार में कौन ऐसी सभ्य जाति है जिसने अपनी विजय गाथा न लिखी हो। यदि लंका विजय का उल्लेख रामायण में और पाण्डवों की विजय का उल्लेख महाभारत (जिसका मूल नाम ही 'जय' था) में यहाँ के कवि कर सकते थे तो आर्यों ने यहाँ के तथाकथित आदिवासियों पर अपनी महान् विजय का उल्लेख अपने ग्रन्थों में क्यों नहीं किया ? किसी भी सुसभ्य जाति के लिए सैंकड़ों-हज़ारों वर्षों में भी स्वदेश को भूलना सम्भव नहीं। यहूदी जाति इसका जीता-जागता उदाहरण है। दो-ढाई हज़ार वर्ष पूर्व उन्हें अपने देश से निर्वासित होना पड़ा था और वे सारे संसार में बिखरकर रह गये थे। परन्तु एक दिन के लिए भी वे अपने देश को नहीं भूल पाये और अवसर मिलते ही उनमें से अधिकतर अपने घर लौट आये और अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफल हुए। आज उनकी गिनती संसार के शक्तिशाली राष्ट्रों में की जाती है। यदि आर्य लोग किन्हीं विशेष परिस्थितियों में अपना घर छोड़कर भारत में आये होते तो यह कैसे हो सकता था कि वे उसका नाम तक भूल जाते। किन्तु प्राचीन साहित्य में ही नहीं, अनुश्रुतियों तक में कहीं उसकी चर्चा सुनने में नहीं आती। सच तो यह है कि न आर्य बाहर से आये और न उन्होंने यहाँ के तथाकथित मूल निवासियों को यहाँ से खदेड़ा। यह कहना पाश्चात्यों की एक कूटनीतिक चाल थी। यदि आर्यों से पहले कोल और द्रविड़ यहाँ के मूल निवासी होते तो उनकी भाषा में इस देश का कुछ नाम अवश्य रहा होता। पर तथाकथित अनार्यों (द्रविड़ों अथवा दासों—दस्युओं) की भाषा में आर्यावर्त्त, ब्रह्मावर्त्त या भारतवर्ष से पहले इस देश का कोई नाम नहीं मिलता। इससे तो यह बात बिल्कुल उड़ जाती है कि आर्यों से पूर्व यहाँ कोल, द्रविड़ आदि कोई और लोग रहा करते थे, क्योंकि जहाँ कहीं भी मनुष्यों का वास होता है उस भूखण्ड को किसी न किसी नाम से अवश्य जाना जाता है।

कुछ समय से पढ़े-लिखे कुछ तथाकथित द्रविड़ों ने अपना कुछ इतिहास लिखना प्रारम्भ किया है। परन्तु उन्होंने अपना इतिहास किन्हीं अनार्य नामों से प्रारम्भ न करके अगस्त्य तथा कण्व आदि ऋषियों के चरित्र से आरम्भ किया है। अगस्त्य और कण्व आदि निस्सन्देह आर्य नाम हैं और इन नामों का मूल वेद में है, क्योंकि प्राचीन काल में लोग अपने नाम वेद में आये शब्दों को पसन्द करके उनके अनुकरण पर रखते थे। इन नामों के वैदिक = वेदमूलक होने से द्रविड़ों के पूर्वज भी आर्य

सिद्ध होते हैं और वही यहाँ के मूल निवासी ठहरते हैं। 'वैदिक सम्पत्ति' के लेखक रघुनन्दन शर्मा ने लिखा है—"इस विषय में एक द्रविड़ मद्रास से लिखते हैं कि द्रविड़ों की भाषा, रूप, विश्वास, धर्म और इतिहास से मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि वे लोग लगभग ५०० वर्ष ईसा पूर्व पश्चिमी एशिया के समुद्र पार से यहाँ आये।" यह द्रविड़ जाति के एक पढ़े-लिखे आधुनिक विद्वान् की राय है। महात्मा बुद्ध का प्रादुर्भाव १८०० वर्ष ईसा पूर्व में हुआ था। उस समय से हज़ारों वर्ष पूर्व आर्यों के यहाँ रहने का प्रमाण उपलब्ध है। उपर्युक्त विद्वान् के इस लेख के अनुसार कि द्रविड़ लोग ईसवी सन् से ५०० वर्ष पूर्व यहाँ आये, उनसे पूर्व यहाँ आर्यों का होना स्वतः सिद्ध है।

चन्दन और कपूर दोनों मद्रास की पैदावार होते हुए भी इन दोनों का नाम द्रविड़ों की भाषा में नहीं है। वे 'चन्दन' को 'मञ्छीगन्धम्' और 'कपूर' को 'करप्पू' कहते हैं। 'मञ्छी', मञ्जु शब्द का और 'गन्धम्' सुगन्ध का अनुवाद है। अच्छी गन्ध वाला होने से चन्दन का नाम 'मञ्छीगन्धम्' रक्खा गया। इसी प्रकार 'करप्पू' कर्पूर का अपभ्रंश है। हम देखते हैं कि चन्दन और कर्पूर आर्यों की तीनों शाखाओं में पाये जाते हैं। चन्दन को संस्कृत में चन्दन, फ़ारसी में सन्दल और अंग्रेज़ी में सेण्डल कहते हैं। इसी तरह कपूर को संस्कृत में कर्पूर, फ़ारसी में काफ़ूर और अंग्रेज़ी में कैम्फ़र कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि द्रविड़ों से पहले आर्यों को इन पदार्थों और इनके नामों की जानकारी थी। कालान्तर में द्रविड़ों ने अपनी भाषा में (जो मूलतः संस्कृत ही थी) इन नामों की नक़ल की। अतः मद्रास में भी द्रविड़ों से पूर्व आर्यों का होना सिद्ध है।

भारत की लोकसभा के अध्यक्ष तथा दाक्षिणात्य विद्वान् श्री अनन्तशयनम् आयंगर ने लिखा है कि आन्ध्र के लोग प्रारम्भ से ही अपने आपको आर्यों से निःसृत मानते आये हैं और अपनी लिपि, भाषा, साहित्य, धर्म, कला और विज्ञान की दृष्टि से उनका निकट सम्बन्ध रहा है।[1]

इसी प्रकार संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीकण्ठ शास्त्री का कथन है कि द्राविड़ भाषाओं का उद्गम भारत के बाहर नहीं खोजा जा सकता। जैसे इटली की भाषा लेटिन से निःसृत है, वैसे ही द्राविड़ भाषाओं का आर्यभाषा से विकसित होना

---

१. From the beginning the Andhras have traced their origin to Aryan source and provided themselves of their more intimate counection with the Aryas in regard to their script, language, literature, religion, art and science.

—Sanskrit Vimarsha, Vol. II.

सिद्ध किया जा सकता है।[१]

नेसफ़ील्ड ने स्पष्ट घोषणा की कि भारत के लोगों को आर्यों और आदिवासियों के रूप में विभक्त करने की कल्पना बिल्कुल आधुनिक है।[२]

अमरीकी मानवशास्त्र निष्णात (Anthropologist) डा० मिल्टन सिंगर, तथा भारत के सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता प्रो० के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री ने समवेत स्वर में कहा है कि आर्य और द्रविड़ विवाद का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है।[3]

योगिराज अरविन्द का कहना है—"इस प्रकार के (भारत पर आर्यों के) आक्रमण का वास्तव में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। आर्यों तथा अनार्यों के बीच विवाद को, जिसको आधार मानकर इतना कुछ कहा जाता है, दो संस्कृतियों का विवाद तो भले ही कह दिया जाये, दो जातियों का विवाद नहीं कहा जा सकता।"[४]

मैक्समूलर को भी स्वीकार करना पड़ा—"यदि संस्कृत को मृत भाषा भी मान लिया जाये, जैसी कि वह है नहीं, तो भी आर्य और द्रविड़ दोनों सहित सब जीवित भाषाओं का प्राण और आत्मा संस्कृत है। संस्कृत का सामान्य ज्ञान रखने वाला भी तमिल सहित भारत की कोई भी भाषा आसानी से समझ सकता

---

१. No extra-Indian origin of the Dravadian languages can be traced and it can be demonstrated that the Dravadian languages developed from the Aryan dialects even as Italian is the result of the breakdown of Latin.

—Shrikantha Shastri : Bharatiya Vidya, P. 146.

२. It is a modern doctrine which divides the population of India into Aryans nnd aborigines—Nesfield : Brief Review of the Caste System of the North-Western Provinces of Oudh, P. 27.

३. American anthropologist Dr. Milton Singer and well-known historian of India, Prof. K. A. Nilkantha Shastri were unanimous in their view that the Aryan-Dravadian race controversy had no scientific base.

—The Hindu, Madras, 3. 2. 1964.

४. There is no actual mention of any such invasion. The discussion between Aryans and non-Aryans, on which so much has been built, seems on the mass of evidence to indicate a cultural, rather than a racial difference.

—Shri Aurobindo : The Vedas, P. 30.

है।"[1]

टामस बरो जैसे पुरातत्त्ववेत्ता का दावा है कि आर्यों के भारत पर आक्रमण का न कहीं इतिहास में उल्लेख मिलता है और न इसे पुरातत्त्व की सहायता से सिद्ध किया जा सकता है।[2]

आर्य और द्राविड़ भाषायें

दक्षिण की मुख्य भाषायें तेलगू, कन्नड़, मलयालम और तमिल हैं। सामूहिक रूप से इन्हीं को द्राविड़ भाषाएँ कहा जाता है। अपने राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धयर्थ पाश्चात्य लेखकों ने यह प्रचारित कर रक्खा है कि भारत के मूल निवासी द्रविड़ों की भाषाओं का आर्यों की संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं है। उत्तर और दक्षिण के लोगों, आर्यों और द्रविड़ों अथवा ब्राह्मणों और ब्राह्मणेतरों में परस्पर विरोध व विद्वेष की भावना को उभारने के मूल में 'फूट डालो और राज्य करो' (Divide and rule) की नीति काम करती रही। परन्तु वास्तव में संस्कृत भारत की सभी भाषाओं की जननी है। कुछ भाषाओं में तो संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द इतनी प्रचुरता से पाये जाते हैं कि उनके संस्कृत ही होने का भ्रम हो जाता है। उदाहरणार्थ हम यहाँ अपने दोनों राष्ट्रगीतों की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं—

१—वन्दे मातरम्।

सुजलां सुफलां मलयज शीतलां, शस्यश्यामलां, शुभ्रज्योत्स्नां पुलकित यामिनीं, फुल्लकुसुमित द्रुमदलशोभिनीं सुहासिनीं सुमधुरभाषिणीं सुखदां वरदां मातरम्।

---

१. Even if Sanskrit were more of a dead language, which it real is not, all the living languages of India, both Indian and Dravadian, draw their life and soul from Sanskrit. Any candidate, who knows but the elements of Sanskrit, will understand any language of India, even Tamil.

—India : What can it teach us, P. 74.

२. The Aryan invasion of India is recorded in no written document and it cannot be traced archaeologically—Quoted from 'The Early Aryans' Published in 'Cultural History of India' edited by A. L. Basham, published Clarandon Press Oxford, 1975.

२—जनगणमन अधिनायक जय हे भारत भाग्य विधाता।
तव शुभ नामे जागे तव शुभ आशिष मांगे गाहे तव जय गाथा।
जनगण मंगल दायक जय हे भारत भाग्य विधाता।

ये दोनों गीत बंगला के हैं, किन्तु प्रायः लोग इन्हें संस्कृत के गीत समझते हैं।

भारतीय लोकसभा के तत्कालीन उपाध्यक्ष (कालान्तर में अध्यक्ष) तमिल-भाषी श्री अनन्तशयनम् आयंगर ने ११ दिसम्बर, १९५३ को दिल्ली विश्वविद्यालय में संस्कृत परिषद् का उद्घाटन करते हुए कहा था—"संस्कृत सब भारतीय भाषाओं का स्रोत है। सब भारतीय भाषायें संस्कृत से निःसृत हैं। बंगला और तेलगू में ७५ प्रतिशत और मलयालम में ९० प्रतिशत संस्कृत के शब्द पाये जाते हैं। इतना अवश्य है कि कहीं-कहीं संस्कृत के शब्दों को कुछ अन्तर के साथ ले लिया गया है।"[१] पुनः हमारी उपस्थिति में दिल्ली पब्लिक लायब्रेरी में सम्पन्न इन्द्रप्रस्थीय संस्कृत परिषद् की सभा में भाषण देते हुए श्री आयंगर ने कहा कि तेलगू में ७५ प्रतिशत, कन्नड़ में ८० प्रतिशत, मलयालम में ९० प्रतिशत और तमिल में ५० प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं।

तेलगू और संस्कृत

भर्तृहरि का एक श्लोक है—

दानं भोगो नाशः तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

इस श्लोक का तेलगू रूपान्तर इस प्रकार है—

दानमु भोगमु नाशमु हूनिकतो मुड्डुगतल्र भुवि धनमुनकम्।
दानमु भोगमु निरुगने दीननि धनमुनक गति तृतीयमे पोसगुन॥

इस पद्य में दान, भोग, नाश, धन, भुवि, गति तथा तृतीय विशुद्ध संस्कृत के शब्द हैं। तेलगू का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है—

सदा शिवं शिखाग्रमध्ये प्रणव मूल ज्योति।
हृदयपुण्डरीकममलं नित्यं परं ज्योति॥

---

१. Sanskrit was the fountain-head of all Indian languages. All Indian languages are offshoots of Sanskrit. Bangla and Telgu had about 75 percent Sanskrit words, while Malayalam had about 90 percent. The only change was that Sanskrit words had been absorbed with slight changes here and there.
—Hindustan Times, New Delhi, 13. 12. 1953.

अंगुष्टमात्र परमपुरुष दिव्य परं ज्योति।
शृङ्गमध्ये शुंशुमार नित्य परं ज्योति॥
वासना क्षयादि त्रिगुणातीत नीलं ज्योति।
सासिरारू जल ज्योति साम्ब शिवस्वरूपा॥
मात्रिका क्षराग्ररामतारकाग्नितेजसे।
नित्य मङ्गलाङ्गमूल प्रणव मन्त्र स्वरूपिणे॥

इन पद्यों—७ पंक्तियों में—३२ शब्द संस्कृत के हैं। आन्ध्रभाषा के महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों में कम से कम ७५ प्रतिशत संस्कृत के शब्द हैं, यह कहने में कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। जिस भाषा में इतने अधिक संस्कृत के शब्द हों, उसके विषय में यह कहना कि द्राविड़ भाषा होने से वह आर्यों की भाषा संस्कृत से सर्वथा भिन्न है, कितना बड़ा मिथ्या कथन है! इन भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण उत्तर भारत के विद्वान् तक इस बात पर विश्वास कर लेते हैं कि द्राविड़ भाषाओं का संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं है।

कन्नड़ और संस्कृत

उत्तरादि मठ के अध्यक्ष स्वामी श्री सत्यध्यानकृत 'अद्वैतमत विचार' पुस्तक से कन्नड़ भाषा का एक उद्धरण यहाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

ई जगत्तिनल्लि सर्वदा सुखवे नमगागलि दुःखवु स्वल्पवाद वेडेन्दु सर्वरिन्दल् प्रार्थ्यमानवाद सुखवु जीवन स्वरूपवागिद्दरुअदरमेले प्रकृतिरूपवाद बन्ध (आवरण) ···अनुभविसुव जीवर दुःखनिवृत्तिगोस्कर श्रवणमनननिदिध्यासनादि साधनगलन्नु उपदेशिसुव वेदगल उपदेशानुसारवागि···माहात्म्य ज्ञान पूर्वकवाद स्नेहरूपवाद भक्तिमन्नु माडिआ परमात्मन प्रसादवन्नु···।

इस छोटे से सन्दर्भ में ३४ शब्द संस्कृत के हैं। इसी प्रकार कन्नड़ के प्रायः सभी ग्रन्थों में ६५ से ७० प्रतिशत तक संस्कृत के तत्सम व तद्भव शब्द पाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में द्रविड़ के नाम पर कन्नड़ को आर्येतर भाषा कैसे कहा जा सकता है?

मलयालम और संस्कृत

मलयालम भाषा में तो संस्कृत के शब्द तेलगू और कन्नड़ से भी अधिक हैं। उदाहरणरूप मलयालम के महाकवि बल्लातोल की कविताओं में से एक अंश प्रस्तुत है—

गीतावक्कु मातावाय भूमिये दृढमितु मतिरि योह कर्मयोगिये प्रसविक्कु।
हिमवद् विन्ध्याचल मध्यदेशत्ते काणू शममे शीलच्चे सुवितम् सिंहत्तिने॥
गगापारोलुकुन्न नाहिले शरिविकत्र मंगलम् कायकुम् कल्पपादप मुण्टायूस्न

नमस्ते गतवर्ष। नमस्ते दुराधर्ष नमस्ते सुमहात्मन्। नमस्ते जगद्गुरो ॥

इस छोटे से पद्य में गीत, भूमि, मति, कर्मयोगी, प्रसव, हिमवद्, विन्ध्याचल, मध्यदेश, राम, शील, सिंह, मंगलम्, गतवर्ष, सुमहात्मन्, नमस्ते, जगद्गुरु आदि बहुत से शुद्ध संस्कृत के शब्द विद्यमान हैं। तद्भव शब्दों की तो गणना ही क्या की जाए। इसे पढ़-सुनकर एक बार तो संस्कृत के विद्वान् को भी इसके संस्कृत होने का भ्रम हो सकता है।

तमिल और संस्कृत

प्राय: यह कहा जाता है कि तमिल भाषा सर्वथा स्वतन्त्र भाषा है और संस्कृत से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। डाक्टर टेलर (Taylar) नामक पाश्चात्य विद्वान् के मत को दिखाते हुए ताम्बे पिल्ले नामक दाक्षिणात्य विद्वान् ने 'आर्य' शब्द की उत्पत्ति के विषय में लिखा है—

कुछ वर्ष पूर्व डाक्टर टेलर ने सिद्ध कर दिया था कि तमिलोयड भाषा (जिसका प्रतिनिधित्व दक्षिण की सबसे अधिक विकसित भाषा तमिल करती है) सब भारतीय भाषाओं का मूल थी। भारतीय भाषाशास्त्र के विद्यार्थी शनै: शनै: इस बात को स्वीकार करते जा रहे हैं कि भारत की सब भाषाओं का मूलाधार तमिल है और उसने वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के निर्माण तथा विकास को विशेषरूप से प्रभावित किया है।[1]

ऐसा ही विचार डा० गुण्डर्ट (Gundert) तथा कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्रकट किया है। प्रो० राइस डेविड्स (Rhys Davids) के मत को उद्धृत करते हुए श्री टी० शेष अय्यङ्गर ने लिखा है—"प्रो० राइस डेविड्स ने आर्य भाषाओं के विकास पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि वैदिक संस्कृत में मूल द्रविड़

---

१. It was proved years ago by Dr. Taylor that a Tamiloid langnage, now represented by its most cultivated branch in the South, constituted the original staple of all the languages of India. The existence of a Tamilian substratum in all the modern dialects of India and the profound influence, which the classical Tamil has exercised on the formaton and development both the Vedic and classical sanskrit, is gradually coming to be recognised by students of Indian Philology.—Origin of the word 'Arya by Tambay Pillai, Tamil Antiquity, Vol. II, No 2.

भाषा का बहुत अधिक मिश्रण है।"[1]

वस्तुतः इस प्रकार के विचार नितान्त अशुद्ध, असंगत तथा पूर्वाग्रह से युक्त हैं। श्री अनन्तशयनम् आयंगर के पूर्वोद्धृत वक्तव्य के अनुसार संस्कृत समस्त भारतीय भाषाओं का आदिमूल है और तमिल में कम से कम ५० प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं। श्री अनन्तशयनम् आयंगर के समान ही तमिलभाषी श्री दौरेस्वामी अय्यङ्गार ने 'सार्वदेशिक' (मई १९४७) में लिखा था—

यह कहा जाता है कि मद्रास की तमिल भाषा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भाषा है जिसका संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके उदाहरण के लिए 'कम्ब रामायण' को प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु यह बात भ्रममात्र है, क्योंकि न केवल आधुनिक तमिल ग्रन्थों में, अपितु पुराने ग्रन्थों में भी जो तमिल कवितायें पाई जाती हैं, उनमें बहुत से संस्कृत शब्द (कई जगह ज्यों के त्यों और कई जगह अपभ्रंश रूप में) प्रयुक्त किये गये हैं। तमिल की बोलचाल की भाषा तो संस्कृत के शब्दों से भरी पड़ी है। इनके बिना काम ही नहीं चल सकता। 'कम्ब रामायण' को भी ध्यान से पढ़ें तो उसमें भी अपभ्रंश रूप में अनेक शब्द मिल जायेंगे। 'रामायण' शब्द ही अपने आप में संस्कृत का पद है। तमिल की पुस्तकों में 'श्रीराम मिथुलिम नगर चेङ्ू शिव धनुषै अति शीघ्र बडैयु जनक पुत्रि सीता देव्यै विवाहं मुदिन्ददु प्रजैकल दम्पतिकुलै अति सन्तोष तुड़न अङ्गिहारं शैंनदत्' जैसे वाक्यों में नगर, धनुष, अतिशीघ्र, जनकपुत्रि, विवाह, प्रजा, दम्पति, अति सन्तोष जैसे अनेक शुद्ध संस्कृत के शब्द हैं।

अनन्तशयनम्, राधाकृष्णन, रामास्वामी, रामचन्द्रन, भक्तवत्सलम, सीतारामैया, राजगोपालाचार्य, राममूर्ति, सत्यमूर्ति, प्रकाशम, कामराज, सुब्रह्मण्यम स्वामी, भारती, महालिंगम, कृष्णास्वामी, नारायणम्, स्वामीनाथन, करुणानिधि, वैजयन्ती, जानकी, जयललिता, लक्ष्मी आदि नाम संस्कृत के तो हैं ही, उत्तर भारत और दक्षिण भारत दोनों जगह समान रूप से प्रयुक्त होते हैं।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचारसभा द्वारा प्रकाशित और एस० महालिङ्गम् द्वारा लिखित 'तमिल स्वयं शिक्षक' पुस्तक से कुछ शब्द उदाहरणार्थ दिये जाते हैं—

---

१. Prof. Rhys Davids in his Buddhist India, commenting on the evolution of Aryan lnaguages of India, maintains that 'Vedic Sanskrit is largely mixed up with primitive Dravadian.' (Buddhist India, P. 156)—The Ancient Dravadians by T. R. Shesha Iyangar, P. 43.

तमिल	संस्कृत	तमिल	संस्कृत	तमिल	संस्कृत
वार्ते	वार्ता	सायन्दिरम्	सायंकाल	चित्तिरै	चैत्रम्
ग्रामम्	ग्रामः	कोपम्	कोपः		
पट्टणम्	पत्तनम्	वर्षम्	वर्षा		
शुद्मान	शुद्धम्	कूहम्	कूटः		
जलम्	जलम्	समाचारम्	समाचारः		
दूरम्	दूरम्	अनेह	अनेक	दिराक्षै	द्राक्षा
पुस्तकम्	पुस्तकम्	जनंगल	जनाः	मुत्तु	मुक्ता
अदिहम	अधिकम्	आशे	आशा	गंदहम	गंधकम्
शिग्गरम्	शीघ्रम्	परीक्षै	परीक्षा	हृदयम्	हृदयम्
पत्तिरम्	पात्रम्	रत्तम्	रक्तम्	कार्त्तिहै	कार्त्तिकम्
पलक्	फलम्	वन्दनोपचारम	वन्दनोपचारः	बुदन	बुधवारः
पाठम्	पाठः	विवरम	विवरणम्		
उत्सवम्	उत्सवः	करगोषम्	करघोषः		

स्थालीपुलाकन्याय से प्रस्तुत उपर्युक्त शब्दों को देखने के बाद कौन कह सकता है कि तमिल का संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं है।

Ravi Shastri

आर्य-दास-दस्यु

वेदों में आपाततः आर्यों और दस्युओं के बीच युद्ध होने और आर्यों द्वारा दास या दस्युओं के पराजित किये जाने का उल्लेख मिलता है। परन्तु निश्चय ही वह उल्लेख दो जातियों के युद्ध से सम्बद्ध नहीं है। श्री अरविन्द का निश्चित मत है कि "ऋग्वेद में जिस युद्ध और विजय का उल्लेख हुआ है, वह कोई भौतिक युद्ध या लूटमार नहीं, बल्कि आध्यात्मिक संघर्ष और आध्यात्मिक विजय है।"[1] वेदों में ऐसे अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं जिनमें दस्यु न तो मानवीय शत्रु प्रतीत होते हैं और न भौतिक प्रकाश के शत्रु। वहाँ दस्युओं अथवा पणियों को आध्यात्मिक प्रकाश अथवा दिव्य सत्य एवं दिव्य विचार के शत्रु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद ५।१४।४ में कहा गया है—

अग्निर्जातो अरोचत घ्नन् दस्यून् ज्योतिषा तमः। अविन्दद् गा अपः स्वः॥

अर्थात्—अग्नि पैदा होकर चमका, ज्योति से दस्युओं का, अन्धकार का हनन करता हुआ। उसने गौओं को जलों को, तथा स्वः को पा लिया।

यहाँ अग्नि द्वारा ज्योतिष् (प्रकाश) से दस्युओं के हनन का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि यहाँ 'दस्यु' शब्द किसी मानवीय शत्रु का वाचक नहीं है। दस्यु यहाँ तमः=अन्धकार का पर्याय है। इसलिए आर्यों का सम्बन्ध प्रकाश से होना चाहिए। सूर्य सत्य का देवता है। इस सत्य के प्रकाश को ही आर्य धारण करता है जिससे उसका आर्यत्व सार्थक होता है। ऋग्वेद में आर्यों के लिए **'ज्योतिरग्रा'** विशेषण प्रयोग किया गया है जिसका अभिप्राय है प्रकाश को आगे रखने अर्थात् उसे अपना नेता मानने वाले। इसके विपरीत दस्यु अज्ञान का उपासक है। प्रकाश श्वेत अर्थात् ज्ञान का प्रतीक है तो अन्धकार कालेपन या अज्ञान का प्रतीक है। ऐसे प्रसंगों में 'वर्ण' शब्द का अर्थ स्वभाव करना अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार दस्यु और पणि इत्यादि अनृत और अज्ञान की कुटिल शक्तियाँ हैं जो आर्यों के सच्चे ज्ञान का दमन करने में सचेष्ट रहती हैं। इस दृष्टि से आर्यों और दस्युओं का युद्ध सज्जनों और दुर्जनों का संघर्ष है जो कहीं भी हो सकता है। ऐसे प्रसंगों में यास्क

---

१. वेदरहस्य, पूर्वार्द्ध, पृ० २६४।

का यह वचन याद रखना चाहिए कि वेदों में अनेक स्थलों पर युद्ध आदि का, उपमा आदि की दृष्टि से आलंकारिक वर्णन हुआ है–**'तत्र उपमार्थेन युद्ध-वर्णा भवन्ति।'**

किसी भी स्रोत से तथाकथित आर्य-दस्यु युद्ध का क्षीण से क्षीण निर्णायक प्रमाण न मिलने यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय इतिहास के आदिकाल में भारत की ओर से कहीं से कोई आक्रमण नहीं हुआ। आर्य जाति की परिकल्पना और उसके भारत पर आक्रमण के पीछे यह तथ्य रहा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में आर्यों और दासों का उल्लेख अनेक बार आता है और इन उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि इनके बीच तनाव संघर्षपूर्ण थे। इसी के आधार पर 'आर्य आक्रमण' को प्रमाणित करने के लिए उतावले विद्वानों ने आर्यों को आक्रमणकारी कबीले और दस्युओं या दासों को स्थानीय मूल निवासियों के रूप में प्रस्तुत करना आरम्भ किया। मैकडानल की 'Vedic Reader'में, जो आज भारत के सभी महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती है, लिखा है—"ऋग्वेद की ऋचाओं से प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री से पता चलता है कि इण्डो-आर्यन लोग सिन्धु पार करके भी आदिवासियों के साथ युद्ध में संलग्न रहे। ऋग्वेद में उनकी इन विजयों का वर्णन है। विजेता के रूप में वे आगे बढ़ रहे थे, यह इस बात से सूचित होता है कि उन्होंने अनेकत्र नदियों का अपने मार्ग में बाधक रूप में उल्लेख किया है। उन्हें उनकी जातिगत तथा धार्मिक एकता का पता था। वे अपनी तुलना में आदिवासियों को यज्ञविहीन, आस्थाहीन, काली चमड़ी वाले व दास रंग वाले और अपने आपको आर्य रंगवाले कहते थे।"[1]

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद में आये आर्य तथा दास या दस्यु जैसे शब्द भिन्न-भिन्न जातियों के बोधक हैं। उनका कहना है कि आर्य लोग भारत के मूल निवासी नहीं थे। यहाँ के आदिवासी तो कोल, द्रविड़, भील, सन्थाल आदि थे जिन्हें वेद में दास या दस्यु के नाम से अभिहित किया गया है। आर्यों का धर्म, सभ्यता, रंग-रूप, आकृति, भाषा—सब कुछ भिन्न थे। आदिवासी जातियों का रंग काला था, उनकी नाक चपटी थी और वे शिश्न या लिङ्ग की पूजा किया करते

१. The historical data of the hymns show that the Indo-Aryans were still engaged in war with the aborigines, many victories over these foes being mentioned. That they were still moving forward as conquerers is indicated by referring to rivers as obstacles to their advance. They were conscions of religious and racial unity, contesting the aborigines with themselves by calling them non-sacrificers and non-believers, as well as black-skinned and Das coloured as opposed to the Aryan colour.

थे। आर्यों के साथ उनका सदा युद्ध हुआ करता था। आर्यों की बुद्धि प्रखर थी और शस्त्रास्त्र भी अच्छे थे। इसलिए वे प्रायः आदिवासियों पर विजय प्राप्त करते थे और उन्हें अपना दास बना लेते थे। इन्हीं मूल निवासियों के लिए वेद में दास तथा दस्यु जैसे घृणात्मक शब्दों का प्रयोग किया गया है। वैदिक धर्म को भ्रष्ट करने, अंग्रेज़ी राज्य की जड़ें मजबूत करने और अन्ततः भारतीयों को ईसाई बनाने के उद्देश्य से ही इस प्रकार की भ्रान्तियां फैलाई गईं जिनके परिणामस्वरूप इस देश को न जाने कितनी विपत्तियों का सामना करना पड़ा है। कुछ जान बूझकर और कुछ वेद के मर्म को न समझने के कारण इन शब्दों को उनके सन्दर्भ से काट अन्यथा अर्थ करके देश को विघटन के मार्ग पर डाल दिया गया। वास्तव में वेद में आये आर्य तथा दास या दस्यु आदि शब्द जातिवाचक न होकर गुणवाचक हैं। मैक्समूलर ने बहुत पहले विद्वानों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया था कि आर्य शब्द को जाति के अर्थ में लेना युक्तियुक्त नहीं है।[1] बाद के विद्वानों ने उनके इस मत का बार-बार समर्थन किया।[2] पर इसके बावजूद भारतीय क्षेत्र में आते ही वे इस बात को भूल जाते हैं। मैक्समूलर का कहना था कि 'आर्य' शब्द केवल भाषा के अर्थ में ही सार्थकता रखता है, पर इसका भी कारण यह नहीं कि प्राचीनकाल में भाषा विभाग की दृष्टि से आर्य भाषा जैसी कोई चीज़ थी। वास्तव में इस नाम का चुनाव भी मैक्समूलर ने सुविधा की दृष्टि से किया था, क्योंकि वह इण्डो-जर्मनिक, इण्डो-यूरोपियन आदि नामों की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त, अधिक सार्थक और अधिक व्यापक था।[3]

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों से अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के अवशेष प्रकाश में आये जिससे वह प्राचीन मिस्र, सुमेर एवं बेबीलोन की सभ्यताओं की समकालीन नागर सभ्यता सिद्ध हुई। यह कहा जाने लगा कि यह द्राविड़ सभ्यता थी जो अत्यन्त विकसित थी। आर्यों ने इसे नष्ट कर दिया। प्रमाण खोजे जाने लगे। इन्द्र द्वारा शत्रुओं के पुरों को नष्ट किये जाने वाली बात को स्वीकार कर लिया गया। पुरातत्त्वशास्त्र ने भी इस दिशा में इस मान्यता को बल दिया। प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध प्रमाणों की तुलना में पुरातात्त्विक साक्षी को अधिक विश्वसनीय माना गया। आर्यों से पूर्व द्राविड़ सभ्यता का उत्कर्ष दिखाने के लिए उत्खनन में प्राप्त सामग्री का साक्ष्य तो स्वीकार किया गया; पर अथर्ववेद (१०।२।३१-३२) में वर्णित आठ सेक्टरों में विभक्त नौ द्वारों से युक्त सैकड़ों

१. Maxmueller : Biographies of words and the home of the Aryans, 1888, P. 120
२. George Grierson : Linguistic Survey of India, 1967.
३. Maxmueller : Selected essays on language, mythology and religion, 1881, P. 204—205.

स्तम्भों वाले भवनों के उल्लेख को कल्पना मानकर उसकी उपेक्षा कर दी गई। जॉन मार्शल और ह्वीलर की परम्परा में दीक्षित भारतीय पुरातत्ववेत्ता अपने को उनके द्वारा स्थापित मानदण्डों से पृथक् नहीं कर पाये। विडम्बना यह है कि उनकी परम्परा का पालन करते हुए अपने द्वारा उत्खनित सामग्री का विश्लेषण एवं निष्कर्ष भी उत्खनन के निर्देशक स्वयं ही करते हैं, यद्यपि वे अनिवार्य रूप से साहित्य एवं इतिहास के ज्ञाता नहीं होते। इस अनभिज्ञता के कारण आर्यों को भारत के आदिम निवासी द्राविड़ आदि जातियों को पराजित कर यहाँ अपना उपनिवेश स्थापित करने वाली जाति के रूप में प्रस्तुत किया गया।

वस्तुतस्तु जिस भाषा और साहित्य से आर्य शब्द लिया गया है और जिस संस्कृति में इसका प्रचुरता से प्रयोग हुआ है, उसमें कहीं भी इसका प्रयोग जाति के अर्थ में नहीं मिलता।[१] (**अर्यस्य इमे आर्याः**—'**अर्य**' की सन्तान आर्य कहाते हैं। पाणिनि ने अष्टाध्यायी (३।१।१०३) में स्वामी और वैश्य ये दो अर्थ अर्य शब्द के बताये हैं—**अर्यः स्वामिवैश्ययोः**।) यजुर्वेद (२६।२) में कहा है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥

इसी प्रकार अथर्ववेद (१९।३२।८) में '**ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय च**' कहा है। इन दोनों सन्दर्भों में समाज के चार विभाग–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का वर्णन किया गया है। यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र का स्पष्ट शब्दों में निर्देश किया है। तब, निश्चय ही '**अर्य**' शब्द परवर्ती वैश्य के स्थान पर आया है। यदि इनको सन्दर्भ-च्युत करके देखा जायेगा तभी आर्य और शूद्र को दो विभिन्न जातियों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। यदि आर्य एक जाति मानी जायेगी तो शूद्र, ब्राह्मण और राजन्य (क्षत्रिय) को भी आर्यों से अतिरिक्त भिन्न जाति मानना होगा।

सच तो यह है कि सभी मनुष्य एक जाति के हैं। प्राणिशास्त्र में जाति का निश्चायक एक ऐसा लक्षण मिलता है जो व्यावहारिक दृष्टि से सर्वथा उपयोगी है। अर्थात् यह निर्णय करना हो कि दो प्राणी एक जाति के हैं अथवा भिन्न जातियों के तो यह देखना चाहिए कि उनमें यौन सम्बन्ध होता है या नहीं। यदि नहीं होता तो उनकी जातियाँ भिन्न हैं। यदि होता है तो यह देखना होगा कि उस सम्बन्ध से सन्तान होती है या नहीं। यदि सन्तान नहीं होती तो उनकी जातियाँ भिन्न हैं। यदि सन्तान होती है तो यह देखना होगा कि सन्तान की सन्तान होती है या नहीं। यदि नहीं होती तो भी उनकी जातियाँ भिन्न हैं। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण है। घोड़ों और गधों में यौन सम्बन्ध भी होता है और उस सम्बन्ध से सन्तान भी होती है जिसे खच्चर कहते हैं। इस खच्चर को सन्तान नहीं होती। इसलिए घोड़े और गधे दो भिन्न जातियाँ हैं। परन्तु किसी भी दो प्रकार के घोड़े हों तो उनकी वंश परम्परा चलती रहेगी। अतः सब घोड़े सजातीय हैं। इस कसौटी पर परखने से

मनुष्य मात्र एक ही जाति के सिद्ध होते हैं। रंग-रूप, वर्ण, विद्या, धन, बल आदि में लाख भेद हों, परन्तु सभी प्रकार के स्त्री-पुरुषों में यौन सम्बन्ध होता है और वंश-परम्परा चलती है। समाज ने चाहे कितने भेद मान रक्खे हों, पर प्रकृति की दृष्टि में सब मनुष्यों की एक जाति है। मनुष्य अपने पूर्वजों को नहीं बदल सकता, अपने माता-पिता का चुनाव नहीं कर सकता। इसलिए वह अपनी जाति बदलकर दूसरी जाति भी नहीं अपना सकता। परन्तु वह अपना आचार-विचार बदल सकता है। समाज द्वारा निर्धारित आचार-संहिता का उल्लंघन करने पर सामाजिक बहिष्कार जैसे दण्ड का पात्र हो सकता है। इसी प्रकार आर्यत्व प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करने की वस्तु है, जाति की भाँति स्वतः प्राप्त होने वाली नहीं। '**कृतेन हि भवेदार्यः**'—मनुष्य अपने चरित्र एवं आचरण से आर्यत्व को प्राप्त करता है।

अपने प्राचीनतम साहित्य में हमें देव, दानव (दैत्य), असुर, पिशाच, यक्ष, राक्षस, नाग, गन्धर्व, किन्नर, वानर, ऋक्ष आदि नाम मिलते हैं। परन्तु आर्य शब्द कहीं भी इस प्रकार जाति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता। लंकावासी राम आदि को मनुज, मानव आदि कहते थे और अपने आपको बड़े गर्व से राक्षस नाम से पुकारते थे। परन्तु आर्य शब्द का प्रयोग सबके लिए समान रूप से होता था। विभीषण के सीता लौटाने सम्बन्धी परामर्श को जब रावण ने ठुकरा दिया तो विभीषण ने रावण के व्यवहार और वक्तव्य को **'अनार्यजुष्टम्'** (अनार्यों के योग्य) बताया (सुन्दरकाण्ड ५२।१२)।[1] फिर युद्धकाण्ड (१६।११) में विभीषण के राम की प्रशंसा करने आदि को रावण ने **'अनार्येषु सौहृदम्'** (अनार्य के साथ मित्रता करना) बताया। रावण की मृत्यु के पश्चात् राक्षस स्त्रियाँ रणभूमि में अपने पतियों को खोजती हुई **'हा आर्यपुत्र'** जैसे शब्दों का उच्चारण करती हैं। सुन्दरकाण्ड में सीता सुग्रीव के लिए भी आर्य शब्द का प्रयोग करती है। यदि राक्षस और वानर आर्य कहे जा सकते हैं तो इस शब्द को जातिसूचक कैसे माना जा सकता है? अपनी संस्कृति पर गर्व करने वाले लेखक वानरों और राक्षसों के लिए आर्य शब्द का प्रयोग कैसे कर सकते थे? अतः किसी भी विधा से आर्य शब्द जातिबोधक सिद्ध नहीं होता। कालान्तर में यह शब्द वैदिक भारतीयों के लिए रूढ़ हो गया। उनके मूल स्थान की खोज के सन्दर्भ में जब इस शब्द का प्रयोग

---

१. युद्ध की विभीषिका से विचलित होकर जब अर्जुन धनुष-वाण फेंककर चुपचाप बैठ गया तो श्रीकृष्ण ने उसके इस व्यवहार को भी 'अनार्यजुष्टम्' ही कहा था (गीता २।२)। इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए डा० राधाकृष्णन ने अपने गीता भाष्य में लिखा है–"Anaryajushtam : Un-Aryan. The Aryans are those who accept a particular type of inward culture and social practice, which insists on courage and courtesy, nobility and straight dealing."

किया जाता है तो इसका यही अर्थ अभिप्रेत होता है।

वेद का आदेश है—'**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**' अर्थात् सारे संसार को आर्य बनाओ। जाति तो जन्म से होती है। यदि आर्य और दस्यु जातिवाचक शब्द होते तो दोनों जन्मजात होते। तब दस्यु का आर्य कैसे बन सकता था?

ज्ञात ऐतिहासिक काल में जिस अर्थ में 'आर्य' शब्द का प्रयोग होता रहा है और जिसकी पुष्टि ऋग्वेद से भी होती कही जाती है, उसके अनुसार वह समाज में प्रतिष्ठित व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होने वाले श्रीमान्, मान्यवर, महोदय जैसे शब्दों का पर्यायवाची माना जा सकता है। कतिपय विद्वानों का मत है कि 'आर्य' शब्द का प्रयोग 'स्वामी' वर्ग (**अर्यः स्वामिवैश्ययोः**—पाणिनि ३।१।१०३) के लिए और 'दास' शब्द का प्रयोग सेवक या श्रमिक वर्ग के लिए होता था। जैसे वर्त्तमान में एलिट (Elite) और जैण्ट्री (Gentry), लार्ड और कामनर (Lord and Commoner), अमीर और गरीब या मालिक और नौकर। आर्थिक विषमता, ऊँच-नीच और वर्ग हितों के टकराव के कारण उनके बीच टकराव के अवसर आने से तनाव बना रहना स्वाभाविक है। परन्तु इन शब्दों के प्रयोग से यह ध्वनित नहीं होता कि ये दो जातियों के लोग हैं या इनमें एक आक्रान्ता है और दूसरा आक्रान्त। इसी प्रकार आर्य और दास शब्दों से भी आक्रामक और आक्रान्त दो जातियों का बोध नहीं होता। परस्पर के इस संघर्ष को ठीक सन्दर्भ में न समझने के कारण ही आर्य और दास के नाम से दो भिन्न जातियों का भ्रम पाल लिया गया।

ऋग्वेद में आर्यों के शत्रुओं को तम, तमोवृध, राक्षस, पिशाच, क्रव्याद, स्तेन, तस्कर, दस्यु, दुःशंस, अभिमानी, अधम, अघशंस, दुःशेव, जिघांसु, व्यथी, उब्ज, ध्वरस, अभृण, रिषु, दुच्छु, अभिद्रुह, पतन्यु, अचित, मायावी, मृगुरावत, निरामिण, अनप्सस, अभिह्रुत, मृध्रवाच, देवनिद् अयज्यू, अव्रत, अन्यव्रत, अकर्मा, तायु, विद्वेषी, द्वेषवत्त, द्विष, अमित्र, वृक, द्वयाविन, अनिन्द्र, यातुधान, दुरश्चित, मुषीवान, मलिम्लुच आदि नामों से पुकारा गया है। इन शब्दों से किसी जाति विशेष का नहीं, किसी न किसी रूप में दुर्जनों तथा असामाजिक तत्त्वों का बोध होता है। किसी भी देश-काल में ऐसे लोग मिल सकते हैं। स्थल-प्रकरणादि के अनुसार ये शब्द अन्य अर्थों के वाचक भी हो सकते हैं। जैसे आयुर्विज्ञान के सन्दर्भ में पिशाच, क्रव्याद, यातुधान, राक्षस आदि शब्दों से रोगोत्पादक विभिन्न प्रकार के कृमियों का बोध होता है।

पाश्चात्यों ने भारत के तथोक्त मूल निवासियों—द्राविड़ों, दासों, दस्युओं आदि की चार पहचान बताई हैं—**अनास, मृध्रवाच, शिश्नदेव** (लिंगपूजक) तथा

कृष्णवर्ण ।[1]

अनासः

ऋग्वेद का एक मन्त्र है—

अनासो दस्यूंरमृणो वधेन नि दुर्योण आवणङ् मृध्रवाचः ।

—५।२९।१०

इस मन्त्र के आधार पर वैदिक इण्डेक्स (वैदिक कोश) वालों ने लिखा है कि "ऋग्वेद (५।२९।१०) में दासों को 'अनास' कहा है जिससे पता चलता है कि वे वस्तुतः मनुष्य थे। इस व्याख्या से चपटी नाक (Flat nose) वाले द्राविड़ आदि-वासियों को लिया जा सकता है। इसी मन्त्र में उन्हें 'मृध्रवाच' भी कहा गया है। 'मृध्रवाच' का अर्थ है द्वेषपूर्ण वाणी वाले। इसका दूसरा अर्थ लिया गया है—

---

१. It is clear that the Aryans made no attempt at wholesale extermination of the people. Many of the aborigines doubtless took refuge in the mountains to the north or to the south of the lands occupied by the invaders, while others were enslaved. This was so normal in the case of women that, in the literature of the next period, the term Dasi regularly denotes a female slave.

The main distinction between the Aryans and Dasas was clearly that of colour. Nor is there much doubt that they (Dasas) are the phallus worshipers who are twice referred to with disapproval in the Rigveda; for phallus worship was probably of pre-historic age in India and by the time of Mahabharata it had won its way into the orthodox Hindu cult. Two epithets applied in one passage to the Dasyus are of importance. The first is 'Mridhravachah' (मृध्रवाचः) which has been interpreted as referring to the nature of the aborigines speech but which probably means no more than 'hostile speech'. The other epithet 'Anasah' (अनासः) is more important. It doubtless means 'noseless', and is a clear indication that the aborigines to whom it applies were of the Dravadian type as we know it at the present day.—Cambridge History of India : Vol. I, 1962 The Age of Rigveda by A. B. Keith, P. 76.

लड़ाई के बोल बोलने वाले।" ये वाक्य हमने मैकडानल तथा कीथ द्वारा रचित 'वैदिक इण्डैक्स' (Vedic Index) से उद्धृत किये हैं।

हड़प्पा से प्राप्त कंकालों से नरहत्या की तो पुष्टि नहीं होती, परन्तु इस बात की तो पुष्टि होती है कि वहाँ कोई चपटनास नहीं था। परन्तु ऋग्वेद में केवल एक बार आये इस शब्द (अनासः) को कुछ इस प्रकार का तूल दिया गया है, मानो आर्य-अनार्य या आर्य-दस्यु का भेद सिद्ध करने वाला यह सबसे प्रबल अथवा निर्णायक साक्ष्य हो, जबकि कम से कम हड़प्पा के साक्ष्यों को और भारतीय जन-जातीय चित्र को देखकर बिना किसी हिचकिचाहट के विद्वानों को यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि इस शब्द का अर्थ करने में उनसे कहीं न कहीं कोई भूल हो रही है। पर एक बार तथ्य के रूप में प्रचारित झूठ या भ्रम प्रत्यक्ष वास्तविकता से कितना प्रबल हो जाता है, इसे देखने के लिए पौराणिक कल्पनाओं को देखने-परखने की आवश्यकता नहीं है। इसके प्रमाण आधुनिक विचारकों की रचनाओं में भी अनेकत्र मिल जायेंगे। ऐसी भ्रान्त धारणाओं की पकड़ में ऐसे विद्वान् भी आ जाते हैं जो अपने व्यापक अध्ययन और विश्लेषण-क्षमता के लिए प्रसिद्ध हैं।[1]

वास्तव में इस मन्त्र में **'नास्'** का अर्थ **'नासिका'** नहीं, प्रत्युत 'शब्द करना' है। **'णासृ शब्दे'** भ्वादिगण की धातु से इसका अर्थ **'नासते शब्दं करोति इति नाः (नास्)'** अर्थात् जो शब्द करता है, वह **'नास्'** है। तब **'न शब्दं करोति इति अनाः (अनास्)'** अर्थात् मूक। मन्त्रगत **'अनासः'** पद **दस्यून्'** का विशेषण है और **'ना'** उदात्त है। यदि इसका अर्थ **'न विद्यते नासिका यस्य'** बहुव्रीहि समास करके 'चपटी नाक वाले' किया जाये तो **'अञ् नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात्'** (अष्टा. ५।४।११९) के नियम से **'नस्'** आदेश और **'अच्'** प्रत्यय होकर **'अनसः'** अकारान्त **'अनस'** शब्द बनेगा। तब उसका द्वितीया विभक्ति का बहुवचनान्त रूप **'अनसान्'** बनेगा, मन्त्र में पठित **'अनासः'** नहीं। इतना ही नहीं, यदि समासान्त **'अच्'** प्रत्यय के अभाव की कल्पना कर लें तो भी द्वितीया के बहुवचन में **'अनसः'** रूप होगा, न कि **'अनासः'**।

'अनास शब्द को **अ-नास'** पढ़ने के स्थान पर **'अन्-आस'** भी पढ़ा जा सकता है। सायण ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—**'अनास्यः आस्यरहितान्। आस्य शब्देन शब्दो लक्ष्यते, अशब्दान् मूकान्'** (ऋग्भाष्य ५।२९।१०) अर्थात् 'अनास्' का अर्थ है—**आस्य या मुखरहित। 'आस'** शब्द का लाक्षणिक अर्थ है शब्द और इसलिए **अनास्** का अर्थ है शब्दरहित अर्थात् मूक। इसके विपरीत **'मृध्रवाच्'** का अर्थ है—**हिंसित शब्द** अथवा घोर गर्जनावाले।

जिस सूक्त (५।२९) का यह मन्त्र है उसकी देवता इन्द्र है। यहाँ इन्द्र (विद्युत्) और मेघ का प्राकृतिक संघर्ष दर्शाया है। नौवें और ग्यारहवें मन्त्रों में

१. देखें—कोसाम्बी १९६५, ७९३ डा० सु० कु० चाटुर्ज्या, १९५४, ३९।

'शुष्ण' और **'पिप्रु'** नामक मेघों के विदीर्ण किये जाने का उल्लेख है। **'अनासः'** और **'मृध्रवाचः'** दोनों शब्द **'दस्यून्'** के विशेषण रूप हैं। गर्जनरहित अर्थात् चुपचाप वर्षा करने वाले मेघ **'अनासः'** और घनघोर गर्जना करने वाले **'मृध्रवाचः'** कहलाते हैं। **'दस्यु'** का अर्थ यहाँ विनाशकारी मेघ है। बिना बरसे चुपचाप चले जाने वाले अनावृष्टि का और घनघोर वर्षा करने वाले अतिवृष्टि का कारण बनते हैं। विनाश का कारण होने से दोनों ही **'दस्यु'** कहाते हैं। वेद में **'दस्यु'** मेघ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इसके लिए वेद का यह मन्त्र प्रमाण है—

वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत्।

—ऋग्० १।५९।६

इस मन्त्र की व्याख्या में यास्काचार्य ने निरुक्त (७।२३) में दस्यु को उपक्षयकारी मेघ लिखा है। मन्त्र में पठित **'काष्ठा'** शब्द जल का वाचक है। निरुक्तकार ने ऋग्वेद १।३२।१० की व्याख्या में लिखा है—**'आपो हि काष्ठा उच्यन्ते** (२।१६)। इस प्रकार विवेच्य मन्त्र का अर्थ है—

हे इन्द्र (विद्युत्) तूने (अनास्) मूक मेघ और (मृध्रवाच्) गरजने वाले मेघ दोनों शत्रुओं अर्थात् विनाशकारी मेघों को वज्र से मारा।

शिश्नदेवाः

पाश्चात्य मान्यताओं के पोषकों का कहना है कि कोल, द्रविड़, भील, सन्थाल आदि भारत के मूल निवासियों का धर्म बाहर से आये आर्यों से भिन्न था। आदिवासी आर्यों में मान्य यज्ञ के विरोधी थे—उनका अपना धर्म लिङ्गपूजा था। वेद में आये **'शिश्नदेवाः'** पद से उन्होंने आदिवासियों को लिंङ्गपूजक सिद्ध करने का यत्न किया है। वैदिक इण्डेक्स के लेखकों ने लिखा है—'सम्भवतः लिंगपूजक भी इन्हीं को कहा गया है' (ऋग्वेद ७।२१।५; १०।९९।३)। यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ आर्यों तथा दासों या दस्युओं के अन्तर पर बल दिया है। वस्तुतः उनकी यह धारणा सर्वथा निराधार है और **'शिश्नदेवाः'** शब्द का मनमाना अर्थ करने के कारण बनी है। **'शिश्नदेवाः'** का अर्थ है—**'शिश्नेन उपस्थेन्द्रियेण दीव्यन्ति क्रीडन्ति इति शिश्नदेवाः'** अर्थात् जो लोग उपस्थेन्द्रिय (शिश्न) से क्रीडा में रत रहते हैं, ऐसे व्यभिचारी, कामी व्यक्तियों को **'शिश्नदेवाः'** कहा गया है। पाँच हज़ार वर्ष पूर्व वेद के अधिकृत विद्वान् यास्क ने ऋ० ७।२१।५ मन्त्र की व्याख्या करते हुए **'शिश्नदेवाः'** का सीधा अर्थ **'अब्रह्मचर्याः'** किया है।—**'स उत्सहतां यो विषुणस्य जन्तोर्विषमस्य। या शिश्नदेवा अब्रह्मचर्याः'** (४।१९)। इन दोनों मन्त्रों में इन्द्र से यही प्रार्थना की गई है कि लोगों को पीड़ा पहुँचाने वाले वंचक, कुटिल तथा **शिश्नदेव** = व्यभिचारी लोग हमारे यज्ञों—धार्मिक कार्यों में विघ्न न डालें। इन मन्त्रों में पूजा का प्रकरण ही नहीं है। किसी भी देश, काल, समाज से

सम्बन्धित विषयी या व्यभिचारी पुरुष को **शिश्नदेव** नाम से अभिहित किया जा सकता है।

कृष्णवर्ण के आदिवासी

मैकडानल ने लिखा है—"वास्तव में कृष्णवर्ण के आदिवासियों का ही नाम दास दस्यु आदि है।"[1] ग्रिफ़िथ ने ऋग्वेद का अंग्रेज़ी में अनुवाद करते हुए १।१०।१ की टिप्पणी में लिखा है—"काले रंग के आदिवासी जिन्होंने आर्यों का विरोध किया।"[2] वैदिक माइथौलोजी के अनुसार—"वज्रपाणि इन्द्र को जो युद्ध में अन्तरिक्षस्थ दानवों को छिन्न-भिन्न करते हैं, योद्धा लोग अनवरत आमन्त्रित करते हैं। युद्ध के प्रमुख देवता होने के नाते उन्हें शत्रुओं के साथ युद्ध करने वाले आर्यों के सहायक के रूप में अन्य सभी देवताओं की अपेक्षा कहीं अधिक बार आमन्त्रित किया गया है। वे आर्य वर्ण के रखने वाले और काले वर्ण के उपदस्ता हैं। उन्होंने पचास हज़ार कृष्णवर्णों का अपाकरण किया और उनके दुर्गों को नष्ट कर डाला। उन्होंने दस्युओं को आर्यों के सम्मुख झुकाया और आर्यों को उन्होंने भूमि दी। सप्तसिन्धु में वे दस्युओं के शस्त्रों को आर्यों के सम्मुख पराभूत करते हैं।"[3]

वेद में **'गौरत्वचः'** (गोरी चमड़ी वाले) और **'कृष्णत्वचः'** (काली चमड़ी वाले) शब्द कहीं नहीं मिलते। परन्तु **'कृष्ण'** शब्द को देखते ही उसे आदिवासियों का विशेषण मान लिया जाता है। इस मत वालों मे ऋग्वेद के ६ मन्त्रों के द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भारत के आदिवासियों की त्वचा कृष्ण थी। वे मन्त्र हैं—

१. **यः कृष्णगर्भा निरहन्नृ जिश्वना।**—१।१०१।१
२. **त्वचं कृष्णामरन्धयत्।**—१।१३०।८
३. **स वृत्रहेन्द्रः कृष्णयोनीः।**—२।२०।७
४. **पञ्चाशत् कृष्णा नि वयः।**—४।१६।१३
५. **कृष्णा असेधदप सद्मनो जाः।**—६।४७।२१
६. **त्वद्भिया विश आयन्नसिक्नीः।**—७।५।३

वस्तुतः इन सभी मन्त्रों में, मनुष्यों का नहीं, भिन्न-भिन्न प्रकार के मेघों का वर्णन है। प्रथम मन्त्र में **"कृष्णगर्भाः'** पद मेघ की काली घटा के लिए आया है। इसका पदार्थ है—**कृष्णवर्णो मेघो गर्भे यासु ताः कृष्णगर्भाः।** स्कन्दस्वामी ने

१. The term Das, Dasyu is properly the name of the dark aborigines.

२. The dusky brood : The dark aborigines who opposed the Aryans.

३. वैदिक माइथौलोजी, पृष्ठ १५१—१५२।

'कृष्णगर्भाः' का अर्थ किया है—**वृष्टिलक्षणा आपः कृष्णगर्भाः कृष्णवर्णस्य मेघस्य गर्भभूतत्वात्**। सायणाचार्य ने भी ऋक्० ७।१७।१४ में **'कृष्ण'** का अर्थ **कृष्णवर्णो मेघः'** किया है। इस प्रकार यहाँ काले-काले मेघों से युक्त घटाओं को ही **'कृष्ण-गर्भाः'** कहा गया है। इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में शुष्ण और शम्बर और अन्यत्र इलीविश, धुनि, चुमुरि, वर्चिन आदि मेघों का वर्णन है। अनेक मन्त्रों में इन्द्र को **'वृत्रहा'** अर्थात् वृत्रों का नाश करने वाला कहा गया है। वेद में मेघों का नाम वृत्र है और उन्हें विदीर्ण कर वर्षा करने वाला होने से सूर्य अथवा विद्युत् का नाम इन्द्र है। वेदार्थ दीपिका निरुक्त के रचियता यास्काचार्य ने आज से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व लिखा— **'अपां ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति।'** अर्थात् युद्ध प्रतीत होने वाला यह वर्णन वर्षा की प्रकिया से सम्बन्धित है। एक कृष्णवर्ण शब्द को देखकर आदिवासियों के कृष्णवर्ण होने की कल्पना सर्वथा निराधार है। वेद की काव्यात्मक शैली को न समझने के कारण ही पाश्चात्य लोगों ने वेदमन्त्रों और उनमें आये शब्दों का अनर्थ करके कुछ का कुछ लिख डाला।

दूसरे मन्त्र (१।१३०।८) में आये **'त्वचं कृष्णमरन्धयत्'** का अर्थ किया गया है—'कृष्णत्वचा वाले असुरों को मारकर।' परन्तु यहाँ भी कृष्णत्वचा वाला कोई आदिवासी नहीं है। इससे पूर्व के (संख्या ७) मन्त्र में जो प्रकरण चल रहा है, उसमें शम्बर नामक मेघ का वर्णन है जिसके ९९ पुरों अर्थात् घटाओं को इन्द्र नष्ट कर देता है। इस प्रकार यहाँ भी इन्द्र के कृष्णवर्ण मेघों के साथ युद्ध का वर्णन है। इस मन्त्र की व्याख्या में वेंकट माधव ने **'त्वचं कृष्णां'** का अर्थ **मेघं वशमनयत्** किया है।

तृतीय मन्त्र २।२०।७ में **'कृष्णयोनीः'** पद को देखकर पाश्चात्य मतवालों को भ्रान्ति हुई है। इस मन्त्र में **'कृष्णयोनीः' पद 'दासी'** का विशेषण है। वस्तुतः यहाँ पर **'दासीः'** का अर्थ है—मेघ की विनाशकारी घटायें। **'कृष्णाः (कृष्णवर्णाः मेघाः) योनीरासां ताः कृष्णयोन्यः दास्यः'** अर्थात् कृष्णवर्ण मेघ जिन घटाओं का उत्पत्तिस्थान हैं वे घटायें **'कृष्णयोनीः'** कहलाती हैं। इस मन्त्र में इन्द्र के वृत्रहा होने से उपर्युक्त प्रकार स्पष्ट है कि यहाँ इन्द्र अर्थात् सूर्य या विद्युत् द्वारा वृत्र अर्थात् मेघों को विदीर्ण कर वर्षा करने का प्रसंग है।

चतुर्थ मन्त्र इस प्रकार है—

पञ्चाशत् कृष्णा नि वपः सहस्रात्कं न पुरो जरिमा विदर्दः।

—ऋक्० ४।१६।१३

इसका अर्थ किया गया है—'हे इन्द्र! तुमने पचास हज़ार कृष्णवर्ण रासक्षों को मारा था।'

इस मन्त्र की टिप्पणी में ग्रिफ़िथ ने लिखा है—

"The swarthy fifty thousand black Rakshasas, fiends or hostile aborigines." .

इस मन्त्र में भी विद्युत् और मेघ के युद्ध का वर्णन है। इसी मन्त्र में **'पिप्रु'** तथा **'मृगय'** नाम वाले मेघों का भी उल्लेख है जिन्हें इन्द्र अपने वज्र से फाड़ता है। ये पचास हज़ार कृष्णवर्ण के राक्षस आदिवासी नहीं हैं, अपितु कृष्णवर्ण मेघ ही हैं। यहाँ ५० हज़ार से कोई गणितीय संख्या अभिप्रेत नहीं है, प्रत्युत लोकभाषा में व्यवहृत 'अनेक' का पर्याय है। कृष्णवर्ण के मेघों के वायु आवेष्टित विद्युत् द्वारा विदारण किये जाने का ही यहाँ वर्णन हुआ है।

पाँचवा मन्त्र इस प्रकार है—

दिवे दिवे सदृशीरन्यमर्द्धं कृष्णा असेधदप सद्मनो जाः।

—६।४७।२१

यहाँ कृष्णा का अर्थ अँधेरी रात्रि है—**कृष्णाः कृष्णवर्णा रात्रीः**। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—इन्द्र अर्थात् सूर्य दिन का अपरार्ध प्रकाशित करने के लिए प्रतिदिन समान रीति से रात्रि को दूर करता है।

ग्रिफ़िथ ने अपने पूर्वाग्रह के अनुसार इस मन्त्र पर अपने भाष्य की टिप्पणी में इस प्रकार लिखा है—

Indra is represented as having put to light the dark aborigines and slain the riggardly demons or savages Varchin and Shambara.

वस्तुतः मन्त्रगत **वर्चिन** तथा **शम्बर** मेघ विशेष के नाम हैं।

अन्तिम छठा मन्त्र है—

त्वद्भिया विश आयन्न सिक्नीरसमना जहतीर्भोजनानि।
वैश्वानर पूरवे शोशुचानः पुरो यदग्ने दरन्नदीदेः॥

—७।५।३

यहाँ पर **'विश'** के साथ **'असिक्नी'** पद को देखकर पाश्चात्य मतानुयायियों ने अर्थ किया है—असितवर्ण अर्थात् काले रंग की प्रजा। ग्रिफ़िथ ने अर्थ किया है 'काले रंग की जातियाँ 'The dark-hued races'। यास्काचार्य ने निघण्टु १।७ में **'असिक्नी'** को रात्रि नामों में पढ़ा है। इस प्रकार **'असिक्नीविशः'** का अर्थ है—अँधेरी रात में कष्ट देने वाले जीव-जन्तु। इस मन्त्र की देवता वैश्वानर है जिसका अर्थ है 'अग्नि'। अग्नि के प्रदीप्त होने पर रात वाले भयंकर जीव-जन्तु भाग जाते हैं।

इस प्रकार प्राकृत पदार्थों और घटनाओं के स्थान पर 'भारतीय आदिवासी कृष्णवर्ण थे' इस प्रकार की कल्पना वेदार्थ प्रक्रिया से अनभिज्ञ लोग ही कर सकते हैं, वैदिक विद्वान् नहीं।

वर्णव्यवस्था रंग पर आश्रित नहीं

रोमिला थापर ने 'भारत का इतिहास' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है—"वर्णव्यवस्था का मूल रंगभेद था। जाति के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द '**वर्ण**' का अर्थ ही रंग होता है" (पृष्ठ २६)। यदि लेखिका को संस्कृत का ज्ञान होता तो वे ऐसा लिखने का साहस कभी न करतीं। वर्ण शब्द अनेकार्थवाची है। वर्ण के धात्वर्थ को जाने बिना उसके अर्थों को हृदयंगम करना सम्भव नहीं। धातुपाठ के अनुसार वर्ण का अर्थ चूर्ण करना, वर्णन करना, प्राप्त करना, रंगना, व्याख्या करना, प्रशंसा करना आदि है। इनमें से केवल रंग अर्थ को प्रधान मान लेना गोरे-काले के भेद को सर्वाधिक महत्त्व देने वाली पाश्चात्य नसलवादी दूषित विचारधारा का परिणाम है, साहित्यिक अथवा ऐतिहासिक विवेचन कदापि नहीं। किसी भाषा में अक्षरों की सूची के द्योतक '**वर्णमाला**' शब्द में वर्ण का अर्थ रंग करना कैसे सम्भव है ? ब्रह्मचारी के लिए प्रयुक्त '**वर्णी**' शब्द में वर्ण का अर्थ रंग मानकर उसकी सिद्धि कैसे होगी ?

सुविधाजीवी, आरामतलब सम्पन्न व्यक्ति जो आम आदमी की तरह खुली धूप में काम नहीं करता, श्रमिकों की तुलना में हलके रंग का होता है और गोरे आदमी को भी धूप में काम करना पड़े तो कुछ समय बाद उसका रंग तांबई होने लगता है। यह अन्तर तो कुछ सालों के अन्दर ही पड़ जाता है। कई पीढ़ियों में कुछ अधिक अन्तर आ जाता है। जल-वायु का भी रंग पर प्रभाव पड़ता है। ठण्डे देश में जाकर कालों का रंग भी कुछ खिल जाता है और उनकी सन्तान धीरे-धीरे गोरी होने लगती है। इसके विपरीत गरम देश में जाकर गोरों का रंग भी साँवला होने लगता है और उनकी सन्तान भी धीरे-धीरे काली होने लगती है। खान-पान का भी रंग पर प्रभाव पड़ता है। एक ही माता-पिता की सन्तानों तक का रंग एक जैसा नहीं होता। कृष्ण और मनु के वंश में जन्म लेने वाले राम के आर्य होने में किसी को सन्देह नहीं। वे दोनों ही साँवले थे। राम के भाई गोरे थे। कृष्ण अंगिरस और श्याव काण्व जैसे नाम सूचित करते हैं कि वैदिक ब्राह्मणों का रंग भी साँवला हो सकता था। कश्मीर के सभी गोरे और मद्रास में सभी काले नहीं होते। पहाड़ों में रहने वालों का रंग प्रायः गोरा होता है, पर वहाँ भी साँवले रंग वाले होते हैं।

काठक संहिता (११।६) में वैश्यों का रंग गोरा और क्षत्रियों का साँवला या धूमवर्ण बताया है—"**यत् शुक्लानां आदित्येभ्यः निर्वपति तस्मात् शुक्ल एव वैश्य जायते, यत् कृष्णानां वारुणं तस्मात् धूम एव राजन्यः।**"

आर्य शब्द का अर्थ व प्रयोग

आदिकाल में संस्कृत के समस्त नामपद यौगिक अर्थात् धातुज माने जाते थे। प्रकृति-प्रत्यय के संयोग से ही वे अपना अर्थ देते थे। कालान्तर में उनके अर्थ-

विशेष में रूढ़ हो जाने पर वे रूढ़ होने लगे। वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में अथवा सबसे पूर्व हुआ। अतः उनमें कोई भी शब्द रूढ़ नहीं है। इस कारण वेद के सभी शब्दों का अर्थ यौगिक-धातु के अर्थों के आधार पर होगा और प्रकरणादि से उनका अर्थ विशेष में पर्यवसान होगा। प्रकृति-प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न शब्दों की व्युत्पत्तियाँ भी इसीलिए की गई हैं कि उन शब्दों की निरुक्तियों को लेकर तत्तत् शब्दों का अर्थ होता है। 'आर्य' शब्द '**ऋ गतौ**' धातु से बनता है। गति का अर्थ है—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। पाणिनि ने आर्य पद के लिए तद्धित और कृत दो नियम बताये। '**तस्येदम्**' (अष्टा० ४।३।१२०) तथा '**तस्यापत्यम्**' (अष्टा० ४।१।६२) सूत्रों से '**अर्य**' से '**अण्**' प्रत्यय लगाकर आर्य पद की सिद्धि होती है और कृदन्त में '**ऋ**' धातु से '**ण्यत्**' प्रत्यय लगाकर **आर्य–अरणीयः गमनीयः प्रापणीयः**' सिद्ध किया है। इस प्रकार ज्ञान, गमन, प्राप्ति करने और प्राप्त कराने वाले को आर्य कहते हैं। इस धात्वर्थ के अनुसार आर्य वे हैं जो ज्ञानसम्पन्न हैं, जो सदा सन्मार्ग की ओर अग्रसर रहते हैं और परमानन्द को प्राप्त करते हैं। सायण और उससे पूर्ववर्ती उद्गीथ ने ऋक्० १०।८३।१ में कृदन्त रूप स्वीकार किया है।

ऋग्वेद १०।६५।११ में कहा है—'**आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि**' अर्थात् आर्य वे कहलाते हैं जो धरती पर सत्य, अहिंसा, पवित्रता, परोपकार आदि व्रतों को विशेष रूप से धारण करते हैं। इसी को लेकर संस्कृत के प्रामाणिक कोश शब्द-कल्पद्रुम, वाचस्पत्यम् आदि में आर्य शब्द के अर्थ दिये हैं—**पूज्यः, श्रेष्ठः, धार्मिकः, मनयः, उदारचरितः, न्यायप्रियः, शान्तचित्तः सततं कर्त्तव्यकर्मानुष्ठाता।** ऋग्वेद १।५१।८ में आर्य पद दस्यु के विलोम अर्थ में आया है—

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।

दस्युओं के लिए यहाँ विशेषणरूप में अव्रतान् शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे आर्य से व्रती, श्रेष्ठ उत्तम गुणयुक्त, परोपकारी मनुष्य अभिप्रेत है। स्पष्ट है कि आर्य और दस्यु शब्द गुणवाचक हैं, जातिवाचक नहीं। वेदों में जहाँ कहीं भी आर्य शब्द आया है, सर्वत्र शुभगुणों से युक्त मनुष्य का वाचक है। अमरकोश (२।७।३) में लिखा है—'**माहाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधवः**'। इस प्रकार आर्य शब्द कुलीन, सज्जन, साधु, सभ्य आदि का पर्याय है। योगवासिष्ठ १२६।४ में कहा है—

कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमना चरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः॥

जो कर्त्तव्य कर्मों का सदा आचरण करता है और अकर्त्तव्य कर्मों अर्थात् पापों से सदा दूर रहता है, वह आर्य कहाता है।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य की व्याख्या करते हुए महाभारत में लिखा है—

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः॥

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः॥

—उद्योगपर्व ३३।११७, ११८

अर्थात् आर्य वह है जो एक बार शान्त हुए वैर को बढ़ाता नहीं, जो न अभिमान करता है और न कभी निराश होता है, जो अपने सुख में अधिक प्रसन्न नहीं होता और दूसरों को दुखी देखकर सुखी नहीं होता, दान देकर जो पश्चात्ताप नहीं करता।

श्रीराम के आर्यत्व का परिचय देते हुए वाल्मीकि रामायण में लिखा है—

आर्यः सर्वसमश्चायं सोमवत् प्रियदर्शनः। —बालकाण्ड १।१६

अर्थात्—श्रीराम चन्द्र की तरह प्रियदर्शन तथा सबको समान दृष्टि से देखने वाले आर्य थे। किसी विद्वान् ने निम्न आठ गुणों से युक्त मनुष्य को आर्य कहा है—

ज्ञानी तुष्टश्च दान्तश्च सत्यवादी जितेन्द्रियः।
दाता दयालुर्नम्रश्च स्यादार्यो ह्यष्टभिर्गुणैः॥

अर्थात्—जो ज्ञानी हो, सदा सन्तुष्ट रहने वाला हो, मन को सदा वश में रखने वाला, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, दानी, दयालु और नम्र हो, वह आर्य कहलाता है।

इन गुणों को धारण करने वाला जो कोई भी हो, वह जिस किसी देश, वंश या कुल में उत्पन्न हुआ हो, वह आर्य कहलायेगा। काले, गोरे का कहीं उल्लेख नहीं है।

जब श्रीकृष्ण ने देखा कि अर्जुन वीर होकर भी मोहवश क्षात्रधर्म के आदर्श से च्युत हो रहा है तो उन्होंने अर्जुन के इस व्यवहार को 'अनार्यजुष्ट' (गीता २।२) कहकर उसकी भर्त्सना की।

अयोध्याकाण्ड (१३।५) में राम को वन भेजने की कैकेयी की माँग के कारण उसे दशरथ ने **'अनार्या'** कहकर सम्बोधित किया। फिर स्वयं महर्षि वाल्मीकि ने भी १९।१६ में इसी कारण उसे **'अनार्या'** कहकर उसकी निन्दा की।

महात्मा बुद्ध ने भी सज्जनों के लिए सर्वत्र आर्य शब्द का प्रयोग करते हुए उसका लक्षण इस प्रकार किया है—

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सबपाणानं अरियोति पवुच्चति॥—धम्मपद २७०

अर्थात्—प्राणियों की हिंसा करने वाला आर्य नहीं होता। सब प्राणियों के प्रति अहिंसाभाव रखने वाला आर्य होता है।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए श्री अरविन्द ने आर्य शब्द के अर्थ और महत्त्व के सम्बन्ध में लिखा है—"आर्य शब्द में उदारता, नम्रता, श्रेष्ठता,

साहस, सरलता, पवित्रता, दया, निर्बल संरक्षण, ज्ञान के लिए उत्सुकता, सामाजिक कर्त्तव्य पालनादि सब उत्तम गुणों का समावेश है। मानवीय भाषा में इससे उत्तम और कोई शब्द नहीं है।"[1]

थाई-भारत संस्कृति भवन स्याम से आचार्य नरेन्द्रदेव द्वारा प्राप्त तथा उत्तर प्रदेश शिक्षा विभाग द्वारा प्रकाशित 'स्याम की संस्कृतमूलक शब्दावली' में पृष्ठ ८ पर दो शब्दों के पर्याय द्रष्टव्य हैं—

Civilisation—आर्य धर्म

Civilised people—आर्य जन

स्याम देश में सभ्यता तथा सभ्य जनों के लिए क्रमशः आर्य धर्म तथा आर्यजन शब्दों को देखने के बाद भी क्या इसमें कोई सन्देह रह जाता है कि आर्य शब्द केवल गुणवाचक है, किसी जाति या देश से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

दास या दस्यु शब्द का प्रयोग

आर्य की तरह दास या दस्यु शब्द भी गुणवाचक है। इसलिए सब देशों और सब कालों में दस्यु होते हैं। महाभारत (शान्तिपर्व ६५।२३) में कहा है—

दृश्यन्ते मानुषे लोके सर्ववर्णेषु दस्यवः।
लिङ्गान्तरे वर्त्तमाना आश्रमेषु चतुर्ष्वपि॥

मनुष्य लोक में सभी वर्णों और आश्रमों में दस्यु स्वभाव के लोग हो सकते हैं। 'दस्यु' शब्द का अर्थ और उसकी व्युत्पत्ति भी उसके मनुष्यों के गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित होने की पुष्टि करते हैं। **'दसु उपक्षये'** धातु से **'युच्'** प्रत्यय के योग से दस्यु शब्द बनता है। निरुक्त ७।२३ में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—**'दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थादुपदस्यन्त्यस्मिन् रसा, उपदासयति कर्माणि'**—दस्यु वह है जिसमें रस या उत्तम गुणों का सार कम होता है, जो शुभ कर्मों से क्षीण है या शुभ कर्मों में बाधा डालता है। ऋग्वेद में दस्यु का लक्षण इस प्रकार किया है—

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।

—ऋ० १०।२२।८

---

१. The word Arya expresses a particular ethical and social order of well-governed life, candour, courtesy, nobility, straight dealing, courage, gentleness, purity, compassion, protection of the weak, liberality, observance of social duties, eagerness for knowledge, respect for the wise and the learned and social accomplishments. There is no word in human speech that has a nobler history.

—The Arya, Vol. I, P. 63

अर्थात् दस्यु वह है जो अकर्मण्य है या जो सोच-विचार कर कार्य नहीं करता, जो अहिंसा, सत्य, दया आदि व्रतों का पालन नहीं करता, प्रत्युत इनके विपरीत हिंसा, असत्य, क्रूरता आदि का व्यवहार करता है और जो मानवोचित आचरण नहीं करता। वेदों में ऐसे अमानवीय एवं असामाजिक तत्त्वों को ही दस्यु नाम से अभिहित करके उनके नाम पर बल दिया गया है।

ऋग्वेद का यह मन्त्र इस प्रसंग में विशेषत: उल्लेखनीय है—

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्ति शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम्।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन् सुतुका नाहुषाणि।।–ऋ० ६।२२।१०

इसमें इन्द्र अथवा राजा को कहा गया है कि तुम (वृत्रा दासान्यार्याणि करः) धर्मकार्यों में विघ्न डालने वाले और उनका नाश करने वाले दासों को भी आर्य अर्थात् श्रेष्ठ सदाचारी बनाओ। सायण ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है कि इन्द्र का कार्य '**दासानि = कर्महीनानि मनुष्यजातानि**'–अकर्मण्य मनुष्यों को **आर्याणि** = श्रेष्ठ मनुष्य (कर्मयुक्तानि) बनाना है। इससे स्पष्ट है कि आर्य और दस्यु का अन्तर अर्जित गुणों के कारण है, जाति विशेष से सम्बन्धित होने के कारण नहीं, क्योंकि किसी को एक जाति से छुड़ाकर दूसरी जाति में नहीं बदला जा सकता। मनुस्मृति (१०।४५) में कहा है—

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यव स्मृताः।।

अर्थात्—लोक में श्रेष्ठ कर्म न करने के कारण ब्राह्मणादि वर्णों से बहिष्कृत जो जातियाँ हैं, वे चाहे म्लेच्छ भाषायें बोलती हों, चाहे आर्य भाषा, सब दस्यु हैं। इससे स्पष्ट है कि आर्य भाषाभाषियों=आर्यों में भी जो दुष्ट हैं, वे दस्यु कहाते हैं।

मद्रास यूनिवर्सिटी के श्री वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार ने २९-३० नवम्बर १९४० को मद्रास यूनिवर्सिटी में दो महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये थे जो ऐडियार लायब्रेरी से १९४७ में 'Origin and Spread of the Tamils' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। श्री दीक्षितार ने लिखा है—

सत्य तो यह है (जातीय भेद की दृष्टि से) दस्यु आर्येतर नहीं थे। यह मत कि—दस्यु और द्राविड़ लोग पंजाब और गंगा की घाटी में रहते थे और जब आर्यों ने आक्रमण किया तो वे आर्यों से पराजित होकर दक्षिण की ओर भाग गये और दक्षिण को ही अपना घर बना लिया—युक्तियुक्त नहीं है।[1]

---

१. The fact is that the Dasyus were not non-Aryans. The theory that the Dasyus-Dravadians inhabited the Panjab and the Ganges Valley at the time of the so called Aryan invasion of India and overcome by the latter, they fled to South India and adopted it as their home cannot stand.—Origin and Spread of Tamils by V. R. Ramachandra Dikshitar, P. 14.

म्यूर महोदय ने भी इसी मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—"मैंने ऋग्वेद में आये दस्यु अथवा असुर नामों पर इसी दृष्टि से विचार किया कि क्या उनमें से किसी को अनार्यों या मूल निवासियों से उत्पन्न समझा जा सकता है? किन्तु मुझे इसका कोई प्रमाण नहीं मिला।"[१]

सुप्रसिद्ध दाक्षिणात्य विद्वान् प्रिंसिपल पी० टी० श्रीनिवास अय्यङ्गार ने अपनी पुस्तक 'Dravadian Studies में लिखा है कि आर्य और दस्युओं के भेद को जातीय न मानकर गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित मानना ही ठीक है।[२] उनके वक्तव्य का आधार ऋग्वेद का यह मन्त्र प्रतीत होता है—

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुवम्।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः॥ ८।७०।११

यहाँ दस्यु के विशेषण (**अन्यव्रतम्**) सत्य, अहिंसा, परोपकार आदि से विरुद्ध संकल्पवाला (**अमानुषम्**) मानवीय व्यवहार न करने वाला (**अदेवयुवम्**) दिव्य-गुणों से युक्त विद्वानों की कामना न करनेवाला इत्यादि कहे हैं। इनसे किसी जाति या वर्गविशेष के प्रति घृणा या विद्वेष की प्रतीति नहीं होती।

---

१. I have gone over the names of Dasyus or Asuras mentioned in the Rigveda with the view of discovering whether any of them could be regarded as of non-Aryans or indigenous origin, but I hav not observed what appeared to be of this character.—Original Sanskrit Texts, Vol. II, P. 387.

२. The Aryas and Dasyus are referred to not as indicating different races. These words refer to cult, and not to race. The Dasyus are without rites, fireless, non-sacrificers, without prayers, without riks etc. Thus the difference between Aryas and Dasyus is not of race, but of cult.

देवासुर-संग्राम

वैदिक साहित्य में अनेकत्र और अनेकविध देवासुर-संग्राम का उल्लेख मिलता है। इन्द्र के नेतृत्व में देवताओं के साथ असुरों के युद्ध का बार-बार वर्णन हुआ है। जिन असुरों को इन्द्र पराजित करते हैं, उनमें प्रमुख हैं—**वृत्र, शम्बर, नमुचि, चुमुरि, धुनि, पिप्रु, शुष्ण, अराव्ण आदि।** इन्द्र के पर्यायों में **वृत्रहन् वृत्रहन्तम्** आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनसे सामान्यतः यह भ्रम होता है कि ये व्यक्ति-वाचक नाम हैं और इन्हें उन राजाओं या सेनापतियों के साथ जोड़ दिया गया है जिन पर इन्द्र ने आक्रमण किया था। परन्तु युयुत्सु (युद्धप्रिय) इन्द्र के विषय में वेद कहता है—

मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से।—ऋक् १०।५४।२

अर्थात्—'लोग जो तेरे नाना युद्धों का वर्णन करते हैं, वह सब तेरी बुद्धि का ही विस्तार है, तेरा तो न पहले कोई शत्रु था और न आज है।'

एक ही साँस में यह कहना कि इन्द्र का न पहले कोई शत्रु था, न आज है और फिर हर समय उसके युद्धों की बात करना कैसे संगत हो सकता है? कणाद **'बुद्धि-पूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** (वैशेषिक ६।१।१)—वेद में वाक्य-रचना–पद व पदसमूहों की आनुपूर्वी को बुद्धिपूर्वक मानते हैं। स्पष्ट है कि प्रसंग तथा औचित्य को ध्यान में रखकर ही उसके गूढार्थ को निर्धारित किया जा सकता है। पाश्चात्य विद्वानों ने आक्रान्ता आर्यों और आक्रान्त मूलनिवासियों के बीच युद्ध की कल्पना करके इन्द्र और शम्बरादि का उनके नेताओं या सेनापतियों के रूप में वर्णन किया है। परन्तु इनमें बार-बार आनेवाले नामों—वृत्र और शम्बर के बहुवचनान्त **वृत्राणि'** (ऋ० १।५३।६; ३।३०।२२; ४।२४।१०) और **'शम्बराणि** (ऋ० २।२४।२) के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि मैकडानल और कीथ की यह कल्पना कि वृत्र, शम्बर आदि आदिवासियों के नेताओं के नाम हैं, सर्वथा निराधार है। वेद में जहाँ-जहाँ ये पद आये हैं, वहाँ मनुष्यों का कोई प्रसंग ही नहीं है। शतपथ ब्राह्मण (११।१।१६।९) में लिखा है—**"तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्।"** अर्थात् मन्त्र में उस देवासुर-संग्राम का वर्णन नहीं है जो इतिहास में वर्णित है। विक्रम संवत् से कोई ३१०० (आज से लगभग) ५०००

वर्ष पूर्ववर्ती यास्काचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः, त्वष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः । अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति । अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च । विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार, तस्मिन्हते प्रसस्यन्दिर आपः। तदभिवादिन्येष-र्ग्भवति ।। —निरुक्त २।१६

यह वृत्र कौन है ? निरुक्तकार कहते हैं कि वृत्र का अर्थ मेघ है और ऐतिहासिक मानते हैं कि यह त्वाष्ट्री नामी असुर है । परन्तु ऐतिहासिकों का पक्ष ठीक नहीं है। जल और विद्युत् के मिलने से वर्षा होती है।[1] वहाँ उपमारूप में युद्ध का वर्णन है । विद्युत् रूपी वज्र जल पर प्रहार करता है । प्रहार होने पर मेघरूपी शत्रु छिन्न-भिन्न होकर वृष्टिजल के रूप में पृथिवी पर आकर गिर पड़ता है । इस प्रकार यह उपमा के रूप में मेघ तथा विद्युत् के युद्ध का वर्णन है—काव्यात्मक भाषा में वर्षासम्बन्धी वैज्ञानिक प्रक्रिया की प्रस्तुति है । किन्हीं मनुष्यों के बीच हुए युद्ध के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है । इसके अतिरिक्त दूसरा हेतु यह भी है कि मन्त्रों और ब्राह्मणों में **'वृत्र'** की भाँति **'अहि'** को भी इन्द्र का शत्रु कहा है। यह **'अहि'** निस्सन्देह मेघवाची है । अतः वृत्र का अर्थ भी मेघ ही करना होगा, त्वाष्ट्र नामी असुर नहीं । इसकी पुष्टि में जो आगे मन्त्र दिये हैं, उसका आशय यास्क पहले इस प्रकार देते हैं—वृत्र ने शरीर की वृद्धि से जल के स्रोत रोक लिये। उस वृत्र के मारे जाने पर जल बह निकला । इस अर्थ को कहनेवाला यह मन्त्र है—

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार ।।—ऋ० १।३२।११

दासपत्नीः दासाधिपत्न्यः । दासो दस्यतेः । उपदासयति कर्माणि । अहिगोपा अतिष्ठन् । अहिना गुप्ताः । अहिरयनात् । एत्यन्तरिक्षे ।

अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव । निर्ह्रसितोपसर्गः । आहन्तीति । निरुद्धा आपः पणिनेव गावः पणिर्वणिग्भवति । पणिः पणनात् । वणिक् पण्यं नेनेक्ति । अपां बिलमपिहितं यदासीत् । बिलं भरं भवति । बिभर्तेः । वृत्रं जघ्निवान् । अपववार तत् । वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा । वर्धतेर्वा ।

यद्वृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्त्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते ।।

—निरुक्त २।१७

मेघ से छुपाया हुआ दुष्काल-रक्षक वृष्टिजल मेघ ने रोक रक्खा था, जैसे बनिया गौओं को बाड़े में रोक रखता है । तब मेघ को मारते हुए इन्द्र अर्थात्

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व में कहा है—'अग्निषोमाविदं सर्वमिति' (२६४।३३) । यहाँ सब प्रकार के आपः—जल अभिप्रेत हैं ।

विद्युत् ने जल को रोक रखनेवाले द्वार को खोल दिया और इस प्रकार वृष्टि होने लगी।

'वृञ् आच्छादने' धातु से **'क्त'** प्रत्यय (उणादि ४।१६४) और **'वृतु वर्तने'** अथवा **'वृधु वृद्धौ'** से **'रक्'** प्रत्यय (उणादि २।१३) करने पर वृत्र शब्द सिद्ध होता है। मेघ अन्तरिक्ष को आच्छादित करता है, चौमासे में वर्त्तमान रहता है और वृद्धि करता=फैलता है। इन तीनों निर्वचनों की पुष्टि में यास्क ने कहीं के **ब्राह्मण वचन** उद्धृत करते हुए कहा है कि मेघ को आच्छादित किया, वही उस मेघरूपी वृत्र का वृत्रत्व है। मेघ जो अन्तरिक्ष में वर्त्तमान रहा, वही उस मेघरूपी वृत्र का वृत्रत्व है और मेघ जो फैला वही उस मेघरूपी वृत्र का वृत्रत्व है।

प्रस्तुत मन्त्र में **'आपः'** दासपत्नियाँ हैं और ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा में वे **अर्य पत्नियाँ हैं—'योऽर्यपत्नीः अकृणोत् इमा अपः'** (ऋ० १०।४३।८)—जिनकी पत्नियाँ आपः=जल हैं, उनको मनुष्य कैसे कहा जा सकता है? ऐसे सुस्पष्ट आधिभौतिक **प्रकरणों** में मानव इतिहास की कल्पना करना सर्वथा असंगत है।[1] बादलों को बरसने से रोकने का सामर्थ्य मनुष्य में नहीं है, इसलिए **'पणि'** का अर्थ मनुष्य (असुर) परक नहीं हो सकता।

मेघरूपी वृत्र अन्तरिक्ष को कैसे आच्छादित करता है, कैसे वर्षाकालीन बादल की घटा उठती है और जल के अधिक होने से वह नीचे की ओर झुक जाता है और दूर-दूर तक फैलकर गाढ़ अन्धकार कर देता है—इसे वेद ने रूपकालंकार द्वारा इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥

—ऋ० १।३२।१०

जैसे कोई शत्रु अपने विरोधी के कमज़ोर स्थान को जानकर उस ओर भागने की चेष्टा करता है, एवं मानो मेघवर्ती जल निम्न प्रदेश की ओर भागने के लिए गया। परन्तु मेघ ने उसे रोकने के लिए चारों ओर गाढ़ अन्धकार फैला दिया जिससे शत्रु को कुछ न दीखे और वह भाग न सके। मैक्समूलर ने स्वीकार किया कि ४०० वर्ष ईसापूर्व (मैक्समूलर की मान्यता के अनुसार) हुए यास्क का

---

१. अन्यथा भिन्न एवं असंगत अर्थ करते हुए भी 'Cambridge History of India' में 'पणि' का अर्थ 'Niggard' करते हुए लिखा है—'The sense in which it (पणि) was used must have been something like 'niggard'. The demons are niggards, because they withhold from the Aryan the water of clouds.' Niggard—miserly, stingy, unwilling to give (O.E. D.).

अनुसरण करके ही हम वेदों को भली प्रकार समझ सकते हैं।[1] तदनुसार निरुक्तादि वेदार्थोपबृंहक शास्त्रों का गहराई के साथ अध्ययन करने पर मैक्समूलर ने यह निष्कर्ष निकाला—

"पौराणिक गाथाओं की यह विशेषता रही है कि प्रतिदिन या प्रतिवर्ष होनेवाली घटनाओं को एक विशेष घटना का रूप देकर उसे किसी देवता या राजा के नाम के साथ सम्बद्ध करके एक कथा का रूप दे दिया जाता है। जब ये प्रतिदिन होनेवाली घटनायें 'एक बार की बात है' से आरम्भ होती हैं, तो उनका ऐतिहासिक रूप बन जाता है। हम जानते हैं कि एक दिन और एक रात का दैनिक संघर्ष तथा शुक्ल एवं कृष्णपक्ष का मासिक संघर्ष अनादि काल से चलता आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। प्रकृति में निरन्तर होते रहनेवाले ऐसे संघर्षों को हम कालविशेष में होनेवाले युद्धों का रूप दे देते हैं। मुझे इसमें सन्देह नहीं कि समय-समय पर आनेवाली भयंकर बाढ़ों एवं उनके कारण होनेवाली अपरिमित हानियों को अतिशयोक्ति के रंग में रँगकर ही सब देशों में जलप्लावन की कथा बनी है।"[2]

इन शब्दों में मैक्समूलर ने यास्क के मत को स्पष्टतः स्वीकार किया है। उसने अपना मत व्यक्त करते हुए यह भी लिखा है कि "प्राचीन गाथाओं में हम जिन्हें देवी-देवताओं के नाम से पुकारते हैं, वे जीते-जागते वास्तविक मनुष्य नहीं

---

१. It is for our purpose to follow Yaska who is supposed to have lived about 400 B. C.—India, what can it teach us? P. 150.

२. It is a "peculiarity of ancient myths that they represent events which happen everyday or every year, as having happened once upon a time. The daily battle between day and night the yearly battle between winter and spring are represented almost like historical events and some of the episodes belonging originally to these constant battles of nature have certainly been transformed into and mixed up with battles that took place at a certain period of time, involving some king or deity or god. I have little doubt, therefore, that the account of deluge, for instance, which we find almost everywhere, are originally recollections of annual torrents of rain or snow.

—**India, what can it teach us? P. 136.**

हैं जिनके कुछ करने-धरने की बात कही जा सके।"[1]

जैसा कि हम पहले विचार कर चुके हैं, वेद के शब्द रूढ़ नहीं हैं, यौगिक या योगरूढ़ हैं। यौगिक शब्द एक वा अनेक धातुओं से निष्पन्न हुए माने जाते हैं। धातु भी अनेकार्थक होते हैं। इसलिए एक शब्द के अनेक अर्थ और एक अर्थ के अनेक शब्द होते हैं। इस आधार पर निरुक्त में वैदिक शब्दों का निर्वचन अनेक प्रकार से किया गया है। शब्द में निहित अर्थ की इस व्यापकता को समझ लेने पर 'इन्द्र' शब्द अनेक अर्थों–पदार्थों का वाचक सिद्ध होता है। इस प्रकार ऋग्वेद में ही नहीं, सम्पूर्ण वेदों में इन्द्र शब्द अनेक उच्चावच अर्थों का अभिधायक है।[2] चेतन-अचेतन, सूक्ष्म-स्थूल, व्याप्य-व्यापक बहुरूप है। उसे ऐतिहासिक पुरुष या काल्पनिक देवता मानकर ऋग्वेदीय वर्णनों की तदनुसार व्याख्या करना भूल होगी। **'प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः'**—स्थल—प्रकरणादि के अनुसार ही उसका अर्थ स्वीकार करना होगा। प्रस्तुत सन्दर्भ में 'इन्द्र' शब्द विद्युत् का ही वाचक है।[3]

इस प्रकार मैक्समूलर ने इस सन्दर्भ की व्याख्या में पूरी तरह निरुक्त (२।१७) का अनुसरण किया है। ओल्डनबर्ग के इस कथन में भी इसी मान्यता की ध्वनि है—"यह वृत्र क्या है? अनावृष्टि या शीत का राक्षस। इन्द्र क्या है? विद्युत् या सूर्य।[4] सबसे अधिक तेजस्वी सूर्य को भी अन्धकार दबा लेता है। ऐसा रात में ही नहीं होता, दिन में बादल भी उसे छिपा लेते हैं और कभी-कभी कई-कई दिनों तक छिपाये रहते हैं। साल में कई महीने सूर्य बादलों से अभिभूत रहता है। जब बादल घिर आते हैं तो अँधेरे में रास्ते से भटककर नावें टकराती हैं। यदि समय पर वर्षा न हो तो नदियाँ सूख जाती हैं, ऋतु-विपर्यय हो जाता है और मनुष्य

---

१. We must never forget that what we call gods in ancient mythologies are not substantial living individual beings of whom we can predicate this and that.
—F. Maxmueller : The Vedas, Varanasi, 1969, P. 93

२. द्रष्टव्य, जयदेव उप्रेती : वेद में इन्द्र।

३. मैक्समूलर ने एक स्थान पर लिखा है—Here again Indra claims every thing for himself, denying that Maruts in any way assisted him while performing his great deeds. These deeds are killing of Vritra who upholds the waters, i.e, the rain from the earth and the consequent liberation of waters so that they flow down freely for the benefit of Manu, that is, man—Maxmueller : Sacred Books of the East, Vol. XXYII, Vedic Hymns, Part I, Rigveda, 1.165.8, Note I, P. 168.

४. What is Vritra ? Demon of drought or demon of cold. What is Indra ? Lightening or Sun.

त्राहि-त्राहि कर उठता है। यही अवस्था उस समय भी होती है, जब अनियन्त्रित वर्षा होती है। यदि देर तक यह स्थिति बनी रहे तो प्रलय हो जाये। कोई जीवित प्राणी पृथिवी पर न रहे, परन्तु ऐसा होता नहीं। उस शक्ति को जो तमाच्छादित करके तथा प्राणधारक जलधारा को रोककर प्राणियों को सताती है, उसे वृत्र (आवरण करनेवाला, ढकनेवाला) नाम दिया गया और इसकी विरोधी शक्ति को, जो उसका संहार करके यथासमय यथेष्ट मात्रा में वृष्टि करके नदियों को जल देती है, मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों को अन्न देती है और सूर्य-चन्द्रादि को मुक्त करके फिर से प्रकाशित करती है, इन्द्र नाम से पुकारा गया। प्रकृति के रंग-मंच पर यह नाटक होता रहता है। अन्ततः वृत्ररूपी खलनायक को इन्द्र (विद्युत्) रूपी नायक परास्त कर विजयी होता है।

शतपथ ब्राह्मण (११।६।३।९) में लिखा है—'**स्तनयित्नुरेवेन्द्रः**' स्तनयित्नु अर्थात् विद्युत् ही इन्द्र है। पुनः वहीं ६।१।३।१४ में कहा है – '**विद्युत् वा अशनिः**' अर्थात् विद्युत् व अशनि पर्यायवाची हैं। कौषीतकि ब्राह्मण ६।९ के अनुसार '**यदशनिः इन्द्रस्तेन**'—अर्थात् अशनि और इन्द्र पर्यायवाची हैं।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के समूचे ३२वें सूक्त में इन्द्र-वृत्र के युद्ध का आलंकारिक वर्णन हुआ है। इन्द्र ने युद्ध में वृत्र से अतिरिक्त जिन असुरों को पराजित किया उनमें कुछ के नाम हैं—**नमुचि, शम्बर, चुमुरि, धुनि, पिप्रु, शुष्ण, और अराव्ण**। परम्परागत रूप से इन्हें जल के अवरोधक, जल को अपने भीतर रोके हुए बादलों, अन्धकार आदि से सम्बद्ध किया जाता है और इनका संहार करनेवाले इन्द्र को विद्युत्, सूर्य आदि का वाचक माना जाता है। ये सभी विशेषण बहुत सटीक रूप में बादलों, अकाल और सूखे आदि पर लागू होते हैं। पर, इनका प्रयोग धन जोड़कर रखनेवाले, अदाता, कृपण व्यक्तियों के लिए भी किया जा सकता है। इन असुरों के नामों पर ध्यान दिया जाये तो इनसे उनके दुर्दान्त और भयंकर चरित्र का ही उद्घाटन होता है। परम्परा से जनमानस पर भी असुरों का यही चित्र अंकित रहा है। ऐसी स्थिति में इन्हें बादलों के विशेषण रूप में मानने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं रहता।

शम्बर—निघण्टु १।१० में '**असुर**' शब्द मेघ नामों में पढ़ा गया है। '**शम्बर**' पद वेद में पुल्लिग और नपुंसकलिंग दोनों में पाया जाता है। पुल्लिग में यह मेघ का वाचक है और नपुंसकलिंग में जल और बल का। निघण्टु १।१० में **शम्बरः** पद मेघ नाम में पढ़ा गया है तथा १।१२ और २।९ में क्रमशः जल और बल में। अतः ऋक्० २।२४।२ में आया '**शम्बराणि**' पद '**उदकानि**' = जलों का वाचक है, क़िलों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। **शं सुखं वृणोति यस्मात् तं मेघम्**' (दयानन्द)। शम्बर के सम्बन्ध में तो यास्क ने स्पष्ट कह दिया है—'**तमग्निर्वैश्वानरो घ्नन् अवाधूनोवयः काष्ठाः अभिनत् शम्बरं मेघम्**।' निरुक्त ७।२२ अर्थात् वैश्वानर

विद्युत् ने वृष्टिवाले मेघ (शम्बर) को फाड़कर नीचे गिराया।

नमुचि—अमरकोश के एक श्लोक में इन्द्र को '**नमुचिसूदन**' कहा गया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

सुत्रामा गोत्रभिद्वज्री वासवो वृत्रहा वृषा।
जम्भभेदी हरिहयः स्वारण्नमुचिसूदनः॥ १।४३

यहाँ इन्द्र को नमुचिसूदन कहा गया है। 'न **मुञ्चति-मोच्लृ मोक्षणे** धातु से निष्पन्न नमुचि शब्द ऐसे मेघ का वाचक है जो जल नहीं छोड़ता, अर्थात् बरसता नहीं। बादलों को छिन्न-भिन्न करके बरसानेवाले सूर्य या विद्युत् का नाम इन्द्र है। इससे स्पष्ट है कि '**नमुचि**' वे बादल हैं जो प्रहार के बिना बरसते नहीं। शम्बर बादलों को कहते ही हैं। पंचतंत्र में आया है—'**शम्बरस्य च या माया सा माया नमुचेरपि**'। यहाँ **शम्बर** और **नमुचि** माया करनेवाले—आशा बँधाकर बिना बरसे चले जानेवाले बादल सिद्ध होते हैं। वृत्र नाम मेघ का है, यह पहले व्याख्यात है। उसी का नाश करके, छिन्न-भिन्न करके बरसानेवाले की संज्ञा '**वृत्रहा**' है।

चुमुरि—'**चुमुरिं अत्तारम्**' (द० वै० को०)। **चुमुरि अयनार्थक 'चमु'** धातु से बना है। कई मेघ ऐसे होते हैं जो जल रखते हैं, किन्तु छोड़ते नहीं। ऐसे मेघ चुमुरि कहाते हैं। बहुत खाने वाले मनुष्य के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है।

धनि—निरुक्त १०।३२ के अनुसार **धुनिमन्तरिक्षे मेघम्**' मेघ का **ही** नाम धुनि है—ऐसे मेघ का जो गरज-गरजकर हड़कम्प मचा देता है। '**धुनिं कम्पयितारम्**' (दवैको), यह पद '**धूम्**' कम्पनार्थक तथा '**ध्वन्**' शब्दार्थक धातुओं से बना है।

पिप्रु—यह शब्द '**प्र पालनपूर्णयोः**' धातु से निष्पन्न होकर ऐसे मेघ के लिए प्रयुक्त होता है जो जल से भरपूर हो और वर्षा द्वारा प्रजा का पालन करता हो।

इलीविश—'इलीविश' का वर्णन ऋग्वेद १।३३।१२ में हुआ है। निरुक्त ६।१९ में इसी मन्त्र की व्याख्या में यास्काचार्य ने लिखा है—'**निरविध्यदिलाबिलशयस्य दृढानि। व्यभिनच्छृङ्गिणंशुष्णमिन्द्रः**'। निघण्टु में '**इला**' पद पृथिवी नामों में पढ़ा है। जिस समय भूमि पर वृष्टि द्वारा जल आता है तो भूमि में प्रवेश कर जाने से उसे '**इलीविश**' कहते हैं।

वस्तुतः, जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया गया है, आर्य या दस्यु या असुर आदि शब्द जातिवाचक न होकर गुणवाचक हैं। कुछ जानबूझकर और कुछ अनजाने में वेद के मर्म को न समझने के कारण इन शब्दों के अन्यथा अर्थ करके देश को विघटन के मार्ग पर डाल दिया गया है। असुरों को **अकर्मा, अव्रत, अघायु, गृघ्नु, अमज्यू, अराध, अनप्सस** आदि कहा गया है जिनका अर्थ है—काम न करनेवाला, दूसरों की कमाई पर पलनेवाला, कंगाल आदि। इसके विपरीत दोनों को **सुकर्मा**,[**सुक्रतु**,

ऋतुविद्, व्रतचरिष्णु, सुराध, श्रम और तप करनेवाला बताया गया है जो उनकी कर्मठता का द्योतक है। इस प्रकार सुर शब्द मोटे तौर पर वही अर्थ रखता है जो आर्य शब्द। इसके विपरीत गुण-कर्म-स्वभाव रखनेवाले की संज्ञा दस्यु या असुर है। इसी आधार पर म्यूर ने लिखा कि ऋग्वेद में आये दस्यु या असुर शब्दों की उत्पत्ति का अनार्यों या यहाँ के मूल निवासियों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह सर्वविदित है कि वेद मनुष्यों के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार है। स्वभावत: एवं अनिवार्यत: उसमें अनेक स्थलों पर मनुष्य के स्वास्थ्य-संरक्षण के लिए आयुर्वेद का भी वर्णन मिलता है। सर्वानुक्रमणिका में आयुर्वेद सम्बन्धी मन्त्रों के द्रष्टा के रूप में अथर्वा से लेकर हविर्धान तक ७५ ऋषियों के नाम हैं। वेद में रोग की उत्पत्ति के तीन कारण माने हैं। पहला—शरीर के भीतर स्वयमेव उत्पन्न होनेवाला मलरूप विष। दूसरा—वात, पित्त, कफ़ के दोषों से उत्पन्न विकार। तीसरा—अनेक प्रकार के कृमि (जीवाणु–Germs)। मनुष्य का रक्त चूसनेवाले, मांस का शोषण करनेवाले, शरीर-वृद्धि में बाधा डालनेवाले, नेत्र, नासिका तथा दाँतों में पहुँचकर हानि पहुँचाने वाले, मस्तिष्क में पहुँचकर मानसिक रोग उत्पन्न करनेवाले—ऐसे अनेक प्रकार के अनेक अदृश्य जीवाणुओं का ऋग्वेद १०।१६२।२,४,६; तथा अथर्ववेद २।२५।३; २।३१।४; ५।२३।३; ५।२९।८, १० तथा ८।६।९ में विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद ५।२९ में इन्हें पिशाच, क्रव्याद, यातुधान, रक्षांसि आदि नामों से पुकारा गया है। अथर्ववेद के आयुर्वेद सम्बन्धी सूक्तों में ऐसे ९८ प्रकार के कृमियों की नामावली उपलब्ध है। लोक में असुरों को राक्षस, पिशाच आदि नामों से स्मरण किया जाता है। कृमिरूप में ये वास्तव में जीवित मनुष्य का मांस खाकर उसे हड्डियों का ढाँचा बनाकर छोड़ते हैं। ऐसे स्वभाववाले मनुष्यों को भी असुर या राक्षस अभिहित किया जाता है। मनुष्यों में असुर नाम से किसी जाति विशेष का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए।

प्रमुख मत

आर्यों के मूल अभिजन के निर्धारण की दृष्टि से १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बहुत अधिक चर्चा हुई। इस चर्चा के परिणामस्वरूप भारत में ही नहीं, समस्त एशिया और यूरोप में आर्यों का मूल निवास खोजने का प्रयास किया गया और अनेक मत प्रतिपादित किये गये। इनमें से प्रमुख मतों पर ही यहाँ विचार किया गया है।

१. **यूरोप**—कुछ लोगों का कहना है कि आर्यों का निवासस्थान यूरोप में था। उनके अनुसार यूरोप के उत्तर में यूराल पर्वत से लेकर अतलान्तिक महासागर तक जो विस्तृत क्षेत्र है, उसी में आर्यों की सभ्यता व भाषाओं का विकास हुआ था। वहाँ न अधिक गर्मी है न सरदी, न बीच में ऊँचे पहाड़ हैं, न मरुभूमि है और न अभेद्य जंगल हैं। वहीं से शाखायें निकल-निकलकर चारों ओर फैलीं। इस मत की पुष्टि में यह बात भी कही जाती है कि यह स्थान आर्यों की कई शाखाओं के निकट है, क्योंकि एशिया की अपेक्षा यूरोप में कहीं अधिक आर्य बसते हैं। इसलिए वे लोग वहीं से पूर्व की ओर गये होंगे। इस मत के प्रवर्त्तक क्यूनो थे। कुछ और लोगों ने भी इसका समर्थन किया। यूरोप में आर्यों का जन्म मानना यूरोपवालों के लिए भौगोलिक अभिमान की दृष्टि से भी लोगों को जँचनेवाली बात थी। पर यह बहुत चला नहीं।

२. **मध्य एशिया**—आर्यों का मूल निवास मध्य एशिया (ईरान के उत्तर और कैस्पियन सागर के पूर्व) में था। इस मत को सबसे पहले सन् १८२० में रहोड (J. B. Rhode) ने प्रतिपादित किया था। ईरान की प्राचीन अनुश्रुति को दृष्टि में रखते हुए रहोड ने यह मत स्थिर किया कि प्रारम्भ में आर्यलोग बैक्ट्रिया में निवास करते थे और वहीं से वे सब दिशाओं में फैले। श्लीगल और पॉट ने रहोड के मत का समर्थन किया। पॉट का कथन था कि बाद में हम देखते हैं कि कितनी ही जातियाँ मध्य एशिया के क्षेत्र से पूर्व और पश्चिम की ओर फैलीं। जो प्रक्रिया बाद के इतिहास में हुई, वही प्राचीन युग में हुई थी और लोग इसी क्षेत्र से निकलकर अन्य देशों में जा बसे थे। सन् १८५९ में प्रो० मैक्समूलर ने

आर्यों के मूल निवास के मध्य एशिया में होने के मत को बलपूर्वक स्थापित किया। उनके मतानुसार आर्यों की एक शाखा दक्षिण-पूर्व की ओर चली गई। बाद में इसी की ईरानी और भारतीय आर्यों के रूप में दो उपशाखायें हो गईं। ईरानी और भारतीय बहुत दिनों तक साथ रहे। इसी कारण इनमें बहुत अधिक समानता पाई जाती है। आर्यों की अन्य शाखायें पश्चिम व दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ती गईं और धीरे-धीरे सारे यूरोप में फैल गईं। इस मत की पुष्टि में सन् १८७४ में प्रोफ़ेसर सेअस (Sayace) ने यह भी कहा कि वेद और जेन्दावस्ता के अनुशीलन से यह पता चलता है कि आर्य लोग पहले ऐसे स्थान पर रहते थे जहाँ शीत की अधिकता थी। ऋग्वेद में वर्ष को सूचित करने के लिए '**हिम**' शब्द का प्रयोग किया गया है। एक मन्त्र (ऋ० ५।५४।१५) में परमेश्वर से सौ वर्ष तक जीने की प्रार्थना इन शब्दों में की गई है—'**तरेम तरसा शतं हिमाः**', हम सौ हिम तर जायें अर्थात् हम सौ वर्ष तक जीवित रहें—एक हिम (जाड़े) से दूसरे जाड़े तक जीते रहें। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि उस समय एक जाड़े से दूसरे जाड़े तक की अवधि को वर्ष कहते थे। एक जाड़े से दूसरे जाड़े तक जीने की इच्छा करने से प्रतीत होता है कि वहाँ सर्दी बहुत पड़ती थी।

इस धारणा का एक यह भी आधार बताया जाता है कि क्योंकि आर्य संस्कृति का सबसे अधिक परिचय वेद और अवेस्ता से मिलता है और इन ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि जिन लोगों के ये ग्रन्थ हैं, वे बहुत दिनों तक साथ रहे हैं। इस-लिए उनके रहने का आदिम स्थान किसी ऐसी जगह रहा होगा जो वेद और अवेस्ता की भाषा बोलनेवालों के निकट पड़ता हो। यूरोपीय विद्वानों को ये सब बातें मध्य एशिया में मिलीं। हिन्दूकुश पर्वत के उस पार कैस्पियन समुद्र के नीचे पामीर पर्वत की उपत्यका है। वहाँ सर्दी भी पड़ती है। ऐतिहासिक काल में वहाँ से निकलकर शकों आदि ने दूसरे देशों पर आक्रमण भी किये हैं। वहाँ से भारत और ईरान दोनों की ओर जाने की सुविधा तो है ही, यूरोप भी आसानी से जाया जा सकता है।

मैक्समूलर और कीथ आदि आर्यों के भारत में प्रवेश को मध्य एशिया से हिन्दूकुश के मार्ग से होकर दिखाते रहे हैं।[1] प्रो० गाइल्स, ग्रीयर्सन, सुनीतिकुमार

---

१. If, as may be the case, the Aryan invaders of India entered by the western passes of the Hindu Kush and proceeded thence through Panjab to the east, still that advance is not reflected in the Rigveda—Maxmuiller : Chips from a German Workshop, 1867, P. 64-65; Keith : The Age of Rigveda in the Cambridge History of India, 1962, P. 70-71.

चाटुर्ज्या आदि बोगाज़कोई (वर्त्तमान टर्की) से प्राप्त देवनामों का भारत से अभिन्न साम्य देखते हुए यह सुझाते रहे कि यह भारत की ओर प्रस्थान करनेवाले आर्यों की सूचना देता है।[1] परन्तु उन्होंने इस बात पर विचार नहीं किया कि एशिया माइनर के छोटे-से क्षेत्र में भी आर्य भाषा-भाषियों की संख्या बहुत विरल थी। उसके शासकों की भाषा वैदिक संस्कृत से साम्य रखती थी। जो लोग एशिया माइनर में अपनी सत्ता होने पर भी वहाँ की बोलचाल की भाषा और संस्कृति पर अपनी छाप नहीं छोड़ सके, उन्हीं की एक शाखा भारत पहुँचकर इतनी प्रभावशाली कैसे हो गई कि उससे कई गुना अधिक क्षेत्र की भाषा और संस्कृति को आमूल-चूल परिवर्तित करने में सफल हो गई। अत: जैकोबी यह मानते हैं कि वे लोग एशिया माइनर से भारत नहीं, भारत से एशिया माइनर में पहुँचे थे।[2] कोसाम्बी भी भारत पर आर्यों के आक्रमण के पक्षधर रहे हैं। उनकी सूचना के अनुसार कुछ हित्ती मोहरों पर हड़प्पा सभ्यता के वृषभ की आकृति अंकित है। इस आधार पर वह मानते हैं कि आर्य आक्रमणकारियों में ऐसे कुछ या तो भारत से पराजित होकर लौटे या भारत उन्हें पसन्द नहीं आया।[3] परन्तु जिस वृषभ की आकृति से उन्होंने यह अनुमान लगाया कि यह आर्यों के भारत से लौटने का सूचक है, उसके आधार पर वह यह भी मान सकते थे कि एशिया माइनर में पहुँचे लोग हड़प्पा सभ्यता से सम्बन्धित थे। उस अवस्था में उन्हें भारत पर आर्य आक्रमण की अपनी मान्यता पर पुनर्विचार का अवसर मिलता।

मध्य एशिया सम्बन्धी मत की आलोचना करते हुए प्रो० वाडेल ने लिखा है कि आर्यों का मुख्य व्यवसाय कृषि और पशुपालन बताया जाता है। मध्य एशिया में न भूमि उपजाऊ है और न अपेक्षित मात्रा में जल उपलब्ध है, अत: यह क्षेत्र उनके लिए सर्वथा अनुपयुक्त था। आधुनिक मध्य एशिया के निवासियों में प्राचीन आर्य सभ्यता व संस्कृति के कोई चिह्न नहीं मिलते। यदि आर्य मूलत: वहाँ के निवासी होते तो वहाँ उनके थोड़े-बहुत वंशज आज भी विद्यमान होने चाहिए थे, परन्तु ऐसा है नहीं।

यदि वेद में '**तरेम शतं हिमाः**' की प्रार्थना की गई है तो इससे कहीं अधिक '**जीवेम शरदः शतम्**' की प्रार्थना की गई है। इस प्रकार की प्रार्थनाओं का 'एक वर्ष कहाँ से कहाँ तक गिना जाये', इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आज एक ही समय में एक ही देश में 'चैत्र से फाल्गुन तक' 'कार्तिक से आश्विन तक' आदि

---

१. Giles : The Aryans, Cambridge History of India. P. I, 1962.

२. जर्नल आफ़ द रायल एशियाटिक सोसायटी, लण्डन, १६०६, पृ० ७२१

३. Culture and Cvilisation of Ancient India, 1965,77.

कई प्रकार से वर्ष की गणना की जाती है। ईसवी सन् की गणना कभी मार्च से फ़रवरी तक की जाती थी। तदनुसार सेप्टेम्बर (७), आक्टोबर (८), नवम्बर (९) और दिसम्बर (१०) के नाम से क्रमशः ७वें, ८वें, ९वें और १०वें महीने की स्मृति अब भी शेष है।

यदि यह मान लिया जाये कि सब आर्य मूलतः मध्य एशिया में रहते थे तो प्रश्न उपस्थित होता है कि वे उसे छोड़कर इतस्ततः क्यों बिखर गये? यदि संख्या बढ़ जाने अथवा खाद्यान्न की कमी हो जाने से उनकी टोलियाँ इधर-उधर निकलतीं तो उनमें से कुछ तो वहाँ भी रह जाने चाहिए थे। जो प्रदेश कभी आर्यों का आदिम देश था, उसका सर्वथा आर्य शून्य हो जाना समझ में नहीं आता।

बाबू सम्पूर्णानन्द के अनुसार, "वेदों में कहीं इस प्रदेश का उल्लेख नहीं है, जबकि सप्तसैन्धव (बाबूजी के अनुसार आर्यों का आदिदेश) देश की महिमा अनेकत्र गाई गई है। यह देश सिन्धु नदी से लेकर सरस्वती तक था। इन दोनों नदियों के बीच में पंजाब और कश्मीर आ गये। वेद में कुभा नदी का भी उल्लेख मिलता है जिसे आजकल काबुल कहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि अफ़गानिस्तान का वह भाग जिसमें काबुल नदी बहती है, आर्यों का आदिदेश था।"

कुछ वर्ष हुए, यूनेस्को के तत्त्वावधान में आयोजित एक अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी में भारत सरकार का प्रतिनिधित्व करनेवाले सात सदस्यीय दल ने एक मत से आर्यों के ईरान आदि से आकर भारत में बसने विषयक मान्यता का प्रतिवाद किया। गोष्ठी के विवरण के अनुसार—"तजीकिस्तान की सोवियट रिपब्लिक की राजधानी दुशाम्बे में सम्पन्न एक अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी में भाग लेनेवाले भारतीय इतिहासवेत्ताओं, भाषाशास्त्रियों तथा पुरातत्त्वविदों के अनुसार आर्यों के भारत में बाहर से आने विषयक कोई निश्चयात्मक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। शिष्टमण्डल के एक सदस्य, राष्ट्रीय संग्रहालय (National Museum) के निदेशक डाक्टर एन० आर० बनर्जी ने कहा कि भारतीय विद्वानों ने इस पक्ष को बलपूर्वक स्थापित किया। उनके निबन्धों की सभी ने सराहना की। यूनेस्को (UNESCO) के तत्त्वावधान में इस गोष्ठी का आयोजन ईसापूर्व द्विसहस्राब्दी (Second Millenium) में मनुष्यजाति के देशान्तर में गमनागमन (Ethnic movement) से सम्बन्धित समस्या पर विचारार्थ किया गया था। सोवियत यूनियन, पश्चिम जर्मनी, ईरान, पाकिस्तान और भारत से जाने वाले ९० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के नेता डक्टर बी० बी० लाल (डायरेक्टर आफ़ एडवांस्ड स्टडीज़) थे। भारतीय विद्वानों ने बताया कि भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों और क्षेत्रों में आर्यों से सम्बन्धित पुरातत्त्व विषयक सामग्री का

ईरान, अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया में उपलब्ध पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री से सांमजस्य नहीं होता।"[1]

उत्तरीध्रुव प्रदेश

महान् देशभक्त व सुप्रसिद्ध विद्वान् बाल गंगाधर तिलक ने आर्यों के मूल अभिजन के सम्बन्ध में यह मत प्रतिपादित किया कि शुरू में आर्य लोग उत्तरीध्रुव के प्रदेश में रहते थे। कालान्तर में जलवायु की स्थिति में असाधारण परिवर्तन के कारण वे अन्यत्र जाने को विवश हुए। तिलक ने इस मत की स्थापना प्रधानतया वैदिक संहिताओं में उपलब्ध संकेतों के आधार पर की। उनकी मान्यता के अनुसार यद्यपि ऋग्वेद के निर्माण के समय आर्य लोग सप्त सैन्धव प्रदेश (पंजाब के आसपास) में आ चुके थे, तथापि ध्रुव प्रदेश की स्मृति उन्हें बनी हुई थी। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में ६ मास के दिन का वर्णन मिलता है। एक सूक्त में सुदीर्घकाल तक रहनेवाली उषा की स्तुति की गई है। ६ मास का दिन और तदनुसार देर तक रहनेवाली उषा ध्रुव प्रदेश में ही होती है, भारत या एशिया में नहीं।

प्राचीन ईरानियों के धर्मग्रन्थ ज़ेन्दावस्ता की प्रथम पुस्तक वेन्दीदाद में भी कतिपय ऐसे निर्देश मिलते हैं जिनसे आर्यों के मूल अभिजन पर प्रकाश पड़ता है। उनके अनुसार अहुरमज्द ने पहले पहल 'एर्यनवेइजो' (आर्यों का बीज या मूल का

---

१. There is no conclusive evidence of Aryan immigration into India from outside, according to Indian historians, linguists and archaeologists who participated in the International seminar in Dushambe, the capital of Soviet Republic of Tajiskistan. Dr. N. R. Banerjec, Director of the National Museum- and a member of the Indian delegation, said that Indian scholars made out this poiut at the seminar and the papers presented by them were very much appreciated. The seminar was hald under the aegies of UNESCO to discuss the problem of ethnic movement during the second millenium B. C. Ninety delegates from Soviet union, West Germany, Iran, Pakistan and India attended. The seven-member Indian delegation was led by prof B. B. Lal, Director of Advanced Studies. It was pointed out by Indian scholars that the archaeological material associated with Aryans in different regions and periods in India did not show any links with the archaeological survival of the Aryans in Iran, Afghanistan and central Asia.—The Hindustan Times, 31.10. 1977

निर्माण किया। इस प्रदेश में सर्दी के दस और गर्मी के दो महीने होते थे। अनेक विद्वानों के अनुसार यह 'ऐर्यनवेइजो' देश कहीं उत्तरी ध्रुव के समीप ही स्थित था। जेन्दावेस्ता में अहुरमज्द द्वारा निर्मित विविध देशों का जो क्रम लिखा गया है, अनेक विचारकों के अनुसार वह आर्यों के विस्तार को सूचित करता है। पर ऐर्यनवेइजो के उत्तरी ध्रुव के समीप होने की मान्यता को कई विद्वान् स्वीकार नहीं करते। वे इसे ईरान के उत्तर में स्थित मानते हैं।

जो लोग इस मत का समर्थन करते हैं, उनका कहना है कि आर्यों ने इस प्रदेश में रहने की अवस्था में काफ़ी उन्नति करली थी। कालान्तर में वे वहाँ से निकलकर यत्र-तत्र-सर्वत्र जा बसे। उन्हीं की एक शाखा भारत आ पहुँची। भारत में आनेवाले आर्यों का यहाँ के तथोक्त आदिवासियों की तुलना में अधिक उन्नत होना निर्विवाद है। वैदिक आर्य नगरों और ग्रामों में बसते थे। वे खेती करते थे, व्यापार करते थे, उनको धातुओं का ज्ञान था। कपड़े बुने और सिले जाते थे। उनकी अपनी परिमार्जित उपासना पद्धति थी, विकसित समाज व्यवस्था थी। इसका तात्पर्य यह है कि भारत में बसनेवाले आर्य उस अवस्था में मिलते हैं जिसमें उनकी सभ्यता और संस्कृति काफ़ी उन्नत अवस्था में थी। ऐसी अवस्था में यह मानना होगा कि यह उन्नति उन्होंने भारत में आने से पहले अपने पुराने घर में कर ली होगी। यूरोप के आर्य भी उन्हीं के वंशज माने जाते हैं। वे भी वहाँ उत्तरी ध्रुव से आकर ही बसे कहे जाते हैं। परन्तु उनकी तत्कालीन अवस्था बिलकुल जंगलियों की-सी बताई जाती है। न उन्हें कपड़ा बुनना आता था और न वे धातुओं से काम लेना जानते थे। न उनका कोई साहित्य था और न कोई समाज व्यवस्था थी। यह अन्तर क्यों ? घर छोड़ते ही उनकी सभ्यता और संस्कृति कहाँ खो गई ? केवल भारत में ही वह क्यों सुरक्षित रही ? वेदों में उस लम्बे मार्ग का भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता जिससे हज़ारों मील की यात्रा करके वे भारत व ईरान में पहुँचे थे। उन्होंने अपने पुराने घर की स्मृति क्यों खो दी ?

तिलक ने 'ओरायन (Orion = मृगशीर्ष) ग्रन्थ लिखने के पाँच वर्ष बाद १८९८ में 'आर्यों का उत्तरीध्रुव निवास' (Arctic Home in the Vedas) लिखा। इसका सारांश एक पत्र द्वारा उन्होंने मैक्समूलर को लिख भेजा। पत्र के उत्तर में मैक्समूलर ने लिखा कि कितने ही वेदमन्त्रों का अर्थ जैसा आप लिखते हैं वैसा हो सकता है। तथापि मुझे सन्देह है कि आपकी मान्यता भूगर्भशास्त्र से मेल खा सकेगी। भूगर्भशास्त्र के अनुसार तो हिमपात को हुए बहुत अधिक समय हो चुका है, जबकि आप वेदों को केवल ६ हज़ार वर्ष पूर्व का मानते हैं। ऐसी दशा में हज़ारों-लाखों वर्ष पूर्व हुए हिमपात और उस समय उत्तरी ध्रुव में किसी के रहने की बातों का वर्णन वेदों में कैसे मिल सकता है ? उस समय तक भूगर्भशास्त्र के हिमप्रपात का काल ८० हज़ार वर्ष से ऊपर का माना जाता था। यह बात तिलक को

खटकी और उन्होंने अपने ग्रन्थ को छपने से रोक दिया। इतने में 'Encyclopaedia Brittanica' का दसवाँ संस्करण प्रकाशित होकर आ गया। कुछ भूगर्भशास्त्रियों ने हिमप्रपात का समय ८ हज़ार वर्ष पूर्व का ही माना था। इससे उत्साहित होकर तिलक ने १९०३ में अपना ग्रन्थ प्रकाशित करा दिया। तब भी ६ हज़ार और १० हज़ार वर्ष के बीच के ४ हज़ार वर्ष के बीच की समस्या बनी रही। इसका समाधान तिलक ने यह कह कर किया कि जैसे हम लोग ४ हज़ार वर्ष पूर्व रचित वेदों को कण्ठस्थ किये हुए हैं, उसी प्रकार हमारे पूर्वज भी वेदों में वर्णित घटनाओं को ४ हज़ार वर्ष तक याद किये रहे और जब वे भारत में आकर रहने लगे तब उन्होंने उन बातों को स्मृति के आधार पर छन्दोबद्ध करके वेदों की रचना कर डाली। दूसरी ओर तिलक का कहना है कि "ऋग्वेद में कहे प्राचीन सूक्त, ऋषि और देवता सभी हिमपूर्व काल के हैं, हिमोत्तर काल के नहीं।"[1] इसका अभिप्राय यह है कि वेदों की रचना आर्यों ने उत्तरध्रुव में रहते कर ली थी। तब उत्तर यूरोप में बसे आर्य अपनी प्राचीन सभ्यता व संस्कृति को भुलाकर जंगली कैसे हो गये और भारतीय तथा ईरानी आर्य उस हिम पूर्व सभ्यता को कैसे कायम रख सके—इसपर तिलक ने प्रकाश नहीं डाला।

तिलक के मतानुसार हिमपात आज से कम-से-कम १० हज़ार वर्ष पूर्व हुआ और उन्हीं के अनुसार प्राचीन सूक्त उसके भी पूर्व के हैं। ऐसी अवस्था में ओरायन की ६ हजार वर्षवाली बात और मृगशीर्ष में वसन्तसम्पातवाली कारणमाला का क्या बनेगा? एक ओर तो ओरायन में वे यह कहते हैं कि आज से सात हज़ार वर्ष पूर्व पुनर्वसु काल तक वैदिक ऋचाओं की उत्पत्ति नहीं हुई थी, दूसरी ओर उत्तरी ध्रुव निवास में पुराने सूक्तों को १० हज़ार वर्ष से भी पुराना मानते हैं। वस्तुतः वेदों में ज्योतिष सम्बन्धी किसी भी घटना का उल्लेख नहीं है जिसके आधार पर वेदों का काल निर्धारित किया जा सके। वेदों में ज्योतिष सम्बन्धी शाश्वत सिद्धान्तों अथवा नियमों का उल्लेख तो है, देशकाल सीमित सामयिक घटनाओं का नहीं।

तिलक ने यह ग्रन्थ वारन नामी एक पाश्चात्य विद्वान् के 'Paradise Found in North Pole' नामक ग्रन्थ के बाद लिखा था। उस ग्रन्थ में वारन ने यह सिद्ध करना चाहा कि मनुष्य की उत्पत्ति उत्तरी ध्रुव में हुई थी। परन्तु लोकमान्य तिलक ने अपने ग्रन्थ में यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि किसी समय आर्य उत्तरी ध्रुव में रहते थे। आज से १० हज़ार वर्ष पूर्व वहाँ बर्फ का तूफ़ान आया जिससे वे वहाँ से निकल भागे और भारत, ईरान, यूरोप आदि देशों में जा बसे। वेदों में ६ महीने

---

१. In short, the ancient hymns, poets or deities, mentioned in the Rigveda, must be referred to a bygone age and not to post-glacial times.—Arctic Home in the Vedas, P. 461.

के दिन और ६ महीने की रात का वर्णन है, क्योंकि उत्तरी ध्रुव में ६ महीने की रात होती है। वहाँ यह भी वर्णन है कि वहाँ की दीर्घ रात्रि से घबराकर आर्य लोग प्रार्थना करते थे कि हे परमेश्वर, शीघ्र सवेरा हो। इस प्रकार के अनेकविध वर्णनों से स्पष्ट है कि किसी समय आर्य लोग वहाँ अवश्य रहते थे। उनकी इस उक्ति पर विद्वानों ने अनेक प्रकार से विचार किया है। पूना निवासी नारायण भवानीराव पावगी ने अपने ग्रन्थ 'आर्यावर्त्तातील आर्यांची जन्मभूमि' में लिखा है कि आर्य लोग भारत से ध्रुव प्रदेश में गये होंगे और वहाँ यह सब देखने के बाद यह सब वर्णन किया होगा। यह भी कहा जा सकता है कि वैदिक काल के पीछे कुछ लोग उस प्रदेश की ओर गये हों और ऐसे लोगों से मिले हों जो वहाँ की स्थिति से परिचित हों और इस प्रकार उनसे सुनी-सुनाई बातों के आधार पर ऐसे वाक्य प्रक्षिप्त कर दिये हों।

बाबू अविनाशचन्द्र दास ने अपने 'ऋग्वैदिक इण्डिया' नामी ग्रन्थ में उन वर्णनों का अन्यथा अर्थ करके यह भी दिखलाने की चेष्टा की है कि ये सब वर्णन पंजाब से सम्बन्धित हैं। सायण ने भी दीर्घरात्रिवाले मन्त्रों का अर्थ किया है, पर उन्होंने दीर्घरात्रि को हेमन्त ऋतु की रात्रि समझकर अर्थ किया है। परन्तु हेमन्त ऋतु की रात ऐसी नहीं होती जिससे घबराकर उससे बचने के लिए परमेश्वर से प्रार्थना की जाय। 'मानवेर आदि जन्मभूमि' में बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने लिखा है—"गत वर्ष हम तिलक के घर गये और उनके साथ पाँच दिन तक इस विषय पर बातचीत करते रहे। अन्त में उन्होंने सरलतापूर्वक कह दिया कि "हमने मूल वेद नहीं पढ़े; हमने तो केवल साहब लोगों के अनुवाद पढ़े हैं।"[1] जिस व्यक्ति ने स्वतन्त्र बुद्धि से मूल ग्रन्थ का अध्ययन नहीं किया, वह उसके भीतर की बात—उसके गूढ़ार्थ को कैसे जान सकता है ? इसलिए वेद के आधार पर निर्धारित तिलक के उत्तरी ध्रुव सम्बन्धी निष्कर्ष की विश्वसनीयता पर प्रश्न-चिह्न लग जाता है।

हम अन्यत्र पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि वेदों में किसी प्रकार के ऐतिहासिक अथवा भौगोलिक निर्देश उपलब्ध नहीं हैं। यदि कहीं उत्तर ध्रुव सम्बन्धी घटनाओं की प्रतीति होती है तो वह उच्चकोटि के ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान का फल है। हमारी इस मान्यता की पुष्टि वाल्मीकि रामायण के एक प्रसंग से होती है।

---

१. आमि गतवत्सरे तिलक महोदयेर बाठीते आतिथ्य ग्रहण करिया छिलाम। ताँहार सहित ये विषये अमार क्रमागत पाँच दिन बहुसंलाप हइया छिलो। तिनि आमाके ताँहार द्वितल गृहे वासिया सरलहृदये वलिया छेन ये आमि मूलवेद अध्ययन करि नाई, आमि साहिब दिगेर अनुवाद पाठ करिया छे—मानवेर आदि जन्मभूमि, पृष्ठ १२४।

सुग्रीव वानरों (अपने 'वनवासी' सहयोगियों) से कहते हैं कि आप लोग सीता की खोज में उत्तर कुरु की ओर जायें, परन्तु—

न कथञ्चन गन्तव्यं कुरूणामुत्तरेण वः।
अभास्करममर्यादं न जानिमस्ततः परम् ॥

—कि० काण्ड ४३।५७-५९

अर्थात्—कुरु के आगे आप लोग किसी भी अवस्था में न जायें। इसके आगे प्रकाश तथा गमनीय मार्ग से रहित भूमि है। अतएव उन स्थानों की मुझे जानकारी नहीं है।

इस वर्णन से दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह कि उधर कोई गया नहीं था। दूसरी यह कि यहाँ वाले जानते हैं कि वहाँ अँधेरा रहता है और रास्ता भी ठीक नहीं है। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि बिना गये वहाँ के बारे में यह सब कैसे ज्ञात हुआ? निश्चय ही वहाँ का ज्ञान ज्योतिष शास्त्र और भूगोलशास्त्र की अपार विद्या से हुआ। आजकल छोटे बालक भी जानते हैं कि उत्तर ध्रुव में ६ महीने के दिन और ६ महीने की रातें होती हैं। उत्तरायण और दक्षिणायन की जानकारी भी उन्हें है। अब तो उन्हें कुछ-कुछ अन्तरिक्ष में स्थित चन्द्रमा और प्रक्षिप्त उपग्रह आदि का भी ज्ञान हो गया है। तो क्या ये सब वहाँ रहकर आये हैं या उन्हें किसी ने ले-जाकर दिखाया है? तब, जिस प्रकार अध्यापक ग्लोब, नकशा, लैम्प और अन्य साधनों से छोटे-छोटे बच्चों को ज्ञान करा देते हैं, उसी तरह वेदों के माध्यम से यह ज्ञान परमात्मा की परम्परा से हम तक पहुँचा है।

ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के २७वें सूक्त के १४वें मन्त्र में कहा है—**"मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः"** अर्थात् लम्बा अँधेरा हमें अभिभूत न करे। तिलक कहते हैं कि **'दीर्घतमिस्रा'** का अर्थ है—उत्तरी ध्रुव की लम्बी रातें। सायणादि अर्थ करते हैं—जाड़े की लम्बी रातें। जैसे शरीर से कटकर शरीर का अंग व्यर्थ हो जाता है, वैसे ही सन्दर्भ या प्रकरण से कटकर कोई शब्द या वाक्य अभीष्ट अर्थ को व्यक्त न कर पाने से व्यर्थ हो जाता है। ऋग्वेद में जहाँ पूर्वापर प्रसंग को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि जिस अँधेरे से बचने की वहाँ प्रार्थना की गई है और जिस प्रकाश की याचना की गई है वे अँधेरा-उजाला शब्द वहाँ भौतिक अन्धकार या प्रकाश के लिए नहीं, पाप-पुण्य अथवा धर्म-अधर्म के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। इसी के आगे-पीछे के मन्त्रों को देखने से पता चलता है कि वहाँ धर्माधर्म का प्रसंग है— प्रार्थयिता पापरूपी अन्धकार से बचकर पुण्यरूपी प्रकाश में जाना चाहता है। पाँचवें मन्त्र में आदित्य, अर्यमा, मित्र और वरुण से कहा गया है कि यदि मुझपर आपका अनुग्रह हो जाये तो **'परि श्वभ्रेव दुरितानि वृज्यताम्'** मैं समस्त पापों को (**दुरितानि**) मार्ग में बाधक गढ़ों के समान (**अभ्रा इव**) दूर से ही त्याग दूँ (**परिवृज्यताम्**)। नवाँ मन्त्र कहता है—

त्री रोचना दिव्या धारयन्त हिरण्ययाः शुचयो धारपूताः ।
अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धा उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय ।।

ऋजु अर्थात् धर्म मार्ग पर चलनेवाले, दिव्यगुण युक्त, पवित्रात्मा, सतत जागरूक धर्मात्मा मनुष्य के लिए तीनों प्रकाशमान लोकों को धारण करते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ भूमण्डल के किसी प्रदेश विशेष की रात या उसके बाद आनेवाले दिन की चर्चा न होकर पाप से बचकर दिव्य लोकों में जाने की आकांक्षा व्यक्त की गई है।

तिलक अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर लिखते हैं कि उत्तरी ध्रुव में अतिरात्र यज्ञ के अवसर पर रात्रि में सोमरस निकालकर साफ़ किया जाता था और असुरों का पराभव करने के लिए इन्द्र को समर्पित किया जाता था।[१] 'आर्यावर्तातील आर्यांची जन्मभूमि' में पावगी महोदय ने तिलक के इस कथन का प्रत्याख्यान करते हुए लिखा—"परन्तु उत्तर ध्रुव में तो सोमलता होती ही नहीं, वह तो हिमालय में होनेवाली चीज़ है। अनेकत्र लिखा है कि वह मुंजवान् पर्वत पर होती है जो हिमालय का एक भाग है।" यहाँ हमें सोम, सोमलता, सोमरस अथवा इन्द्र आदि का विवेचन अभीष्ट नहीं है। परन्तु पावगी के इस कथन से तिलक का वह प्रमाण ध्वस्त हो जाता है जिसके आधार पर उन्होंने उत्तरी ध्रुव को आर्यों का मूल अभिजन सिद्ध करने का प्रयास किया है। प्रकारान्तर से इससे यह प्रमाणित होता है कि आर्यों का मूल निवास वहाँ था जहाँ सोमलता होती थी और वह स्थान हिमालय बताया गया है।

अविनाश बाबू अपने ग्रन्थ 'ऋग्वैदिक इण्डिया' में लिखते हैं कि "वेद उस समय बने जब सरस्वती नदी हिमालय से निकलकर सीधी समुद्र में गिरती थी। उस समय राजपूताने का मरुस्थल समुद्र हो रहा था।"[२]

इस समय सरस्वती नदी का कहीं अस्तित्व नहीं है। जिस समय वह बहती थी, उस समय उस ऋचा को कहनेवाले उस नदी को बहते हुए और समुद्र में गिरते हुए देखते होंगे। समुद्र कितने दिन रहा और फिर सरस्वती और समुद्र को सूखे हुए कितने दिन हुए ? यदि सरस्वती और समुद्र दोनों एक ही समय में सूखे हों

१. It is clear that the soma juice was extracted and purified at night in the Arctic during the Atiratra sacrifice and Indra was the only deity to whom oblations were offered in order to help in his fight with the Asuras who had taken shelter with the darkness of night.

२. A sea actually covered a large portion of modern Rajputana. This rise clearly indicates that at the time of its composition the river Saraswati used to flow from the Himalayas diractly to the sea.—Rigvedic India, P. 7.

तो अविनाश बाबू की राय में उस घटना को हुए हजारों-लाखों वर्ष हो गये होंगे।[1] इसका अभिप्राय यह है कि अविनाश बाबू के कथनानुसार लाखों वर्ष पूर्व आर्य लोग उस स्थान पर रहते थे जहाँ उस समय सरस्वती नदी बह रही थी और राजपूताने का समुद्र लहलहा रहा था। इस प्रकार अविनाश बाबू ने तिलक की उत्तर-ध्रुवोत्पत्ति विषयक मान्यता का प्रत्याख्यान करने के साथ-साथ आर्यों का लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व आर्यावर्त्त में होना भी सिद्ध कर दिया।

तिलक कहते हैं कि मेरू (उत्तरीय ध्रुव बिन्दु) पर एक मानव वर्ष का अहोरात्र (=६ महीने का दिन और ६ महीने की रात) होता है। आर्य लोग वहाँ रहे थे। उन्होंने अपनी आँखों से यह सब देखा था। जब वह स्थान रहने के अयोग्य हो गया तो वे उस देश को छोड़ आये। पर उसकी क्षीण स्मृति अब भी बनी रही। वहाँ के लम्बे दिन-रात उन्हें नहीं भूले। इसलिए वेदों में अहोरात्र का जो वर्णन है, वह अपने पूर्वजों की आँखोंदेखी बातों के आधार पर है। पर अकेली यह बात इसका प्रमाण नहीं हो सकती कि उन लोगों को ध्रुव प्रदेश का प्रत्यक्ष ज्ञान था। महाभारत (वनपर्व, अध्याय १६३-१६४) में अर्जुन की मेरू यात्रा का वर्णन है। वहाँ कहा है—

स्वतेजसा तस्य नगोत्तमस्य महौषधीनां च तथा प्रसादात्।
विभक्तभावो न बभूव कश्चित् अहो निशानां पुरुषप्रवीरः॥
बभूव रात्रिर्दिवसश्च तेषां संवत्सरेणैव समानरूपः॥

अर्जुन ने कहा है कि उस श्रेष्ठ पर्वत (मेरू) के तेज से महौषधियों के प्रभाव से दिन-रात में भेद प्रतीत नहीं होता। उन लोगों का दिन-रात एक वर्ष के बराबर होता है।

पर अर्जुन यहाँ अपना निजी अनुभव नहीं बता रहे थे। महाभारत काल आज से ५००० वर्ष पूर्व का माना जाता है। उस समय मेरु हिमाच्छादित था। चारों तरफ बर्फ़ ही बर्फ़ रही होगी। उस अवस्था में वहाँ ओषधियों के मिलने का तो प्रश्न ही नहीं पैदा होता। फिर भी अर्जुन बर्फ़ की चर्चा नहीं करते। अतः यह वृत्तान्त आँखोंदेखी बातों का न होकर सुनी-सुनाई बातों का है। कुछ लोगों ने कभी उधर की यात्रा की होगी, जैसेकि साहसी लोग आजकल भी करते हैं। उनसे सुनी-सुनाई बातों को विकृत रूप में किसी ने श्लोकबद्ध कर दिया होगा। यह तथ्य तो सर्वविदित है कि महर्षि वेदव्यास ने तो 'जय' नाम से कुछ सहस्र श्लोकों के छोटे से काव्य की रचना की थी। वही आज एक लाख से अधिक श्लोकों के

---

१. If the disapperance of the Saraswati was synchronous with the sea, then the event must have taken place some tens of thousands years ago, if not hundreds of thousands or millions.—Ibid, 7.

'महाभारत' नाम के विशालकाय महाकाव्य के रूप में विद्यमान है। ये बातें ज्योतिष की गणना के आधार पर भी लिखी जा सकती हैं। मेरु के दीप्तिमान और दिव्य ओषधियों से परिपूर्ण कहे जाने में मेरु पर्वत पर देवताओं के वास की कल्पना भी कारण हो सकती है। अपने मत के समर्थन में तिलक कुछ वेदमन्त्र भी उद्धृत करते हैं—

१. अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद्दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति॥

—ऋ० १।२४।१०

२. अवंशे द्यामस्तभायद् बृहन्तमा रोदसी अपृणदन्तरिक्षम्।
स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥—ऋ० २।१५।२

३. स इत्स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान।
उर्वी गभीरे रजसी सुमेके अवंशे धीरः शच्या समैरत्॥—ऋ० ४।५६।३

४. स सूर्यः पर्युरू वरांस्येन्द्रो ववृत्याद्रथ्येव चक्रा।
अतिष्ठन्तमपस्यं न सर्गं कृष्णा तमांसि त्विष्या जघान॥—ऋ० १०।८९।२

५. इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात्।
यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम्॥

—ऋ० १०।८९।४

इन सब वाक्यों को मिलाकर तिलक कहते हैं कि इनमें ध्रुव प्रदेश के ही विषयों की ओर संकेत मिलता है, परन्तु हमें इनमें ऐसा कुछ नहीं दीख पड़ता। उपर्युक्त मन्त्रों का अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—

१. जो ये नक्षत्रगण ऊपर आकाश में निश्चल रूप से स्थापित हैं, जो रात्रि के समय तो दिखाई पड़ते हैं, पर दिन के समय कहीं चले जाते हैं, लुप्त हो जाते हैं और विशेष प्रकार से चमकता हुआ चन्द्रमा रात के समय आ जाता है। इन सबके नियामक परमेश्वर के ये नियम सदा अबाध गति से चलते रहते हैं।

२. वह परमेश्वर बाँस या स्तम्भ के बिना ही अवलम्बरहित आकाश में बड़े भारी नक्षत्रों से भरे ऊपर के महान् आकाश को ऐसे स्थिर कर रहा है, जैसे स्तम्भों के आश्रय पर तम्बू तान दिया जाता है। इसी प्रकार बिना आश्रय के ही पृथिवी व अन्तरिक्ष दोनों को धारण कर रहा है और पृथिवी को विस्तृत बनाता है। परमैश्वर्यवान् परमेश्वर यह सब जगत् के संचालक के रूप में बल की अधिकता के कारण ही कर रहा है।

३. यह परमेश्वर ही शुभ कार्य करनेवाला, विश्वकर्मा होकर समस्त लोकों में विद्यमान–व्यापक है, जो सूर्य और पृथिवी दोनों को उत्पन्न करता है और सबकी बुद्धियों में रमण करनेवाला, सारे संसार को धारण करनेवाला है, जो विशाल, गम्भीर, सुरूप, सुसम्बद्ध, वंशादि स्थूल आधार के बिना ही रहनेवाले दोनों लोकों

को अपनी बड़ी भारी शक्ति से चला रहा है।

४. जिस प्रकार शिल्पी रथ के वेग से चलनेवाले चक्रों को चलाता है, उसी प्रकार सूर्य के समान तेजस्वी या बलशाली इन्द्र विस्तृत आकाश में विद्यमान अनेक लोकों को चला रहा है। वही महाशक्तिशाली प्रभु कभी न ठहरनेवाले अर्थात् सतत क्रियाशील, बनने-बिगड़नेवाले सृष्टिचक्र को भी सूर्य के समान सब प्रकार से चला रहा है। वही इस जगत् में चारों ओर फैले काले अँधेरों को तीक्ष्ण क्रान्ति से दूर करता है।

५. वह परमेश्वर महान् आकाश के प्रदेश से अनल्प सृष्टि रचनेवाले जलों के समान प्रकृति के परमाणुओं को और जीवों या लोकों को ऐसे प्रेरित करता है, जैसे अक्ष-दण्ड के बल से चक्र को चलाया जाता है और अपनी अनेक शक्तियों से पृथिवी, सूर्य और आकाश को सब ओर थामे हुए है।

रात में तारों का चमकना और दिन में छिप जाना और इसी प्रकार चन्द्रमा का रात में चमकना तो सामान्य बातें हैं जो भूमध्य रेखा के उत्तर में कहीं भी देखी जा सकती हैं। हाँ, भूमध्य रेखा के दक्षिण के देशों में सप्तर्षि के दर्शन न होना सुना जाता है। यहाँ (१।२४।१०) दो शब्द ऐसे हैं जो विचारणीय हैं। वे हैं—मन्त्रगत '**निहितासः उच्चा**'—ऊँचे पर स्थित या स्थापित। तिलक कहते हैं कि ऊँचे का अर्थ है—द्रष्टा के सिर पर। यदि यह अर्थ हो तब तो भले ही यह कह दिया जाये कि यह मन्त्र ध्रुव प्रदेश की ओर संकेत कर रहा है। पर ऐसा अर्थ करने के लिए कोई कारण न तिलक जी ने सुझाया है और न किसी प्रकार शब्दों से ही निष्पन्न होता है। '**ऋक्ष**' का अर्थ यदि '**सप्तर्षि**' (जैसा कुछ लोगों का मत है) किया जाये तो यह ठीक है कि वे भूमध्य रेखा के दक्षिण में दिखाई नहीं देते, भूमध्य रेखा के पास से उत्तर की ओर वे दबे से प्रतीत होते हैं। पर ज्यों-ज्यों उत्तर की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों ऊँचे होते जाते हैं। इसलिए ध्रुव प्रदेश के दक्षिण में भी सप्तर्षि ऊँचे रहेंगे। जब 'सिर के ऊपर' मानने में कोई विशेष कारण नहीं तो बलात् उसका वैसा अर्थ क्यों और कैसे किया जाये? यदि '**ऋक्ष**' का अर्थ तारा-मात्र किया जाये तो इसमें सोचने की कुछ भी बात नहीं। रात में सर्वत्र ही तारा-जटित आकाश सिर पर रहता है।

तिलक कहते हैं कि ऋग्वेद में '**उषः**' (**उषस्**, हिन्दी में उषा—प्रातःकालीन प्रकाश) की प्रशस्ति में जो मन्त्र हैं, वे संहिताभर में सबसे अधिक चित्ताकर्षक हैं। दूसरे विद्वान् भी उषा सम्बन्धी मन्त्रों की ऐसी ही प्रशंसा करते हैं। मैकडानल का मत है कि यह देवता वैदिक काव्य की सबसे सुन्दर सृष्टि है और अन्य किसी भी देश के धार्मिक साहित्य में उषा का ऐसा भावपूर्ण चित्रण नहीं हुआ है। इससे तिलक अनुमान करते हैं कि जिस उषा का ऋग्वेद में वर्णन है, वह ध्रुव प्रदेश की ही होगी। नीचे के देशों की उषा में ऐसी कोई विशेषता नहीं होती कि उसपर

मुग्ध हुआ जाये। हाँ, ध्रुव प्रदेश का लम्बा प्रातःकाल निस्सन्देह ऐसा लुभावना होता है कि कोई उसपर मुग्ध हो जाय। पर तिलक का यह कहना ठीक नहीं है कि ध्रुव प्रदेश को छोड़कर अन्यत्र कहीं की प्रातःकालीन प्रभा मोहक नहीं होती। विषुवत रेखा पर तो सायं-प्रातः होता ही नहीं। इससे उत्तर, दक्षिण के देशों में प्रातःकाल और सायंकाल दोनों ही सुन्दर होते हैं। कवि-हृदय के लिए उनमें काफ़ी आकर्षण है। संस्कृत एवं अन्य भारतीय भाषाओं के काव्यग्रन्थ उषा या प्रभात-कालीन शोभा के वर्णन से भरे पड़े हैं।

एतद्विषयक एक और प्रमाण तिलक तैत्तिरीय संहिता से देते हैं। इस संहिता (७।२।२०) में एक जगह निम्न प्रकार सात आहुतियाँ देने का विधान है—

उषसे स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहोदिष्यते स्वाहोद्यते स्वाहोदित्याय स्वाहा सुवर्गाय स्वाहा लोकाय स्वाहा।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार '**रात्रिर्वा उषोऽहर्व्युष्टिः**'—उषा रात है, व्युष्टि दिन है। '**व्युष्टि**' का अर्थ है पूरी तरह खिला हुआ प्रभात, अतः उषा और व्युष्टि का अर्थ हुआ—प्रभात का पूर्वरूप और पूर्णरूप। तिलक कहते हैं कि यदि हम तैत्तिरीय ब्राह्मण की व्याख्या मानकर इन दोनों शब्दों का अर्थ रात और दिन भी कर लें तो '**उदेष्यत्**' (उदय होनेवाली), '**उद्यत**' (उदय होती हुई) और '**उदित**' का भेद तो रह ही जायेगा। ये तीनों नाम प्रभात के हैं। ध्रुव प्रदेश को छोड़कर अन्यत्र कहीं इतना लम्बा सवेरा नहीं होता कि उसे तीन स्तरों में विभक्त किया जा सके। किन्तु तिलक के इस तर्क में कोई सार नहीं है, क्योंकि यहाँ **उदेष्यत्, उद्यत** तथा **उदित** का परामर्शक सूर्य है, उषा नहीं। ब्राह्मण का भी ऐसा ही संकेत है। फिर, **उषा** और **व्युष्टि** दोनों स्त्रीलिंग वाचक हैं, जबकि **उदेष्यत्, उद्यत** और **उदित** पुल्लिंगात्मक हैं। **सुवर्ग** और **लोक** भी सूर्य के ही नाम हैं।

तिलक कहते हैं कि वेद में ऐसे मन्त्र भरे पड़े हैं जिनमें रात के अँधेरे से घबराकर यह प्रार्थना की गई है कि किसी प्रकार इसका अन्त हो। उनका कहना है कि यह बात **ध्रुवाधः** प्रदेश की १०-१२ घण्टे की रात के विषय में नहीं कही जा सकती। जंगली मनुष्य भी जानते हैं कि रात कुछ घण्टों में समाप्त हो जायेगी और नियत समय के बाद सूर्य अवश्य निकलेगा। फिर, ज्योतिष का ज्ञान रखनेवाले आर्यलोग एक छोटी-सी रात के अँधेरे में क्यों घबराते? यह तर्क तो ठीक है। पर यही बात उनपर भी लागू होती है। ध्रुव प्रदेश में रहते हुए भी आर्यलोग जानते रहे होंगे कि एक नियत समय के बाद—चाहे वह कितना ही लम्बा क्यों न हो—दिन अवश्य आयेगा। वे यह भी अवश्य समझते होंगे कि नियत काल से पहले दिन कदापि नहीं आयेगा, चाहे वे कितना ही क्यों न रोयें-धोयें।

यद्यपि लोकमान्य तिलक ने आर्यों के मूल अभिजन विषयक भारतीय मत का समर्थन नहीं किया, तथापि वही एक ऐसे विद्वान् थे जिन्होंने अपने मत के समर्थन

में वेदों का विश्लेषण करने की आवश्यकता को अनुभव किया। परन्तु, जैसा कि लोकमान्य तिलक ने स्वयं स्वीकार किया, उन्होंने वेदों को पाश्चात्य विद्वानों के चश्मे से पढ़ा था। इस कारण वे वेदों के यथार्थ तक न पहुँच सके। मृत्यु से कुछ दिन पूर्व उन्होंने अपनी भूल स्वीकार की और स्वयं अपने मत का खण्डन करने के लिए पुस्तक लिखी जो प्रकाशित न हो सकी। गीता प्रेस गोरखपुर के संस्थापक तथा 'कल्याण' के आद्य सम्पादक श्री हनुमान् प्रसाद पोद्दार की लोकमान्य तिलक से घनिष्ठता थी। तिलक महाराज की मृत्यु १ अगस्त, १९२० को हुई। उस समय पोद्दारजी उनके पास थे। उनके (तिलकजी के) शरीर छोड़ने से पूर्व का एक संस्मरण सुनाते हुए पोद्दारजी ने कहा था—"आर्यों के आदि निवास के विषय में तिलक महाराज ने पुनः एक पुस्तक तैयार की थी जिसमें उन्होंने अपनी पुरानी मान्यताओं का खण्डन किया था। नयी मान्यता के अनुसार आर्य भारतवर्ष के ही थे। इस पुस्तक की पाण्डुलिपि मैंने स्वयं देखी थी, परन्तु उसे प्रेस में छपने देने से पहले ही तिलक महाराज का देहान्त हो गया। इसके पश्चात् उस पाण्डुलिपि का क्या हुआ, कुछ पता नहीं चला। मैंने उनके उत्तराधिकारियों से उस पुस्तक के सम्बन्ध में पूछताछ की, किन्तु कोई सन्धान न मिल सका।"[1]

---

१. द्रष्टव्य—भाईजी : पावन स्मरण, पृष्ठ ४४८—४४९।

सप्तसिन्धव देश

जब से हड़प्पा और मोहनजोदड़ो आदि स्थानों पर हुई खुदाइयों में प्राप्त वस्तुओं की तुलना ऋग्वेदकालीन सभ्यता से की गई है तब से यह माना जाने लगा है कि आर्यों का मूल अभिजन सप्तसिन्धु अथवा सप्तसैन्धव प्रदेश रहा होगा और यहीं से वे सारे भारत में और यूरोप आदि देशों में फैले होंगे। यूरोप की भाषाओं में और संस्कृत व प्राचीन ईरानी भाषाओं में जो समानता दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण आर्यजाति का यह विस्तार ही है। इस विषय पर अनेक भारतीय विद्वानों ने पाश्चात्य पद्धति के अनुसार विस्तारपूर्वक विचार किया है। इनमें अविनाशचन्द्रदास, स्वामी शकरानन्द, नाना पावगी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री दास ने स्वतन्त्र रूप से तथा बाबू सम्पूर्णानन्दजी ने श्री दास के ऋग्वैदिक इण्डिया (Rigvedik India) तथा अन्य सामग्री के आधार पर आर्यों का मूलस्थान सप्तसिन्धु प्रदेश सिद्ध करने का प्रयास किया है। इन दोनों विद्वानों ने तिलक की उन युक्तियों की भी विस्तार से चर्चा की है जिनके आधार पर उन्होंने उत्तरी ध्रुव प्रदेश को आर्यों का मूल अभिजन प्रतिपादित किया है। सिन्धु, शतद्रु (सतलुज), विपाशा (व्यास), परुष्णी (रावी), असिक्नी (चिनाव), वितस्ता (जेहलम) और सरस्वती—इन सात नदियों द्वारा सिंचित प्रदेश को सप्तसैन्धव बताया जाता है। इनमें शिवालक पहाड़ियों के नीचे दक्षिण की ओर का थोड़ा पंजाब प्रान्तीय मैदानी भाग, हिमाचल प्रदेश तथा विभाजन से पहले के कश्मीर का बहुत बड़ा भाग आ जाता है।

आधुनिक काल में यह धारणा बन गई है कि जब तक किसी स्थापना की वेद से पुष्टि न हो तब तक उसे प्रामाणिक नहीं समझा जाता। तदनुसार जिन विद्वानों ने आर्यों का आदि निवास सप्तसिन्धु बताया उन्होंने भी अपनी मान्याता को वेदों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया है। ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में भी अनेक स्थलों पर **'सप्तसिन्धव'** पदों का प्रयोग हुआ है। उक्त विद्वानों का कहना है कि अवश्य ही यह ऐसा प्रदेश रहा होगा जहाँ आर्यलोग अपने आदिकाल में निवास करते थे और उन्हें अपने इस प्रदेश के प्रति बड़ा आकर्षण रहा है। वेदों में उन

नदियों का बड़ा सुन्दर और आकर्षक वर्णन उपलब्ध होता है जो उस प्रदेश में आर्यों के निवास का द्योतक है। अपने मत की पुष्टि में अविनाश बाबू ने जो मन्त्र प्रस्तुत किये हैं, वे इस प्रकार हैं—

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्तसिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव।
—ऋ० ८।६९।१२

हे (**वरुण**) वरण करने योग्य आचार्य (**यस्य ते**) जिस तेरे (**काकुदं अनु**) तालु के प्रति (**सप्तसिन्धवः**) सातों छन्द बहते हुए नदधारों के समान (**सुषिरां सूर्म्यं**) छिद्रवती लोहे की नली में जलधारा के समान (**अनुक्षरन्ति**) बहती हैं, वह तू (**सुदेवः असि**) उत्तम ज्ञानदाता—ज्ञान का प्रकाशक है।

वरुण जलों का देवता माना जाता है। उससे प्रार्थना की गई है कि हे वरुण! तुम श्रेष्ठ देव हो, तुम्हारे मुख में सात नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं। तिलक ने इस ऋचा का अर्थ करते हुए लिखा है कि सात नदियाँ वरुण के मुख में गिरती हैं। सायणाचार्य ने भी इस ऋचा का ऐसा ही अर्थ किया है। उसने लिखा है—"हे जलाभिमानी वरुणदेव! तुम श्रेष्ठ देव हो, तुम्हारे तालुरूप समुद्र में सात नदियाँ बहती हैं।" एक और मन्त्र है—

अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत्त्वा प्रत्यहन् देव एकः।
अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्त्तवे सप्त सिन्धून्॥ ऋ० १।३२।१२

जब यह मेघ सूर्य के प्रकाश को ढाँप लेता है तब वह सूर्य अपनी किरणों से अथवा विद्युत् अपनी शक्ति से उसको छिन्न-भिन्न करके पृथिवी पर जल बरसाता है। इसी से यह सूर्य उस जल समुदाय के पहुँचाने और लौटाने के लिए सात प्रकार के समुद्रों=जलाशयों (नदी, तालाब और कुएँ आदि) को रचने का हेतु होता है।

यहाँ इन्द्र की स्तुति है। हे शौर्ययुक्त इन्द्र (सूर्य) जब तुम्हारे वज्र पर शस्त्रास्त्र विद्या में कुशल साहसी वृत्र (मेघ) ने प्रहार किया, तब तुमने उसे नगण्य समझकर इस प्रकार पछाड़ दिया, जैसे घोड़ा अपने बालों के चँवर से मक्खियाँ उड़ा देता है। गौओं और सोम को जीता और बहने के लिए सातों नदियों को मुक्त कर दिया। सायणाचार्य ने भी इस मन्त्र का यही अर्थ किया है। सात नदियों का विवरण देने की भावना से सायण ने निम्न मन्त्र को उद्धृत कर उसमें पठित सात नदियों को निर्दिष्ट माना है—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥ ऋ० १०।७५।५

इसी ऋचा के आधार पर नाना पावगी ने लिखा है कि इन्द्र ने वृत्र (मेघ) को वज्र से मारकर सातों सिन्धुओं को मुक्त किया। उन्होंने एक और स्थल पर अथर्ववेद के '**यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून्**' (२०।३४।३) तथा '**अहन्नहिमरिणात सप्त सिन्धून्**' (२०।९१।१२) के आधार पर लिखा है कि इन्द्र ने वृत्र को मारकर

सात नदियों को मुक्त किया।

डा० सम्पूर्णानन्द ने 'आर्यों का आदिदेश' में इस ऋचा (ऋ० १।३२।१२) के आधार पर लिखा है—"इन्द्र ने गौओं को जीता, सोम को जीता और सप्त सिन्धुओं के प्रवाह को मुक्त किया। इस गाथा में निरुक्त के अनुसार जल से भरे हुए बादलों का गरजना, उनपर बिजली का कड़कना, उनसे जलधारा का फूट पड़ना और फिर उस जल का सप्त सिन्धुओं (सात नदियों) में प्रवाह रूप से गिरना—यही दृग्विषय वर्णित है। निश्चय ही 'अहि' शब्द बादलों के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पर विचारणीय है—बादल से निकली हुई जलधारा से तो नदियों का सर्वत्र ही पोषण होता है, परन्तु मन्त्र ने सप्तसिन्धु (सात नदियों) का ही नाम लिया है। उसकी दृष्टि में इनका ही महत्त्व है।"

परन्तु 'इमं मे गङ्गे यमुने' (ऋ० १०।७५।५) इत्यादि मन्त्र में तो स्पष्टतः दस नदियों के नामों का उल्लेख हुआ है। इन दस नदियों में से कौन-सी तीन नदियों को छोड़ दिया जाय, इसका निर्देश सायण ने नहीं किया है। दूसरी ओर सम्पूर्ण ऋग्वेद में जहाँ भी **'सप्त सिन्धून्'** पदों की व्याख्या का प्रसंग आया है, प्रायः सर्वत्र ही आचार्य सायण ने **'गङ्गाद्या नद्यः'** ही अर्थ किया है। इससे स्पष्ट है कि सायण के सामने **'सप्तसिन्धव प्रदेश'** की कल्पना की कोई भावना नहीं थी। हो सकता है कि **'गङ्गाद्या नद्यः'** के द्वारा गङ्गा को प्रमुखता देने का कारण उस समय (और अब भी) में गंगा के प्रति व्याप्त श्रद्धाभावना रही हो अथवा मन्त्र में सर्व-प्रथम गंगा का उल्लेख रहा हो। डा० सम्पूर्णानन्द ने दस नदियों की सूची में से गंगा, यमुना और मरुद्वृधा को निकालकर शेष सात नदियों से सिंचित् धरती को सप्तसिन्धव प्रदेश का नाम दे दिया। इन दो (गंगा-यमुना) का नाम सर्वप्रथम होने पर भी इनको किस आधार पर निकाला गया, इसका समाधान सम्पूर्णानन्दजी नहीं कर पाये। 'मन्त्र में इन नदियों का उल्लेख नामोद्देशमात्र है और इससे इतना ही प्रमाणित होता है कि मन्त्रकार को इनका पता था' इस कथनमात्र से किसी को नहीं बहलाया जा सकता। ऐसा लगता है कि सप्तसिन्धु प्रदेश की कल्पना के पूर्वा-ग्रह ने उनका ध्यान इस ओर नहीं जाने दिया।

डा० सम्पूर्णानन्द कहते हैं—"सप्तसिन्धव की सीमाओं के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है और आज तक भी कोई सर्वसम्मत सिद्धान्त स्थिर नहीं हो सका है। यदि सप्तसिन्धव के तत्कालीन भूगोल का स्वरूप निश्चित हो जाये तो स्यात् आर्यों के मूलनिवास की समस्या स्वतः सुलझ जाये। मैं स्वयं प्रायः उस विचार से सहमत हूँ जिसे अविनाशचन्द्र दास ने 'ऋग्वैदिक इण्डिया' में प्रकट किया है। इस मत के अनुसार सप्तसिन्धव के उत्तर में हिमालय था और उसके बाद समुद्र था जो वर्त्तमान तुर्किस्तान के उत्तरी सिरे से आरम्भ होता था और पश्चिम में कृष्णसागर तक जाता था। इस समुद्र के उत्तर में फिर भूमि थी जो उत्तरी ध्रुव

प्रदेश तक चली जाती थी। दक्षिण में भी समुद्र था जहाँ आज (सन् १९४०) राजपूताना है। यह समुद्र वहाँ तक चला जाता था जहाँ आज अर्वली पहाड़ है। पश्चिम में यह अरब सागर से मिला हुआ था। पूर्व में भी एक समुद्र था। यह समुद्र हिमालय की तलहटी के नीचे-नीचे प्राय: सारे युक्त प्रान्त (वर्त्तमान उत्तर प्रदेश) और बिहार को ढकता हुआ आसाम तक चला जाता था। पश्चिम में सुलेमान पहाड़ था। इस ओर भी पहाड़ के नीचे समुद्र की एक पतली गली-सी थी।···सप्तसिन्धव प्राय: वही प्रदेश है जिसका नाम आजकल पंजाब-कश्मीर है।" इसी बात को अविनाशचन्द्र दास ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वैदिक इण्डिया' में इन शब्दों में कहा है—"कश्मीर का यह सुन्दर देश और सप्तसिन्धु के मैदान ही आर्यजाति का पालना थे।"[1]

सप्तसिन्धु प्रदेश की कल्पना का आधार भी वेदों को माना गया है। परन्तु—यद्यपि **'सप्त'** पद के साथ अन्य अनेक पदों का समास होकर एक नाम के रूप में उनका प्रयोग हुआ है, **'सप्त'** और **'सिन्धु'** पदों का समास होकर एक नाम के रूप में इनका प्रयोग वेदों में कहीं नहीं है। वेद के अतिरिक्त अन्य वैदिक साहित्य—ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में तथा शेष प्राचीन भारतीय वाङ्मय–रामायण, महाभारत, पुराण आदि में भी प्रदेशवाचक **'सप्तसिन्धु'** अथवा **'सप्तसिन्धव'** पद का प्रयोग उपलब्ध नहीं है, जबकि पंजाब के लिए **'पंचनद'** पद का प्रयोग महाभारत (सभा० ३२।११) में देखा जाता है। इससे स्पष्ट परिणाम सामने आता है कि प्राचीन भारतीय जन सप्तसिन्धु नाम से अभिहित किसी प्रदेश से सर्वथा अपरिचित थे। उन्होंने इन पदों से यदि किसी का विवरण प्रस्तुत किया है तो वे केवल सात नदियाँ हैं। देशवाचक इस नाम को प्राचीन साहित्य पर थोपना सर्वथा असंगत होगा।

नदीसूक्त के नाम से प्रसिद्ध ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ७५वें सूक्त के प्रथम मन्त्र में **'सिन्धु'** शब्द का उल्लेख होने से पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि आर्य-लोग भारत में किसी ऐसे स्थान से आये थे जहाँ से आते समय मार्ग में सबसे पहले सिन्धु नदी पड़ती थी। इसी आधार पर वे आर्यों के भारत में मध्य एशिया से आने की मान्यता का प्रतिपादन करते हैं। दूसरी ओर वे ऋग्वेद के दसवें मण्डल को शेष ऋग्वेद के बाद रचित हुआ मानते हैं। मैक्समूलर के प्रमुख शिष्य मैकडानल अपनी पुस्तक 'A Vedic Reader for Students' की भूमिका में लिखते हैं—"ऋग्वेद के दस मण्डलों में से आठ मण्डल पहले लिखे गये, फिर नौवाँ और अन्त में दसवाँ।" इसी प्रकार कीथ ने लिखा है कि "दशम मण्डल के मन्त्रों की भाषा

---

१. That this beautiful country (Kashmir) and the plains of Sapta-Sindhu were the cradle of Aryan race.

और उसमें व्यक्त विचार बहुत बाद के हैं।"[१] सुजनतोषन्याय से यदि इसे ठीक मान लिया जाये तो प्रश्न उठता है कि आर्यों ने अपने भारत में आने का उल्लेख प्रारम्भ में (प्रथम मण्डल में) न करके अन्त में दशम मण्डल में क्यों किया? जब उन्होंने भारत में आने के बाद वेदों की रचना की तो निश्चय ही उन्हें ग्रन्थ का प्रारम्भ इस बात से करना चाहिए था कि वे कब, कहाँ से, क्यों और कैसे भारत आये। स्पष्ट है कि इस सूक्त का आर्यों के भारत में आगमन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

वास्तव में इस सूक्त में सिन्धु आदि नदियों का उल्लेख है ही नहीं। यदि ऐसा होता तो क्रमपूर्वक सिन्धु के बाद जेहलम का, फिर चिनाव, फिर रावी, फिर व्यास, फिर सतलुज, फिर सरस्वती, फिर यमुना और अन्त में गङ्गा का उल्लेख होना चाहिए था। परन्तु है इसमें बिलकुल उलट। इस सूक्त के पाँचवें मन्त्र 'इमं मे गङ्गे यमुने' इत्यादि का ग्रिफ़िथकृत अनुवाद इस प्रकार है—

"Favour Ye this my land O Ganga, Yamuna, O Shutudri, Parushni and Saraswati; with Asikni, Vitasta, O Marudvridha, O Arjikiya with Sushoma hear my call.

मन्त्र का अनुवाद करते समय ग्रिफ़िथ ने सरस्वती के स्थान पर शुतुद्री करके सरस्वती को पीछे डाल दिया; पता नहीं क्यों? दूसरी बात यह है कि सिन्धु पार करते ही आर्यजन एक लम्बी छलाँग मारकर गंगा के तट पर कैसे पहुँच गये और वहाँ से फिर उलटे पाँव यमुना, सरस्वती, सतलुज, व्यास—इस प्रकार क्यों चल दिये। फिर, जिस सिन्धु नदी का उल्लेख इस सूक्त के अन्तर्गत हुआ है, उसके आठवें मन्त्र में उसका वर्णन देखिये—

स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी, सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्॥

इस मन्त्र में सिन्धु के विशेषण हैं—

स्वश्वा—उत्तम अश्वों या इन्द्रियोंवाली।
सुरथा—उत्तम रथ या शरीरवाली।
सुवासा—उत्तम वस्त्रों या भावोंवाली।
हिरण्मयी—स्वर्ण के समान कान्तियुक्त।
सुकृता—उत्तम कार्यवाली।
वाजिनीवती—बलवती।

---

१. The 10th book also displays, both in meterical form and linguistic details, signs of more recent origin than the bulk of the collection.

—Cambridge History of India, Part I, chap. 4, P. 76

ऊर्णावती—उत्तम त्वचावाली या रोमयुक्त।

युवतिः—तरुणी के समान सबको बाँधनेवाली।

सीलसावती—नाना नाड़ियों के जाल से युक्त या उत्तम।

सुभगा—सौभाग्यवती या ऐश्वर्ययुक्त।

मधुवृधम्—मधुर अन्नादि से वृद्धि को प्राप्त होनेवाली या आध्यात्मिक आनन्द से युक्त।

इन विशेषणों का किसी नदी के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता। लक्षण से ये शरीरयुक्त आत्मा अथवा स्त्रीविशेष के प्रसंग में प्रयुक्त हो सकते हैं। सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० बुद्धदेव विद्यालंकार ने इस सूक्त का सेनापरक अर्थ किया है। इन विशेषणों से युक्त सेना का यह वर्णन हो सकता है।

फिर भी, यदि यह भारत के भूगोल का ही वर्णन हो, तो चौथे मन्त्र का अर्थ किस प्रकार संगत होगा? जिन नदियों को यहाँ सम्बोधन किया है, वे सिन्धु की ओर ऐसे दौड़ रही हैं जैसे दूध भरी गाय रम्भाती हुई अपने बछड़ों की ओर दौड़ती है। मन्त्र इस प्रकार है—

अभि त्वा सिन्धो शिशुमिन्न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः।

इस मन्त्र का ग्रिफ़िथ द्वारा किया गया अर्थ इस प्रकार है—

Like mother to their calves, like milch kine with their milk, so Sindhu into thee, the roaring rivers.

क्या गंगा, यमुना, सरस्वती, सतलुज, व्यास, गोमती व क्रमु सब सिन्धु से मिलने उसकी ओर जाती हैं? इनमें से मरुद्वधा के विषय में तो ग्रिफ़िथ ने स्पष्ट लिख दिया—Not identified अर्थात् इसकी पहचान नहीं हो सकी। परन्तु जो पहचानी हुई समझी जाती हैं, वास्तव में वे भी नहीं पहचानी गई हैं। गोमती लखनऊ के पास बहती है।[1] कुर्रम काबुल के पास है। पाश्चात्य विद्वान् 'क्रमु' को कुर्रम बताते हैं और 'कुभा' को काबुल नदी। इस सूक्त के छठे मन्त्र में कुभा, क्रमु और गोमती तो एक साथ पड़ी हैं। पर काबुल की कुभा और क्रमु का लखनऊ की गोमती के साथ कैसे मेल बैठ सकता है? इस उलझन का हल उन्होंने लखनऊ की गोमती को काबुल की गोमल बताकर किया। परन्तु जब गंगा हरद्वारवाली गंगा है और यमुना मथुरावाली यमुना तो गोमती लखनऊवाली गोमती क्यों नहीं? फिर, कुभा का काबुल और गोमती का गोमल किस नियम से बनाया गया। वास्तव में इस सूक्त का भूगोलपरक अर्थ करके आर्यों का मध्य एशिया से आना सिद्ध करने के लिए यह शीर्षासन किया गया। गवर्गण्ड राजा के राज्य में जब अपराधी के गले में फाँसी का फन्दा फ़िट नहीं बैठता था तो जिसके गले में वह फ़िट

१. ४०० वर्ष पूर्व इस नाम की नदी का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

बैठता था, उसी को फाँसी चढ़ा दिया जाता था। जब गोमती से बात नहीं बनी तो वेदमन्त्र की गोमती को गोमल बना दिया गया।

इस सूक्त का देवता **'नद्यः'** है। नदी शब्द **'णद् अव्यक्ते शब्दे'** धातु से **'घञ्'** और स्त्रीलिङ्ग में **'ङीप्'** प्रत्यय से निष्पन्न होता है। जो नाद करती हुई बहती हों वे नदी कहाती हैं। वेदों में गौण भाव से वर्णन बहुत है, प्रधानतया थोड़ा है, अर्थात् नैघण्टुक देवता के रूप में तो नदियों का वर्णन बहुत पाया जाता है, परन्तु ऐसा वर्णन स्वल्प है जहाँ मुख्य देवता नदी हो। सिन्धु शब्द भी निघण्टु में नदी के पर्याय रूप में पढ़ा है।

सायण के अनुसार सूक्त का पहला मन्त्र तो इन नदियों की स्थिति पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में भी बताता है। (**ता नद्यः सप्त सप्त भूत्वा त्रेधा पृथिव्यन्तरिक्षे दिवि च।**) यदि ये लोकविश्रुत भारत स्थित नदियों के नाम हैं तो इनकी स्थिति तीनों लोकों में कैसे मानी जा सकती है?

पाँचवें मन्त्र (इमं में गङ्गे यमुने०) का सेनापरक अर्थ इस प्रकार है—

"हे लक्ष्य की ओर गमन करनेवाली (**गंगा**), नियम तथा व्यवस्था की रक्षा करनेवाली (**यमुना**), जल आदि आवश्यक सामग्री पहुँचानेवाली (**सरस्वती**), तथा सामग्री संभरणार्थ तीव्र यानों से सुसज्जित यन्त्र-उपकरणमयी सेना (**शुतुद्री**) तुम अपने निवासभूत सैन्यनिवेश के साथ (**परुष्ण्या**) मेरे (**मे**) स्तुतिगान को (**स्तोमं**) सदा उपार्जन करती रहो (**सचत**) तथा शत्रु के प्रहारों को, सैन्य-सन्निवेश तक पहुँचने से रोकनेवाली शाखा के साथ (**असिक्न्या**) आवश्यकतानुसार सैनिकों की कमी को पूरा करके तुरन्त आगे बढ़ने में सहायता देनेवाली (**मरुद्वृधे**) शत्रु-सेना पर निःशंक प्रहार करके शत्रुदल को क्षीण करनेवाली (**वितस्तया**) टुकड़ी के साथ सेना के हर टेढ़े कार्य को सीधा करनेवाले अर्थात् संकट के समय तत्काल सहायता पहुँचानेवाले इंजीनियरों से युक्त होकर (**आर्जीकीया**) सेना की आक्रामक नीति को तत्काल निर्धारित करने में समर्थ परामर्शदात्री मण्डली के साथ (**सुषोमया**) मेरे प्रशंसायुक्त स्तुति-गान को (**स्तोमं**) सदा सुनो (**आश्रृणुहि**)।

इस मन्त्र में सेना के विभिन्न विभागों का निर्देश करते हुए उसे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए अपेक्षित प्रत्येक के सामर्थ्य तथा कर्त्तव्यों का संकेत उपलब्ध है। यहाँ प्रथम चार मन्त्रों में वृषभ तथा राजा की पुंल्लिग उपमा से सिन्धु पुंल्लिग ही दीखता है, परन्तु ७वें मन्त्र के आगे के मन्त्रों में 'ऋजीती' 'स्वश्वाः' 'सुरथा' आदि विशेषणों से सिन्धु स्त्रीलिंग दीखता है। इससे ग्रिफ़िथ घबरा गया है। वह लिखता है—"In the preceding stanzas Sindhu appears to be a river-god, but in this and the following verses the epithets are faminine." बात यह है कि प्रथम चार मन्त्रों में सिन्धु अर्थात् अग्रगामिनी सेना के **'अग्रभाग'** का वर्णन है, जबकि सातवें मन्त्र से आगे **'अग्रगामिनी सेना'** का

वर्णन है। यह मर्म न समझने के कारण ग्रिफ़िथ उलझन में पड़ गया है। वस्तुतः यहाँ सिन्धु स्त्रीलिंग अग्रगामिनी सेना है और सिन्धु पुल्लिग उस सेना का केवल अग्रभाग है।

प्रथम मन्त्र में 'आपः' शब्द व्याख्येय है, क्योंकि उसका अभिधेयार्थ 'जल' होने से धरती पर बहनेवाली नदी का भ्रम होता है। इस शंका का निवारण करने के लिए हम दशम मण्डल के ६६वें सूक्त का ८वाँ मन्त्र उद्धृत करते हैं, जिसमें **'धृतव्रताः क्षत्रिया···अपो असृजन् वृत्रतूर्ये'** यह स्पष्ट उल्लेख है, अर्थात् व्रतधारी क्षत्रियों ने वृत्र के नाश के लिए **'अपः'** की रचना की। शतपथ ब्राह्मण (६।१।७।४) में वृत्र का अर्थ पाप तथा वहीं (७।३।१।२०) में **'आपः'** का अर्थ मनुष्य दिया है। सो अर्थ इस प्रकार हुआ कि व्रतधारी क्षत्रियों ने (**वृत्रतूर्ये**) पाप के नाश के लिए मनुष्यों को तैयार किया। ये मनुष्य किस प्रकार के हैं, यह इस मन्त्र की अन्तःसाक्षी से स्पष्ट होता है। **'आजौ'** से प्रतीत होता है कि यहाँ युद्ध का प्रसग होने से सिन्धु आदि शब्द सेनावाचक उपपन्न होंगे।

यदि इस सूक्त का अर्थ नदीपरक ही करना अभीष्ट हो तो नदी शब्द का अर्थ नहर करना पड़ेगा, क्योंकि **'सुकृता'** विशेषण मनुष्यकृत नदी = नहर के लिए ही सार्थक है, गंगा आदि प्राकृतिक या अकृत्रिम नदियों के लिए नहीं। फिर, उसमें स्वश्वा, सुरथा आदि विशेषण भी लक्षणा वृत्ति से संगत होंगे, मुख्यवृत्त्या नहीं।

वेद में इन शब्दों का मुख्यार्थ नदियों के प्रति संगत न होने से अध्यात्म में नदी नामों से शरीरगत नाड़ियों का ग्रहण होता है। उन नाड़ियों में व्याप्त आत्म-शक्ति भी उसी-उसी नाम से पुकारी जाती है। जैसे—बृहदारण्यकोपनिषद् में मोक्षावस्था के सन्दर्भ में लिखा है—**"शृण्वन् श्रोत्रं भवति मनो मन्वानो वाग् वदन्"** इत्यादि। नाड़ियों को नदी इसलिए कहते हैं कि इन्हीं से स्वर (शब्द) की उत्पत्ति होती है। योगशास्त्र में नाड़ियों में से श्वास लेने की क्रिया को स्वर कहते हैं। तदनुसार विवेच्य मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

(**गंगे यमुने**) हे इड़ा, हे पिंगला (**शुतुद्रि परुष्णि सरस्वति**) और हे शुतुद्री तथा परुष्णी नामोंवाली सुषुम्णा नाड़ी! (**मे इमं स्तोमं आसचत**) तुम मेरे इस परमेश्वर स्तवन का सेवन करो। (**मरुद्वृधे असिक्न्या**) हे सुषुम्णा! तू पिंगला के साथ (**आर्जीकीये वितस्तया सुषोमया**) और हे इड़ा! तू वितस्ता नामवाली सुषुम्णा के साथ मिली हुई (**आशृणुहि**) मेरे इस परमेश्वरस्तवन का श्रवण कर। (चन्द्रमणि विद्यालंकार पालीरत्न : निरुक्तभाष्य, पृष्ठ ५८८)।

मन्त्र के अध्यात्मपरक अर्थ को समझने के लिए **'शिवस्वरोदय'** में एद्विषयक प्रकरण को देखना उपयोगी होगा। हम यहाँ उसके तीन श्लोक उद्धृत कर रहे हैं—

नाभिस्थानगकन्दोर्ध्वमंकुरादेव निर्गताः।
द्विसप्ततिः सहस्राणि देहमध्ये व्यवस्थिताः॥३२॥

तासां मध्ये दश श्रेष्ठा दशानां तिस्र उत्तमाः।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका॥३६॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी।
अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी तथा॥३७॥
इडा पिङ्गला सुषुम्णा प्राणमार्गव्यवस्थिता॥४१॥

नाभिस्थानगत कन्द से ऊपर अंकुर समान ७२ हजार नाड़ियाँ हैं जो सारे शरीर में व्यवस्थित हैं। उन सब नाड़ियों में से दस नाड़ियाँ सर्वोत्तम हैं और फिर उन दसों में भी इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा ये तीन उत्कृष्ट हैं। शेष सात नाड़ियों के नाम गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी हैं। इनमें इडा, पिंगला और सुषुम्णा— ये तीन नाड़ियाँ प्राणसंचार के लिए मुख्य हैं।

प्रस्तुत मन्त्र में गंगा और आर्जीकीया इड़ा के लिए, यमुना और असिक्नी पिंगला के लिए तथा सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी, मरुद्वृधा, वितस्ता और सुषोमा ये ६ नाम सुषुम्ना के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इन तीन नाड़ियों के लिए शिवस्वरोदय में इतना और लिखा है—

इडा गंगेति विज्ञेय पिंगला यमुना नदी।
मध्ये सरस्वतीं विद्यात्प्रयागादिसमस्तथा॥३७४॥

अर्थात् इड़ा को गंगा नदी (नाड़ी), पिंगला को यमुना तथा दोनों के मध्य में स्थित सुषुम्णा को सरस्वती समझना चाहिए। इन तीनों के संगमस्थल का नाम प्रयाग है जो गंगादि नदियों से इन नाड़ियों की समानता को देखकर प्रसिद्ध है, क्योंकि वेद के शब्द यौगिक हैं, वे किसी व्यक्तिविशेष या स्थानविशेष का संकेत नहीं करते। यौगिक प्रक्रिया अथवा निर्वचन के अनुसार प्रत्येक शब्द का संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार है—

गंगा—उत्तमा गतिं गच्छन्त्यनयेति गंगा— इस नाड़ी में प्राणों को वश में करने से योगी उत्तम गति को पाता है।

यमुना—यह पूरक प्राणायाम के द्वारा प्राण को अपने में संमिश्रित करती हुई शरीर में गति करती है। अथवा, इस नाड़ी के अभ्यास से योगी (**प्रवियुतं**) वियुक्तत्व को अर्थात् चित्त की स्थिरता को पाता है। एवं मिश्रण तथा अमिश्रण, इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त 'यु' धातु से यमुना शब्द की सिद्धि होती है—**यवना = यमुना।**

सरस्वती—सरस् शब्द जलवाची है, यतः यह गति करता है, बहता है—**स + असुन्**। एवं प्रशस्त रसवाली होने से सुषुम्णा नाड़ी को सरस्वती कहा गया है।

शुतुद्री–शु + द्रु + ड–ङीप् और द्वित्व = शुद्रुदी = शुतुद्री–शीघ्र ले जानेवाली होने से यह शुतुद्री है। सुषुम्णा में ध्यान लगाने से योगी ब्रह्मलोक को शीघ्र जाता है।

ऋग्वेद के इस (नदी) सूक्त के अन्त में कई शाखाओं में व्याख्यारूप में यह मन्त्र मिलता है—

सितासिते सरिते यत्र संगथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते॥

अर्थात्—जो ध्यानी लोग जहाँ सित (इड़ा) और असित (पिंगला) ये दोनों नाड़ियाँ मिलती हैं, उस संगम स्थान सुषुम्णा में स्नान करते हैं, वे ब्रह्मलोक में जाते हैं—ऐसे योगी शरीर का परित्याग करने के पश्चात् अमृत (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं। एवं यह वचन स्पष्टतया **'शुतुद्री'** के आशय को प्रदर्शित करता है।

परुष्णी—**'परुष्'** और **'पर्वन्'** ये दोनों समानार्थक हैं। **'पर्व'** धातु से उसि प्रत्यय और वकार-लोप, उस परुष् से मतुप् अर्थ में **'न'**—**परुष्णी=पर्ववती=भास्वती, कुटिल गामिनी।** सुषुम्णा नाड़ी ब्रह्म-प्राप्ति की साधिका होने से भास्वती है और इसकी गति वक्र है। इस परुष्णी को 'इरावती' भी कहते हैं।

असिक्नी—पिंगला को असिता या कृष्णा कहा जाता है। **अशुक्ला-अशुक्नी-असिक्नी।** **'सित'** श्वेत का वाचक है, उसका निषेध **'असित'** है।

मरुद्वृधा—यह नाम सामान्यतया सब नाड़ियों का वाचक है, क्योंकि वायुएँ इन्हें बढ़ाती हैं, फैलाती हैं। परन्तु यहाँ मुख्य नाड़ी सुषुम्णा के लिए प्रयुक्त हुआ है।

वितस्ता—(क) सुषुम्णा के द्वारा सब आन्तरिक मैल विशेषतया दग्ध होते हैं, अतः विदग्धा होने से इसे वितस्ता कहा गया है। **वि+तसु उपक्षये+क्त=वितस्ता।** (ख) अथवा यह नाड़ी बड़ी होती है, अर्थात् इसके किनारे अधिक ऊँचे होते हैं। यहाँ **'वि'** का अर्थ विगत है। एवं, वितस्ता का शब्दार्थ विस्तृत व क्षयरहित है।

आर्जीकीया (क) **ऋजीकप्रभवा आर्जीका, आर्जीका एव आर्जीकीया। ऋजीक** उत्पत्ति-स्थान। सब नाड़ियों का उत्पत्ति-स्थान नाभिकन्द है। उस नाभिकन्द से इड़ा की उत्पत्ति होने से उसे आर्जीकीया कहा गया है। (ख) अथवा यह इड़ा नाड़ी पिंगला की तरह वक्र नहीं, ऋजुगामिनी है। **ऋजु गच्छतीति आर्जिकः आर्जीकः।** ऋ० ६।६५।२३ में आर्जीक बहुवचनान्त प्रयुक्त हुआ है जोकि सब नाड़ियों के लिए है।

इस **'इडा'** को **'विपाट्'** या **'विपाश्'** भी कहते हैं। इसी में अभ्यास करने से योगी का अज्ञान नष्ट हो जाता है—अज्ञान-पाश कट जाते हैं और विज्ञान—विशेष ज्ञान की प्राप्ति होती है। **'विपाटयतीति विपाट्', विगताः पाशोऽनया सा विपाश् अथवा विशेषेण प्राप्नोति ज्ञानमनयेतिविप्राप्-विपाश्।**

सुषोमा-सुषोमा (सुषुम्णा) का अपर नाम **'सिन्धु'** है। इसकी ओर इड़ा, पिंगला आदि कई नाड़ियाँ जाती हैं। इसलिए सुषुम्णा कई नाड़ियों का संगमस्थल है। **'पञ्च नद्यः सरस्वतीमपियन्ति सस्रोतसः'** (यजुः ३४।११) से संकेत मिलता है कि

इस सरस्वती (**सुषुम्णा**) नाड़ी में पाँच अन्य नाड़ियाँ आकर मिलती हैं जिनका समानस्रोत नाभिकन्द है। '**सु**' उपसर्गपूर्वक '**षु**' धातु से '**मन्**' प्रत्यय ='**सुषोमा**' का ही रूपान्तर '**सुषुम्णा**' है। **सिन्धु—स्यन्दते नद्य एनमिति सिन्धुः**, 'स्यन्द' के संप्रसारणरूप 'सिन्द' से 'उ' प्रत्यय (उणादि० १।११)। इसकी ओर कई नाड़ियाँ बहती हैं, अतः यह सिन्धु कहलाती है।

एवं पौराणिक विद्वानों द्वारा गंगा आदि तीर्थों का अन्यथाभाव से माहात्म्य बखान किये जाने तथा पाश्चात्यों द्वारा वेदमन्त्रों के आधार पर आर्यों के आव्रजन की कल्पना किये जाने का कारण वेदार्थ प्रक्रिया से अनभिज्ञ होने से मन्त्रों के गूढार्थ को न समझना है।

यदि गंगा आदि शब्दों को नदियों का वाचक मान लिया जाये तो भी इनसे वेदों में इतिहास सिद्ध नहीं होता। नदियों का वर्णन एक नैसर्गिक स्थिति है, नदियाँ सर्वत्र समान रूप से बहती हैं, उनकी स्वभाव प्राप्त रचना या गति आदि का उल्लेख किसी इतिहास आदि का द्योतक नहीं है। जैसे आकाशीय सूर्य, चन्द्र, ध्रुव आदि पदार्थों के नाम से खगोल विद्या जानी जाती है, वैसे ही गंगा आदि नामों से भौगोलिक पदार्थों का ग्रहण होता है। वेद में नदी पर्याय जो पद प्रयुक्त हुए हैं, उनका संग्रह निघण्टु में किया गया है जिनकी संख्या ३७ है। वेद में वे शब्द सामान्य जलधारामात्र के लिए प्रयुक्त हैं। सूर्य भी वेद में सामान्य नाम है, अर्थात् किसी गुणविशेष से युक्त ग्रह का बोध कराता है। जो भी उस गुण से विशिष्ट हों वे सब सूर्य हो सकते हैं। सूर्य अनेक हैं, चन्द्रमा भी अनेक हैं, परन्तु लोग यदि उन्हें दिखाई देनेवाले सूर्य को ही सूर्य समझें, अन्य किसी सूर्य के अस्तित्व को स्वीकार न करें तो यह भूल होगी। इसी प्रकार वेद में गंगा, यमुना आदि सामान्य नदियों के नाम हैं। इन नामों का व्यवहार हरेक देश की तत्तद्गुणविशिष्ट नदियों के लिए किया जा सकता है। '**गंगा गमनात्**' निरुक्त की इस निरुक्ति के अनुसार भूगोल में सबसे अधिक दूरी तक बहनेवाली नदी को भूगोलभर की गंगा कह सकते हैं। वेद के सामान्य नामों का क्षेत्र पृथिवी तक ही सीमित नहीं है। '**प्र सप्त त्रेधा हि चक्रमुः**'(ऋ० १०।७५।१) के अनुसार तो नदियाँ सात-सात बनकर तीनों स्थानों, अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः में प्रक्रमण करती हैं। पृथिवी पर तो नामों से निर्दिष्ट नदियाँ प्रत्यक्ष हैं, परन्तु अन्तरिक्ष और द्युलोक में किसका क्या नाम है, इस बात को पुराने वैदिक विद्वान् ही जानते होंगे।

जो वेदों को नित्य अथवा सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत मानते हैं, उनकी मान्यता है कि लोक में व्यवहार के लिए सर्वप्रथम नाम पद वेद से लिये गये हैं (मनु० १।२१)। उस अवस्था में यह सम्भव माना जा सकता है कि जिन ऋषियों के पास वेद थे, उन्होंने पदार्थों, व्यक्तियों आदि के नाम वेद के अनुसार रख लिये। ये नाम लोक से वेद में आये या वेद से लोक में। पहली बात मानने में यह बाधा है कि

हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं जिससे यह निश्चय किया जा सके कि वेद से पहले इन नदियों के ये नाम व्यवहार में आते थे और तब वहाँ से इन्हें वेद में लिया गया। आर्यों से पहले जब इन नदी प्रदेशों में मानव का निवास ही नहीं था तब उस काल में वेद में उपलब्ध इन नदी नामों के व्यवहार का प्रश्न ही नहीं उठता। जो विद्वान् ऐसा नहीं मानते और आर्यों का यहाँ बाहर कहीं से आकर बसना मानते हैं, वे भी यह सिद्ध करने में असमर्थ हैं कि उनके आने से पहले इस प्रदेश की नदियों के यही नाम थे। वेदों से पहले उस प्रदेश में प्रवहमान नदियों के इन नामों का लोकव्यवहार में अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इसलिए यही मानना तर्कसंगत है कि लोक से वेद में नहीं, अपितु वेद से लोक में ये नाम आये हैं। हो सकता है, कालान्तर में अन्य देशस्थ लोगों अथवा वेदज्ञ आर्यों ने भी अपने देश में उक्त गंगा आदि नाम रक्खे हों, किन्तु कालान्तर में वे नाम लुप्त हो गये हों और उनकी जगह नये नाम बोले जाने लगे हों। भारत में भी शुतुद्रि, विपाट्, वितस्ता आदि नामों के स्थान पर सतलुज, व्यास, जेहलम आदि नाम प्रचलित हो गये हैं। पुराने नाम साहित्य में पड़े रह गये हैं। अन्य देशों में भी यत्र-तत्र उनके अपभ्रंश उपलब्ध हो सकते हैं।

डा० सम्पूर्णानन्द ने अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए प्रमाणरूप में वेदमन्त्रों को बहुशः उद्धृत किया है। उस सन्दर्भ में उनके द्वारा प्रस्तुत दो मन्त्र, उनका अनुवाद और उसके आधार पर निकाले गये उनके निष्कर्ष विवेच्य हैं—

१. यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।
योऽन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः ॥ऋ० २।१२।२

अर्थ—हे लोगो! इन्द्र वह है जिसने हिलती-डुलती (व्यथित) पृथिवी को दृढ़ किया; जिसने इतस्ततः चंचल (कुपित) पर्वतों को शान्त किया; जिसने विस्तृत अन्तरिक्ष को फैलाया और जिसने आकाश को स्थिर किया।

इसी प्रकार दूसरे मण्डल के १७वें सूक्त का ५वाँ मन्त्र कहता है—

२. स प्राचीनान्पर्वतान् दृंहदोजसा ऽधराचीनमकृणोदपामपः।
अधारयत्पृथिवीं विश्वधायसमस्तभ्नान्मायया द्यामवस्रसः ॥

अर्थ—उसने इधर-उधर चलनेवाले प्राचीन पर्वतों को अपने बल से दृढ़ किया, बादलों के जल को नीचे गिराया, विश्वधारिणी पृथिवी को स्थिर किया और द्युलोक व आकाश का स्तम्भन किया।

इन मन्त्रों के आधार पर सम्पूर्णानन्दजी का कथन है कि वेद में प्रत्यक्षतः उस काल की स्मृति है जब हिमालय आदि पर्वत भूगर्भ के ऊपर उठ रहे थे, भूकम्प बराबर आते थे, ज्वालामुखी का विस्फोट होता था। भूगर्भशास्त्र के अनुसार उस समय पृथिवी पर ये सब परिवर्तन हो रहे थे।—आर्यों का आदिदेश, पृ० ४५

इस तर्कपद्धति के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि वेद में उस

समय की स्मृति है जब अन्तरिक्ष फैला नहीं था, आकाश स्थिर नहीं हुआ था, वृष्टि नहीं होती थी, आदि। पर ऐसी बातें नितान्त हास्यास्पद होंगी। वस्तुतः इन मन्त्रों में भूगर्भ से पर्वतों के उठने का वर्णन तो है ही नहीं; भूकम्प, ज्वालामुखी, बिजली कड़कने आदि का अवश्य है। यह सब तो आज भी देखा जा सकता है। कुपित पर्वतों को शान्त करने का अर्थ ज्वालामुखी का उद्गार बन्द करना हो सकता है। उसे नये पहाड़ के निकलने का सूचक नहीं माना जा सकता। दूसरे मन्त्र में आये '**प्राचीनान् पर्वतान्**' का अर्थ सम्पूर्णानन्द जी 'पुराने पर्वतों को' दृढ़ करना मानते हैं। प्राचीन पर्वतों को दृढ़ करने का तात्पर्य है कि वे समय का आघात सहकर भी टिके हुए हैं।

उपर्युक्त मन्त्रों का वेद-वेदांगसम्मत अर्थ इस प्रकार है—

१. हे विद्वान् पुरुषो! जो चलायमान अतिविरल तथा तरल पदार्थों से बनी, भूकम्पों से कांपती हुई पृथिवी को दृढ़ करता है और जो खूब भड़कते हुए, आग उगलते हुए पर्वतों को रम्य बनाता है या सूर्य जिस प्रकार मेघों को छिन्न-भिन्न करता है, उसी प्रकार जो अग्निमय पर्वतों को शमन करता है और जो इतने बड़े अन्तरिक्ष को बनाता है, जो सूर्य आदि लोकों से मण्डित आकाश को थाम रहा है, वह ईश्वर ही परमैश्वर्यवान् होने से इन्द्र कहाता है।

२. जिस प्रकार सूर्य इधर-उधर दूर तक फैले मेघों को अपने तेज से और वायु अपने वेग से कठिन और स्थूल रूप प्रदान कर बढ़ाता है, उसी प्रकार परमेश्वर समस्त जीवों का पालन-पोषण करनेवाले तत्त्वों—अग्नि, वायु, जल आदि पदार्थों को अपने सामर्थ्य से दृढ़ करता, उनको विरल भाव से घनीभूत करके अनेकविध स्थूल व कठिन रूप प्रदान करता है…।

इन दोनों मन्त्रों की देवता (प्रतिपाद्य विषय) इन्द्र है। मन्त्रों में परमेश्वर के विविध सामर्थ्य का अनेकविध वर्णन किया गया है। इन मन्त्रों का न सप्तसिन्धु से कोई सम्बन्ध है और न आर्यों के आदि देश से।

जलधारारूप नदियाँ किसी भूखण्ड पर ही बहती हैं। इन्द्र (सूर्य या विद्युत्) वृत्र (मेघ) को मारकर नदियों को बहाता है। इन्द्र, सूर्य या सूर्यरश्मि हो, वायु या विद्युत् हो, वृत्र निश्चित रूप से मेघ है। प्राकृतिक व्यवस्था के अनुसार इनका पारस्परिक सहयोग या संघर्ष ही वर्षा का हेतु है, वही भूमण्डल पर नदी रूप में प्रवाहित होता है। तब, भूमण्डल पर वह कौन-सा प्रदेश हो सकता है, इसी बात का निश्चय करने के लिए विद्वानों ने 'सप्तसिन्धव' की कल्पना की होगी। यह भी सम्भव है कि उस समय अथवा उसके अनन्तर भी प्रदेश का यह नाम न रहा हो; पर ऐसा प्रदेश अवश्य रहा है जहाँ ये सात नदियाँ बहती हों।

सप्तसिन्धु और पारसी साहित्य—भारतीय साहित्य में प्रदेशविशेष के वाचक-रूप में 'सप्तसिन्धव' नाम भले ही न मिले, प्राचीन पारसी साहित्य में इसका

उल्लेख मिलता है। पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता की पहली पुस्तक 'वेन्दीदाद' के प्रथम फ़र्गर्द (अध्याय) की उन्नीसवीं गाथा में आया है—"जिस पन्द्रहवें अच्छे देश को मैंने उत्पन्न किया वह 'हप्तहिन्दु' (सप्तसिन्धु) था।" अवेस्ता के इस अध्याय में अनेक विशिष्ट नाम आये हैं। आर्यों की वह शाखा किन्हीं कारणवश अपने मूल निवासस्थान से निकलकर जहाँ-तहाँ गई और जहाँ-जहाँ भी गई वहाँ-वहाँ कुछ काल ठहरकर फिर अन्यत्र चली गई। इसी तरह, न जाने कितने समय तक इधर-उधर भटकती रही। अवेस्ता के इस अध्याय में इन्हीं सब बातों का उल्लेख हुआ है। डा० सम्पूर्णानन्द ने अपनी पुस्तक 'आर्यों का आदिदेश' में पृष्ठ ३२ पर लिखा है—"पारसियों के धर्मग्रन्थों से कुछ लोग ऐसा संकेत निकालते हैं कि अहुरमज्द (ईश्वर) ने पहली मानव सृष्टि बाह्लीक प्रदेश में की। यह बैक्ट्रिया प्रान्त 'बक्षु' नदी के तट का प्रदेश है।" अवेस्ता में इस प्रसंग का उल्लेख प्रस्तुत अध्याय की तीसरी गाथा में इस प्रकार किया है—"मैं अहुरमज्द ने जिन अच्छे देशों की सृष्टि की, उनमें सर्वप्रथम 'ऐर्य्यन वेइजो' है जो शुभ नदी 'दैत्य' के किनारे है।" डाक्टर महोदय ने 'दैत्य' नदी नाम पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—"यह वही नदी है जिसका नाम पहले 'बक्षु' दिया है। पर सृष्टि के सर्वप्रथम देश का नाम बाह्लीक न देकर 'ऐर्य्यन वेइजो' दिया गया है। सम्पूर्णानन्द जी ने 'ऐर्य्यन वेइजो' का रूपान्तर 'आर्यों का बीज' बताया है।

आचार्य उदयवीर शास्त्री के अनुसार विवेच्य देश का नाम ऐर्य्यन वेइजो' न होकर 'एर्य्य नवेइजो' होना चाहिए। सम्भवतः इसका मूल रूप 'आर्य निवास' रहा होगा। कालान्तर में उसी का उच्चारण विकार से उक्त रूप हो गया। हो सकता है, वही कास्पियन सागर के पश्चिम की ओर बाकू के साथ लगा 'अज़रवेजान' हो जो कालान्तर में अवेस्ता के उक्त नाम का अपभ्रंश हो। पर बक्षु नदी कास्पियन से पूर्व की ओर है। तब, अवेस्ता की तीसरी गाथा में सर्वप्रथम सृष्टि के बाह्लीक में होने के साथ ऐर्य्यन वेइजो का सामंजस्य कैसे होगा ? इस समस्या का समाधान अपेक्षित है।

सम्पूर्णानन्द जी ने सप्तसिन्धु को आर्यों का आदिदेश माना है जो अवेस्ता के उपर्युक्त लेख से मेल नहीं खाता। इसका समाधान करते हुए उन्होंने लिखा है कि जब वेदों के अनुसार आर्यों का मूल स्थान सप्तसिन्धव प्रतीत होता है तो अवेस्ता की गाथा के सन्दिग्ध अर्थ के आधार पर निर्णय नहीं हो सकता (पृ० ३३)। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन विद्वानों ने अवेस्ता की इस गाथा पर विचार किया है, उन्होंने गाथा के इस लेख को समस्त मूल आर्यजाति से सम्बन्धित मान लिया है। वस्तुतः अवेस्ता ग्रन्थ आर्यों की उसी शाखा से सम्बन्धित है जो वैदिक आर्यों से छिटककर पहले-पहल उस प्रदेश में जाकर बसी। उन्हीं ने उसका नाम आर्य निवास (या उससे मिलता-जुलता अवेस्ता में उल्लिखित नाम) रक्खा। इसी

कारण यह उनके निवास का प्रथम स्थान या देश कहा गया। कुछ समय बाद सर्पों की बहुतायत और शीताधिक्य के कारण उन्हें वहाँ से भी जाना पड़ा। अवेस्ता की मूल गाथा में सर्प का नहीं, सर्प के पर्याय **'अहि'** पद का प्रयोग हुआ है। वेद में **अहि** पद वृत्र के लिए आया है और वृत्र व मेघ एकार्थवाची हैं। इसलिए अधिक **अहि** उत्पन्न होने का अर्थ अधिक वर्षा होना है और अधिक वर्षा होने से शीताधिक्य हो जाना है।

भारतीय मत

विकासवाद के प्रसंग में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि संसार में जितने प्राणी हैं, वे अनादि काल से अपने वर्त्तमान रूप में हैं। भौगोलिक विभाग शास्त्र के अनुसार द्वीप-द्वीपान्तर में बसे प्राणी, जो शारीकि भेद के साथ अलग-अलग प्रतीत होते हैं, कभी एक भूमिभाग से जुड़े रहने के कारण एक ही माता-पिता से उत्पन्न हुए थे—आस्ट्रेलिया का दीर्घकाय घोड़ा और नेपाल का छोटा टट्टू एक ही पूर्वज की सन्तान हैं। रूपवैचित्र्य भले ही हो, पर एक जाति दो भिन्न मार्गों से विकसित होकर एक रूप में नहीं आई। यह कभी नहीं हुआ कि बंगाल के मोर, ऊँट, हाथी, चीता, कौवा और साँप होते हुए विकसित हुए हों और गुजरात के मोर, चींटी, नेवला, लोमड़ी, बिल्ली से गिरगिट होते हुए मोर बने हों और अब दोनों देशों के मोरों में परस्पर यौन सम्बन्ध होने से उनके सन्तान होने लगी हो। अलग-अलग कई वंशों से किसी प्राणी का विकास नहीं हुआ, प्रत्युत सब एक ही पितामह की सन्तान हैं। जो हाल अन्य प्राणियों का है, वही मनुष्य का भी समझना चाहिए।

बिना बीज के जड़ और निर्जीव रेत से वृक्षों के अंकुर नहीं फूटते। बीज भी आप-ही-आप नहीं निकलता, किन्तु खोज करके लाया जाता है और अनुकूल स्थान में बोया जाता है—जहाँ का जलवायु पौधे के अनुकूल होता है, उसका खाद्य बहुतायत से मिलता है और जहाँ आँधी-ओले से उसे सुरक्षित रक्खा जा सकता है। माली पहले एक क्यारी में पौद तैयार करता है। फिर वहाँ से पौधे ले-लेकर यथा-स्थान सारी फुलवारी में रोपता है और आवश्यकतानुसार बाहर भी भेजता है। तात्पर्य यह कि बीज सर्वत्र पैदा नहीं होता, एक ही स्थान से सर्वत्र फैलता है। इसी बीज-क्षेत्र न्याय के अनुसार मनुष्य भी पहले किसी एक ही स्थान पर पैदा हुआ और फिर संसारभर में फैल गया। प्रारम्भ में मनुष्य भी किसी ऐसे स्थान पर पैदा हुआ होगा जहाँ का जलवायु उसके अनुकूल हो, खाद्य सामग्री सुलभ हो और जहाँ वह अधिक-से-अधिक सुरक्षित रह सके। मनुष्य ही नहीं, पशु, पक्षी, वनस्पति आदि के लिए भी ऐसा ही स्थान उपयुक्त होगा। इस प्रकार आदि सृष्टि के लिए स्थान वह उपयुक्त होगा—

(१) जो संसार में सबसे ऊँचा हो, (२) जहाँ सर्दी और गर्मी जुड़ती हों,

(३) जहाँ मनुष्य के खाद्य फल वनस्पति प्रचुरता से उपलब्ध हों, (४) जिसके आसपास सब रूप-रंगों के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण हो और (५) जिसका नाम सबके स्मरण का विषय हो।

ये सभी लक्षण हिमालय पर घटते हैं—

(१) हिमालय निर्विवादरूप से सबसे ऊँचा है। कहते हैं कि पहले सम्पूर्ण पृथिवी जलमग्न थी। उस जल से सबसे पहले वही भूमि निकली, उसी में वनस्पति उत्पन्न हुई और उसी पर सबसे पहले मनुष्यादि प्राणियों की सृष्टि हुई।

(२) संसार में ऋतुएँ चाहे कितनी कही जाएँ, पर सरदी और गरमी दो उनमें मुख्य हैं। यही कारण है कि समस्त भूमण्डल में सर्द और गर्म दो ही प्रकार के देश कहे जाते हैं। कुछ प्रदेश दोनों के मिश्रण से बने पाये जाते हैं, तो भी दो में से एक की प्रधानता रहती है। कश्मीर, नेपाल, भूटान और तिब्बत आदि देश बसे हुए हैं। इनके निवासी कहते हैं कि वहीं सर्दी और गर्मी मिलती हैं। इसलिए मानव सृष्टि के लिए हिमालय ही सर्वाधिक उपयुक्त स्थान ठहरता है। वैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य के आदि युग में मानसरोवर के आसपास का क्षेत्र शीतोष्ण जलवायु से युक्त था। भारतीय साहित्य में भी इसका उल्लेख मिलता है।

(३) मनुष्य का स्वाभाविक प्रधान खाद्य दूध और फल हैं—**पयः पशूनां रसमोषधीनाम्**। दूध पशुओं से और फल वृक्षों से मिलते हैं। जब मनुष्य दूध और फल के बिना और पशु वनस्पति के बिना नहीं रह सकते तो मनुष्य ऐसे देश में उत्पन्न नहीं हो सकता जहाँ ये पदार्थ उपलब्ध न हों। विकासवाद के अनुसार भी वह ऐसे स्थान में पैदा नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य से पहले वहाँ बन्दर होना चाहिए और बन्दर निश्चित रूप से फलाहारी है। हिमालय ऐसा स्थान है जहाँ मनुष्य के लिए अपेक्षित समस्त पदार्थ सहज उपलब्ध हैं।

कतिपय विद्वानों ने ध्रुव प्रदेश को मनुष्यजाति का उत्पत्ति-स्थान माना है। बहुत दिन हुए, वार्न साहब ने 'Paradise Found or the Cradle of Human Race at the North Pole' नाम की एक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने आदि मानव सृष्टि का उत्पत्ति-स्थान उत्तरी ध्रुव प्रदेश बताया था। इसी पुस्तक के आधार पर लोकमान्य तिलक ने 'Arctic Home in the Vedas' लिखी जिसमें उन्होंने ध्रुव प्रदेश को ही आर्यों का मूल निवास-स्थान सिद्ध किया था, परन्तु जब डॉ० काला ने बताया कि तीन लाख वर्ष में पृथिवी की केन्द्रच्युति तीन बार हुई है और उत्तर ध्रुव प्रदेश में तीन बार हिमपात का तूफ़ान भी आया है तब से यह माना जाने लगा है कि ऐसे स्थान में मनुष्य जाति की आदि सृष्टि नहीं हो सकती। ध्रुव प्रदेश में वनस्पति भी नहीं होती। मनुष्य की खाल पर ध्रुवीय पशुओं के समान लम्बे बाल भी नहीं होते। इसके विपरीत पसीना निकलनेवाले छोटे-छोटे रोम होते हैं। इसलिए वह अति शीत प्रदेश में रहनेवाला प्राणी नहीं है। पूना के

पावगी साहब ने यह भी अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि ध्रुव प्रदेश में मनुष्य सम्बन्धी जो चिह्न पाये गये हैं, उनसे पता चलता है कि वहाँ मनुष्य तब पहुँचा है जब अन्यत्र रहते हुए वह काफी उन्नति कर चुका था। इन सब तथ्यों के होते हुए उत्तर ध्रुव में आदिकाल में मनुष्योत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती।

(४) मूल स्थान के पास ऐसी विस्तृत भूमि होनी चाहिए जहाँ सब रंग-रूपों के विकास की स्थिति हो और जहाँ रहकर मनुष्य संसार भर में रहने की योग्यता प्राप्त करके पृथिवी में सर्वत्र फैल सके। हिमालय के साथ लगता भारत ऐसा देश है जहाँ सब छहों ऋतुएँ वर्त्तमान रहती हैं। इस सर्वगुणसम्पन्न देश में सब रंग-रूप के आदमी निवास करते हैं। ऐसे देश के सामीप्य के कारण भी यही प्रतीत होता है कि हिमालय पर ही मनुष्यों की आदि सृष्टि हुई।

(५) सभी देशों में बसनेवाले लोगों को किसी-न-किसी रूप में हिमालय की स्मृति बनी हुई है। भारतीय आर्यों को हिमालय से और ईरानी आर्यों को भारत से आने की स्मृति आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। चरकसंहिता के प्रमाण से सिद्ध है कि आर्य लोग हिमालय से ही भारत में आये थे और बीमार होकर एक बार फिर अपने मूल निवास हिमालय को लौट गये थे। इतना ही नहीं, कुछ समय बाद उनके फिर लौटकर भारत में बसने का भी उल्लेख मिलता है। चरकसंहिता (चिकित्सास्थान ४।३) में लिखा है—

> **ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः साम्पन्निका मन्दचेष्टाश्च नातिकल्याश्च प्रायेण बभूवुः। ते सर्वासमितिकर्त्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतमात्मदोषं मत्वा पूर्वनिवासमपगतग्राम्यदोषं शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यमसुकृतिभिर्गङ्गाप्रभवममरगन्धर्वकिन्नरानुचरितमनेकरत्ननिचयमचिन्त्याद्भुतप्रभवं ब्रह्मर्षिसिद्धचरणानुचरितं दिव्यतीर्थौषधिप्रभवमतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपतिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोऽत्रिवशिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः॥**

बहुत दिन तक आर्यलोग हिमालय पर रहे। फिर उन्होंने हिमालय से उतरकर भूमि तलाश की। जिस रास्ते से वे आये उस रास्ते का नाम उन्होंने हरद्वार रक्खा। यहाँ आकर वे कुछ दिन तो रहे, पर जलवायु, खानपान आदि के दोष से बीमार होकर फिर अपने मूल निवास हिमालय को लौट गये। परन्तु कुछ काल पश्चात् वे फिर वहाँ आये। अबकी बार उन्होंने यहाँ के जंगलों को काटकर देश को बसने योग्य बनाया और हरद्वार, कुरुक्षेत्र और सरस्वती नदी से लेकर सदानीरा तक जंगलों को जलाकर वहाँ बस गये और इस आबाद क्षेत्र का नाम

आर्यावर्त्त रक्खा।[1]

मैक्समूलर का कहना है कि ईरानियों के पूर्वज ईरान पहुँचने से पहले भारत में बसे थे और यहाँ से ईरान गये थे।[2] इसका एक कारण अवेस्ता में कतिपय ऐसे शब्दों का पाया जाना है जो संस्कृत में नहीं मिलते, पर ईरान से आगे की भाषाओं में मिलते हैं। व्याख्या सहित उन शब्दों की सूची भी मैक्समूलर ने दी है।[3] ईरान में पढ़ाई जानेवाली पुस्तकों से भी आर्यों के ईरान में जाकर बसने की पुष्टि होती है। वहाँ लिखा है—कुछ हज़ार साल पहले आर्य लोग हिमालय से[4] उतरकर आये और यहाँ का जलवायु अनुकूल जानकर यहाँ बस गये। ईरान के बादशाह सदा अपने नाम के साथ 'आर्यमेहर' की उपाधि लगाते रहे हैं। फ़ारसी में 'मेहर' सूर्य को कहते हैं। ईरान के लोग अपने को सूर्यवंशी आर्य मानते रहे हैं।

ईरानी साहित्य तथा पुराणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि असुरों और उनकी भाषा का मूल भारत ही था। स्वयं अवेस्ता में त्वष्टा के वंशजों को 'आर्यव्रज' (आर्यावर्त्त=आर्यनवेजो—Airyana Vaejo=आर्यनिवास) से पलायन का उल्लेख मिलता है कि किस प्रकार देवों के भय से ईरानी १६ देशों में मारे-मारे फिरते रहे। सर्वप्रथम उनका निवास आर्यावर्त्त=आर्यवीजो=आर्यनवेजो ही में था। यहीं से उन्होंने अन्य देशों को प्रस्थान किया। अनेक जातियाँ हिमालय के दूसरे नाम 'मेरु' का स्मरण भिन्न-भिन्न नामों से करती हैं—भारतीय आर्य 'मेरु' ज़ेन्दभाषावाले 'मौरु', यूनानवाले 'मेरोस', दक्षिण तुर्किस्तानवाले 'मेरुव',

---

१. **तर्हि विदेघो माथवऽआस। सरस्वत्यां स तत एव प्राङ् दहन्नभीयायेमां पृथिवीं तं गोतमश्च राहूगणो विदेघश्च माथवः पश्चाद्दहन्तमन्वीयतुः। स इमाः सर्वा नदीरतिददाह, सादनीरेत्युत्तराद् गिरेर्निर्धावति तां हैव नातिदाह तां ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्त्यनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरेणेति।**
—शतपथ १।४।१।१४

२. Chips from a German Workshop, 1967, P. 85-86.

३. Maxmueller : Selected Esays on Language, Mythology and Religion, 1881, P. 227-78.

४. चन्द हज़ार साल पेश ज़माना माज़ीरा बजुर्गी अज़ निज़ाद आर्या अज़ कोह-हाय कफ़ काज़ गुज़िश्तः वर सर ज़मीने कि इमरोज़ मस्कने मास्त क़दम निहादन्द। ब चूं आबो हवाय ई सर ज़मीरा मुआफ़िक़ तब' अ खुद याफ्तन्द दरीं जा मस्कने गुज़ीदन्न ब आंरा बनाम खेश ईरान खयादन्द।—देखो—जुग़राफ़िया पंज क़ितअ बनाम तदरीस दरसल पंजुम इब्तदाई, सफ़ा ७८; कालम १, मतब अ दरसनहि तिहरान, सन् हिजरी १३०६, सीन अव्वल व चहारम अज़ तर्फ़ विज़ारत मुआरिफ़ व शरशुदः।

मिस्रवाले 'मेरई' और असीरियावाले 'मोरुव' कहते हैं।

(५) हिमालय पर प्राणियों के शरीरांश बहुतायत से पाये जाते हैं। पृथिवी पर ऐसा कोई स्थान नहीं है जो हिमालय स्थित प्राणियों के शेषांगों से अधिक पुराने चिह्न दे सके। इससे प्रमाणित होता है कि हिमालय पर मनुष्य से पहले उत्पन्न होनेवाले और उसके जीवन के आधार वृक्ष और गौ आदि पशु पूर्वातिपूर्व काल में उत्पन्न हो गये थे। अतएव हिमालय आदि सृष्टि उत्पन्न करने की पूर्ण योग्यता रखता है। भारत के प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद अविनाशचन्द्र दास ने ऋग्वैदिक इण्डिया में लिखा है—"आर्यों का आदिदेश कश्मीर ही है।"[1] एक बहुत बड़े शिक्षाशास्त्री की साक्षी से टेलर ने लिखा है—"मनुष्यजाति की जन्मभूमि स्वर्गतुल्य कश्मीर ही है।"[2] आर्यों के विशुद्ध रूप-रंग के लोग कश्मीर में आज भी बसते हैं। आदि मनुष्य और आर्य एक ही हैं। इसलिए बलपूर्वक कहा जा सकता है कि आदि सृष्टि हिमालय पर हुई। नाना पावगी ने अपने खोजपूर्ण ग्रन्थ 'आर्यावर्त्तांतील आर्यांची जन्मभूमि' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि हिमालय ही हमारे देवताओं का आदि-कालिक जन्मस्थान है।[3] इसी प्रकार दास बाबू ने लिखा है कि "वेदों में जो उत्तर की ओर के नक्षत्रों का वर्णन है, उससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों ने उन्हें कश्मीर और हिमालय के ऊँचे पहाड़ों से ही देखा था।"[4]

आर्यों के आदिदेश के रूप में सप्तसिन्धव की कल्पना करनेवाले विद्वानों ने सरस्वती की घाटी से लेकर सिन्धु तक के प्रदेश को तथा उससे भी पर्याप्त पश्चिम

---

१. That this mountaneous Country (Kashmere) and the plains of Saptasindhu were the Cradle of Aryan race.
—Rigvedic India, P. 155

२. Adelung, the father of comparative philology, placed the cradle of mankind in the valley of Kashmere which he identified with paradise.
—Tailors Origin of the Aryans, P. 9

३. या प्रमाणें सदरीं नमूद केलेल्या सर्वप्रमाणांवरून, हा हिमाचल आमच्या देवादिकांचीही जन्मभूमि होऊन राहिला आहे, असें वाचकांच्या लक्ष्यांत सहजी येईल।—आ० आ० जन्मभूमि, पृ० २७२।

४. On the other hand, if it refers to the constellation of 'Ursha Major' which is most prominent in the northern parts of India and particularly in the high table-land north of Kashmere and the peaks of Himalaya from which the Vedic bardmay have made his observations, it is not unnatural for him to describe it as placed high above the horizon.
—Rigvedic India, P. 376

तक के प्रदेश को आदिदेश बताया है, पर इसमें भी सात नदियों के भाग को मुख्य मानकर विचार करें तो सरस्वती से सिन्धु तक के प्रदेश में आर्यों की बस्तियाँ रही होंगी, ऐसा मानना होगा। जब पानी बरसता है तो वह नदियों में बहता ही है। कहीं भी देखकर सामान्य रूप से सब जगह बहने का कथन किया जा सकता है। तब, जैसा कि सम्पूर्णानन्द जी कहते हैं, किसी एक स्थान पर रहते हुए व्यक्ति के लिए आकाश से मूसलाधार बरसते पानी का 'सात' नदियों में बहना दृग्विषय कैसे हो सकता है? या तो उस प्रदेश में जितनी नदियाँ थीं, सबको ठीक-ठीक गिनकर उतनी संख्या का निर्देश किया जाना चाहिए था अथवा सामान्य रूप से कहने पर संख्या का निर्देश अनपेक्षित था। विशिष्ट संख्या का निर्देश ऐसे स्थान का निर्देश करता है जहाँ सात नदियाँ एक-दूसरे के आसपास बहती हों। तभी बादलों का गरजना, बिजली का कड़कना और बरसते जल का सप्तसिन्धुओं (सात नदियों) में बहना किसी का दृग्विषय हो सकता है। ऐसा स्थान कहाँ है? सरस्वती से सिन्धु तक फैले प्रदेश का—जिसमें पंजाब व कश्मीर सम्मिलित हैं—उससे सामंजस्य नहीं हो सकता।

हिमालय नाम से अभिहित भूभाग पर्याप्त विस्तृत है। इसमें आर्यों अथवा मानव का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव कहाँ हुआ; इसका निश्चय करना आसान नहीं। इतने समस्त विस्तृत प्रदेश में मानव का प्रादुर्भाव होना सम्भव नहीं लगता। वेद के आधार पर सप्तसिन्धव की कल्पना इसी भावना से की जाती है कि वह आर्यों का सर्वप्रथम निवासस्थान है। यदि यह कहा जाय कि वेदों का वर्णन उस समय का है, जब आर्य इतने विस्तृत प्रदेश में फैल गये थे, तब इतने प्रदेश को आदिदेश नहीं कहा जा सकता। आदिदेश उसी को कहना ठीक होगा, जहाँ सर्वप्रथम आर्यमानव का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रदेश का विस्तार अपेक्षाकृत काफ़ी छोटा होना चाहिए।

सर्वप्रथम जिस देश में आर्यजन अथवा मानव का प्रादुर्भाव हुआ या जिसे उनका मूल अभिजन कहना चाहिए, प्राचीन भारतीय साहित्य में उसका नाम 'देवलोक' बताया है। 'उत्तरो वै देवलोकः···उत्तरयैव देवलोकमवरुन्धे' (शतपथ १२।६।३।७)—उत्तर ही देवलोक है, उत्तर दिशा में ही देवलोक को सीमित करता हूँ। यह उत्तर दिग्विभाग का वही प्रदेश है जहाँ कैलास मानसरोवर के आसपास सात नदियों का उद्गम स्थान है। वाल्मीकि रामायण (बालकाण्ड ४३।११-१४) तथा महाभारत में कई स्थलों पर बिन्दुसर का तथा उससे निकलने वाली सात नदियों का उल्लेख हुआ है। मानसरोवर का ही पूर्व अथवा अपर नाम बिन्दुसर प्रतीत होता है, परन्तु इस प्रदेश का सप्तसिन्धु नाम कभी नहीं रहा। जब हम वर्त्तमान हिमालय के विस्तृत मध्य भाग पर दृष्टि डालते हैं तो हमें छोटी सीमाओं में ही एक प्रदेश दिखाई देता है जहाँ सात बड़ी नदियाँ अधिक-से-अधिक समीप हैं। उत्तर भारत की सात बड़ी नदियों का उद्गम हिमालय के एक थोड़े-से

भाग में सीमित है। वे सात नदियाँ हैं—सिन्धु, सतलुज, सरस्वती, गंगा, यमुना, शारदा (पर्वतीय भीतरी भागों में 'काली' नाम से प्रसिद्ध) और ब्रह्मपुत्र। इन नदियों के उद्गम स्थानों की अधिक-से-अधिक दूरी वर्त्तमान काल में लगभग १५० मील के भीतर सीमित है। यदि सिन्धु से लगाकर ब्रह्मपुत्र तक प्रत्येक नदी के उद्गम स्थान को छूते हुए एक रेखा खींची जाये तो उसकी आकृति घोड़े के नाल जैसी-सी बन जायेगी। प्राचीनतम काल में वहाँ छोटा-सा समुद्र अथवा पर्याप्त बड़ा सर रहा होगा। भारतीय साहित्य में उसी का नाम बिन्दुसर या ब्रह्मसर मिलता है। वर्त्तमान में यही प्रदेश मानसरोवर और उसके आसपास का क्षेत्र है। हिमालय के उतने प्रदेश में उत्तर भारत की सात बड़ी नदियों के उद्गम स्थान हैं जिनका जल पूर्वी और पश्चिमी समुद्र में जाकर गिरता है। अब भले ही वहाँ ऐसी बड़ी झील न हो जिसे हम ऊपर से देख सकें। परन्तु उस प्रदेश की धरती में अनन्त जलराशि के भण्डार हैं जिससे उक्त नदियों के स्रोत सूख नहीं पाते।

अनन्तर काल में भौगोलिक उथल-पुथल के कारण उस प्रदेश की परिस्थिति में बड़ा भारी अन्तर आया। सरस्वती के प्रवाह की दिशा बदल गई और कुछ दूर चलकर वह गंगा में विलीन हो गई। इस प्रकार कैलास मानसरोवर के आसपास के क्षेत्र में ही मानवजाति का प्रादुर्भाव हुआ। वही आर्यों का मूल अभिजन था। कालान्तर में वहीं से आर्यजन बढ़ते-बढ़ते हिमालय की निम्न पर्वतश्रेणियों के पश्चिमी और दक्षिणी मैदान प्रदेश में आ गये। तब उन प्रदेशों के आर्यावर्त्त एवं भारतवर्ष आदि नाम प्रचलित हुए। प्राचीनकाल में ही कभी आर्यावर्त्त के अवान्तर प्रदेश ब्रह्मावर्त्त, ब्रह्मर्षि देश आदि नामों से प्रसिद्ध हुए।[1]

हिमालय से उतरकर आर्य लोग सीधे वर्त्तमान में भारत नाम से अभिहित भूखण्ड में आकर बस गये। जिस रास्ते से वे यहाँ आये उस रास्ते का नाम उन्होंने हरद्वार रक्खा। अपने इस निवासस्थान का नाम उन्होंने आर्यावर्त्त या ब्रह्मावर्त्त रक्खा। मनुस्मृति २।२ में आर्यावर्त्त की सीमाओं का इस प्रकार निर्देश किया गया है—

आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥

अर्थात्—पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र पर्यन्त विद्यमान उत्तर में हिमालय और दक्षिण में स्थित विन्ध्याचल का मध्यवर्त्ती देश है, उसे विद्वान् लोग आर्यावर्त्त कहते हैं। सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में इस श्लोक का निर्देश कर आर्यावर्त्त की सीमाओं का निर्धारण करते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा है—"हिमालय की मध्य रेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के

१. मनुस्मृति २।१७-२२; पातंजल व्याकरण महाभाष्य २।४।१० व ६।३।१०६।

भीतर जितने प्रदेश हैं, उन सबको आर्यावर्त्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्यावर्त्त देश देवों अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त्त कहाया।" आजकल विन्ध्याचल को उत्तर और दक्षिण भारत को पृथक् करनेवाला पर्वत माना जाता है। वास्तव में यह पूर्वी और पश्चिमी घाट नामक पर्वतमाला का नाम है। तभी स्वामी दयानन्द ने 'रामेश्वरपर्यन्त' शब्दों का प्रयोग किया है। इसमें वाल्मीकि रामायण की यह साक्षी है—

हृष्टपक्षिगणाकीर्णः कन्दरान्तरकूटवान्।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चयः॥

—कि० का० ६०।७

अर्थात्—प्रसन्न पक्षियों के झुण्डों से भरपूर और कन्दराओं से परिपूर्ण दक्षिण समुद्र के तट पर यह निश्चित ही विन्ध्याचल है।

इससे स्पष्ट है कि पुरातन काल में विन्ध्याचल उस पर्वतमाला का नाम था जिसे आजकल पूर्वी घाट व पश्चिमी घाट कहते हैं।

वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता (अध्याय ४) में लिखा है—

भारतवर्षे मध्यात्प्रागादि विभाजिताः देशाः।
अथ दक्षिणे न लङ्काकालाजिनसौरिकीर्णतालीकटाः॥

अर्थात्—भारतवर्ष में मध्य से पूर्वादि देशों का विभाग है और दक्षिण में लंका, कालाजिन, सौरिकीर्ण तथा कालीकट देश हैं। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र में भारतवर्ष के विषय में लिखा है—

सहस्रयोजनो बदरिकासेत्वन्तः। द्वारिकादि पुरुषोत्तमसालग्रामान्तः सप्तशत-योजनः। तत्रापि रैवतकविन्ध्यसह्यकुमारमलयश्रीपर्वतपरियात्राः सप्त कुलाचलाः। गंगा सरस्वती कालिन्दी गोदावरी कावेरी ताम्रपर्णी कृतमालाः कुलनद्यश्च॥—७९।८२

अर्थात्—बदरिका से लेकर सेतुबन्ध (रामेश्वर) तक हज़ार योजन है। द्वारिका से लेकर पुरुषोत्तम सालग्राम (पुरी) तक सात सौ योजन है। उसमें रैवतक, विन्ध्य, सह्य, कुमार, मलय, श्रीपर्वत तथा पारियात्र ये सात कुलपर्वत हैं; और गंगा, सरस्वती, कालिन्दी, गोदावरी, कावेरी, ताम्रवर्णी तथा कृतमाला कुल सात नदियाँ हैं। इस पर विचार करने से ज्ञात होता है कि आर्यावर्त्त की सीमा कहाँ तक है। इस प्रकार आर्यावर्त्त और भारत अभिन्न हैं, एक हैं।

मनुस्मृति (२।१७) में ब्रह्मावर्त्त देश की सीमा बताते हुए लिखा है—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते॥

यहाँ सरस्वती और दृषद्वती नदियों को 'देवनदी' कहा है जो इनके देवलोक से निःसृत होने का संकेत करता है। वहीं ब्रह्मावर्त्त प्रदेश को 'देवनिर्मित' कहा

गया है जो इस बात का संकेत कर रहा है कि 'देवलोक' (कैलाश-मानसरोवर) से फैलते-फैलते जो आर्य (देव) यहाँ बस गये थे, उन्हीं के द्वारा यह प्रदेश बसाया गया है। यह उसके प्रति आदर भाव व प्रतिष्ठा का द्योतक है।

ब्रह्मावर्त्त की सीमाओं का निर्धारण करने के लिए सरस्वती और दृषद्वती नदियों की स्थिति के सम्बन्ध में विवेचन आवश्यक है। नन्दूलाल दे ने 'प्राचीन और मध्यकालिक भारत का भौगोलिक कोश' नामक पुस्तक में सरस्वती के विषय में लिखा है—"सरस्वती नदी शिवालक की पहाड़ियों से निकलती और 'आदबद्री' के पास—जिसे हिन्दू पवित्र मानते हैं—समतल भूमि पर प्रवेश करती है। यह नदी छलौर गाँव के पास कुछ दूर तक रेत में अदृश्य हो गई है। भवानीपुर के पास फिर दिखाई देती है। इसी प्रकार बालछप्पर के पास फिर अदृश्य होकर बरखेड़ा में फिर दीखने लगती है और पेहोवा के पास उरनई में मारकण्डा नदी के साथ मिल जाती है। आगे भी इसका नाम सरस्वती रहता है, और अन्त में यह घग्घर में मिल जाती है।"[1]

सरस्वती अपने अविरल प्रवाहकाल में जिस पश्चिमी समुद्र में मिलती थी, उसका उत्तर-पश्चिमी संकीर्ण तट वर्त्तमान राजस्थान के उत्तर-पश्चिमी सीमा-भागों तक रहा, यह भौगोलिक परिस्थितियों से स्पष्ट होता है। उस समय राजस्थान का यह प्रदेश समुद्रजल से आप्लावित था। और अरब सागर से मिला हुआ था। इस समुद्र का उत्तर-पश्चिमी तट वर्त्तमान भूगोल के अनुसार उस स्थान के आसपास था जहाँ बीकानेर, बहावलपुर एवं भटिण्डा आदि की सीमायें आपस में मिलती हैं। सरस्वती तटवर्ती निवासियों के लिए यही पश्चिम समुद्र था, जहाँ सरस्वती समुद्र में मिलती थी। प्राचीन वाङ्मय में इस प्रदेश का 'विनशन' नाम से अनेकत्र उल्लेख हुआ है।[2] महाभारत के वर्णनों से यह निश्चय होता है कि सरस्वती नदी सीधी समुद्र में जाकर मिलती थी।

ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे।—महा० वन० ८०।६३
समुद्रं पश्चिमं गत्वा सरस्वत्यब्धिसंगमम्।
आराधयत देवेशं ततः कान्तिमवाप्स्यसि॥—महा० शल्य० ३६।३३

---

१. The river Saraswati rises in the hills of Sirmoor and emerges into the plains at Ad Badri, deemed sacred by the Hindus. It disappears for a time in the sands near the village Chhallaur and reappears near Bhawanipur. At Balchchapra it again disappears, but rappears at Barkhera. At Urnai near Pehove it is joined by the Markanda, and the united river bearing the name of Saraswati ultimately joins the Ghaggar.

२. ताण्ड्य० २५।१०।१।१६; महा० वन० ८२।१११, ८४।११२; मनु० २।२१।

जब सरस्वती की जलधारा निरन्तर प्रवाहित हो रही थी, उस समय वर्त्तमान राजस्थान का अधिकांश भाग समुद्रजल से आप्लावित था।[१] ऐसी स्थिति में वर्त्तमान राजस्थान के उत्तर-पश्चिमी भाग के समुद्रतट में कहीं सरस्वती आकर मिलती थी जिसका अधोगत पंक्तियों में उल्लेख हुआ है। महाभारत के वर्णनों से स्पष्ट है कि महाभारत युद्ध से बहुत पहले सरस्वती विलीन हो चुकी थी। सरस्वती के नष्ट होने का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (१।४।१।१७) में उपलब्ध है।

सरस्वती के समान दृषद्वती भी आज एक अपरिचित-सी नदी है। अनेक विद्वानों ने इस विषय में अपने विभिन्न विचार प्रकट किये हैं। आजकल भारत की उपलभ्यमान नदियों के नामों में दृषद्वती नाम किसी का नहीं पाया जाता। या तो वह भी सरस्वती की तरह नष्ट हो गई है या उसके किसी दूसरे नाम के अधिक प्रसिद्ध हो जाने से उसका नाम विस्मृत हो गया है, अर्थात् उसका अस्तित्व तो है, किन्तु उसे किसी अपर नाम से जाना जाता है।

नन्दूलाल दे ने घग्घर नदी को दृषद्वती बताया है जो शिमले की पहाड़ियों से निकलकर अम्बाला और सरहिन्द होती हुई राजस्थान की मरुभूमि में अन्तर्हित हो जाती है।[२] परन्तु महाभारत के वर्णनों के अनुसार दृषद्वती नदी सरस्वती से दक्षिण-पूर्व की ओर होनी चाहिए। वहाँ सरस्वती से दक्षिण और दृषद्वती से उत्तर

---

१. अन्य भौगोलिक आधारों के अतिरिक्त इसमें सुपुष्ट प्रमाण यह है कि इस विशाल क्षेत्र में अनेक झीलें ऐसी पाई जाती हैं जिनका जल समुद्र के समान खारी है और जिनसे लाखों मन नमक प्रतिवर्ष तैयार होता है। इनमें सबसे बड़ी झील साँभर है जिसकी अधिक-से-अधिक लम्बाई २० मील और चौड़ाई दो से सात मील तक हो जाती है। पूरी भर जाने पर इसका क्षेत्रफल ९० वर्गमील के लगभग रहता है। केवल इसी झील में प्रतिवर्ष ३५ लाख मन से अधिक नमक तैयार किया जाता है। यह झील कभी के जयपुर और जोधपुर राज्यों की सीमा पर है। इसके अतिरिक्त डीडवाना, पंचभद्रा, छापर, लूणकरनसर और काणोद आदि स्थानों में अनेक छोटी-बड़ी झीलें हैं जिनमें समुद्री जल के भण्डार हैं। इससे प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में यह प्रदेश समुद्री जल से आप्लावित था। कभी आकस्मिक उग्र भौगोलिक परिवर्त्तन से समुद्र उछलकर पीछे हट गया। पर यत्र-तत्र उसका प्रभाव बना रह गया।

२. दृषद्वती—The Ghaggar which flowed through Ambala and Sirhind, now lost in the sands of Rajputana.—Elphinston and Tod quoted in Geographical Dictionary by Nandu Lal De.

की ओर कुरुक्षेत्र में निवास करना स्वर्गसमान बताया है।[१] यह उल्लेख तभी सम्भव है जब सरस्वती से दक्षिण-पूर्व की ओर दृषद्वती की स्थिति मानी जाय। वर्त्तमान घग्घर नदी की स्थिति उक्त सरस्वती से पश्चिम की ओर है। ऐसी स्थिति में घग्घर को दृषद्वती मानना असंगत होगा। मैकडानल और कीथ द्वारा संगृहीत 'वैदिक इण्डेक्स' में बताया गया है कि दृषद्वती कुछ दूर तक सरस्वती के बराबर बहकर उसमें मिल जाती है।[२] परन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि सरस्वती नदी के किस किनारे की ओर अथवा किस दिशा में दृषद्वती बहती थी।

महाभारत में उपलब्ध संकेतों के अनुसार वर्त्तमान गंगा का नाम दृषद्वती था। एक नदी के दो नाम होने में कोई असामंजस्य नहीं है। ऋग्वेद में उल्लिखित आर्जीकीया और विपाट् दोनों नाम विद्वानों ने वर्त्तमान व्यास नदी के माने हैं। कालान्तर में आर्जीकीया नाम तो बिलकुल ही जाता रहा तथा विपाट् (विपाश) का विकृत नाम व्यास आज भी चल रहा है। इसी प्रकार दृषद्वती नाम तो भुला दिया गया और उसका अपर नाम गंगा प्रसिद्धि प्राप्त करता गया। परन्तु जिस अत्यन्त प्राचीनकाल में गंगा का नाम दृषद्वती था, उस समय गंगा का स्रोत ऐसा नहीं था जैसा आज है। तब अवश्य यमुना के आगे गंगा (दृषद्वती) सरस्वती की सहायक नदी रही होगी।

महाभारत (शान्ति पर्व, अध्याय १-५८) में वर्णन है कि युद्ध समाप्त होने पर युधिष्ठिर बन्धुबान्धवों तथा इष्ट मित्रों के नष्ट हो जाने से खिन्न होकर राज्य-पालन के स्थान पर संन्यास लेने को तैयार हो गया, पर अपने भाइयों तथा श्रीकृष्ण आदि के समझाने पर अन्ततः हस्तिनापुर जाकर उसने अपना राज्य सँभाल लिया। तब प्रजा की अनुमति से राज्याभिषिक्त हो युधिष्ठिर श्रीकृष्ण की प्रेरणा से भीष्म के पास राजनीति का उपदेश लेने के लिए अपने भाइयों तथा कृष्ण आदि के साथ जाता है। ये सब व्यक्ति उसी दिन सायंकाल को हस्तिनापुर लौट आते हैं। अगले दिन प्रातःकाल फिर भीष्म के पास उपदेश लेने के लिए जाते हैं। उसी दिन सायंकाल को पुनः वापस आने पर सब व्यक्तियों के दृषद्वती में स्नान

---

१. दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे॥ महा० वनपर्व ८१।४; पद्मपुराण आदिखण्ड (२८।८९) में इस प्रकार पाठ है—दक्षिणेन सरस्वत्या उत्तरेण सरस्वतीम्। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे॥ इस पाठ का महाभारत के पाठ से कोई विरोध नहीं है। इसका अभिप्राय केवल इतना है कि सरस्वती के दोनों तटों का प्रदेश (कुरुक्षेत्र) स्वर्ग के समान है।

२. दृषद्वती—Stony is the name of a river which flows into the Sarasvatī after running for a time parallel to it.

करने और वहीं पर सन्ध्योपासन आदि के अनन्तर हस्तिनापुर लौट आने का उल्लेख है—

श्व इदानीं स्वसन्देहं प्रक्ष्यामि त्वां पितामह ।
उपैति सविता ह्यस्तं रसमापीय पार्थिवम् ॥
ततो द्विजातीनभिवाद्य केशवः कृपश्च ते चैव युधिष्ठिरादयः ।
प्रदक्षिणीकृत्य महानदीसुतं ततो रथानारुरुहर्मुदान्विताः ॥
दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य सुव्रताः कृतोदकार्थाः कृतजप्य मङ्गलाः ।
उपास्य सन्ध्यां विधिवत्परंतपास्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयम् ॥

—महा० शान्ति ५८।२८-३०

इस प्रसंग में ध्यान देन की बात यह है कि इस वर्णन के अनुसार भीष्म के समीप से चल देने के अनन्तर हस्तिनापुर के समीप आकर वे सब लोग आकर दृषद्वती में स्नानादि करते हैं। यात्रा की थकावट को दूर करने के लिए निवास पर या निवास के समीप आकर स्नान करना उचित प्रतीत होता है। इससे यह धारणा दृढ़ होती है कि हस्तिनापुर के निकटतम कहीं दृषद्वती नदी होनी चाहिए। वर्त्तमान मेरठ ज़िले के अन्तर्गत मवाना तहसील में हस्तिनापुर नामक स्थान को कौरवों की तत्कालीन राजधानी मानने पर यह निश्चय होता है कि गंगा का ही दूसरा नाम दृषद्वती था, क्योंकि हस्तिनापुर इसी नदी के दाहिने तट पर बसा है।

महाभारतकाल में, वर्त्तमान कुरुक्षेत्र उपनगर (क़स्बा) और उसके आसपास का प्रदेश ही कुरुक्षेत्र न था, प्रत्युत यह एक पर्याप्त विस्तृत क्षेत्र का नाम रहा होगा। युधिष्ठिरआदि का प्रतिदिन प्रातःकाल भीष्म के पास उपदेश के लिए जाना और सायंकाल तक हस्तिनापुर लौटआना इस बात को प्रकट करता है कि भीष्म के शरविद्ध हो जाने के अनन्तर चिकित्सा के लिए तत्कालीन कुरुक्षेत्र प्रान्त के अन्तर्गत हस्तिनापुर से बहुत दूर नहीं रक्खा गया होगा। वर्त्तमान कुरुक्षेत्र नगर और हस्तिनापुर का अन्तर लगभग सौ मील है। निश्चित रथमार्गों से आने-जाने पर और अधिक पड़ेगा। प्रतिदिन इतनी दूर रथों या घोड़ों पर आने-जाने पर शिक्षा ग्रहण करने में पर्याप्त समय लगता होगा। भीष्म की मृत्यु हो जाने पर उनके निवास के समीप ही चिता बनाये जाने का उल्लेख महाभारत में है। वहीं पर भीष्म पितामह का दाहसंस्कार किया गया। दाह के अनन्तर समीप ही गंगा में जाकर स्नानादि करने का उल्लेख किया गया है।[1] इससे ज्ञात होता है कि जहाँ शरशय्या पर भीष्म लेटे थे वह स्थान गंगा से बहुत दूर नहीं था। महाभारत के इस प्रसंग में दृषद्वती नाम का उल्लेख नहीं है, गंगा व भागीरथी आदि पदों का प्रयोग है।

---

१. अनुशासनपर्व, अध्याय १६६।६७।

इसी प्रकार महाभारत में अन्यत्र (वन० ८१।९५-९६) दृषद्वती और कौशिकी नामक नदियों के संगम का उल्लेख मिलता है—

कौशिक्याः संगमे यस्तु दृषद्वत्याश्च भारत।
स्नाति वै नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

उक्त श्लोक में कौशिकी और दृषद्वती नदियों के संगमस्थल में स्नान करने के माहात्म्य का उल्लेख है। कौशिकी बिहार की कोसी नदी है जो नेपाल के पर्वतीय प्रदेश से चलकर उत्तर से सीधी दक्षिण को बहती हुई हज़ारीबाग के पास गंगा में मिलती है। यहाँ दृषद्वती नाम से गंगा का ही उल्लेख किया गया है। ऋषिकेश और हरद्वार के बीच गंगा से प्रतिवर्ष लाखों टन पत्थर निकालकर ढोया जाता है, और यह काम हज़ार-लाखों साल से चला आता है। दृषद्वती (Stony) नाम का यही कारण है। सरस्वती और दृषद्वती का उद्‌गम स्थान 'देवलोक' होने के कारण इनको 'देवनदी' कहा गया है। हिमालय के सर्वोच्च शिखर को अपने भीतर समेटता हुआ ऊपर उत्तर की ओर का कैलास-मानसरोवर का विस्तृत भूभाग पुराणों में देवलोक नाम से अभिहित किया गया है।

जब से यह मान्यता ज़ोर पकड़ने लगी है कि भारतीय आर्यों के किसी भी प्राचीन ग्रन्थ से, उनकी किसी कथा-कहानी से या उनकी किसी भी बात से यह नहीं पाया जाता कि वे किसी गैर देश से आये, तब से आर्यों के मूल देश के कश्मीर तथा हिमालय के आसपास होने की मान्यता बल पकड़ रही है। महाभारत में लिखा है—

हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः। अर्धयोजनविस्तारः पञ्चयोजनमायतः॥
परिमण्डलयोर्मध्ये मेरुरुत्तमपर्वतः। ततः सर्वाः समुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तम॥
ऐरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहू। प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ॥

अर्थात्—संसार में पवित्र हिमालय है। इसमें आधा योजन चौड़ा और पाँच योजन घेरेवाला 'मेरु' है जहाँ मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। यहीं से ऐरावती, वितस्ता विशाला, देविका और कुहू आदि नदियाँ निकलती हैं। इन प्रमाणों में हिमालय के मेरु प्रदेश में आदि सृष्टि होने का वर्णन है। इससे भी अधिक पुष्ट प्रमाण हमें इस विषय में मिले हैं जिनसे अमैथुनी सृष्टि के हिमालय में होने का निश्चय होता है। जिस मेरु स्थान का महाभारत के उक्त श्लोकों में निर्देश किया गया है, उसी के पास **'देविका पश्चमे पार्श्वे मानसं सिद्धसेवितम्'** अर्थात् देविका के निवास के पश्चिमी किनारे पर 'मानस' है। यह मानस अब एक झील है जो तिब्बत के अन्तर्गत है। स्वामी दयानन्द ने सन् १८७५ में सत्यार्थप्रकाश में लिखा था—"मनुष्यों की आदिसृष्टि त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत में हुई और आर्यलोग सृष्टि के आदि में कुछ काल पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश (भारत) में आकर बसे। इसके पूर्व इस देश का कोई भी नाम नहीं था और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे।"

इस अध्याय में जो कुछ कहा गया है उससे स्वामी दयानन्द के कथन की पूरी तरह पुष्टि होती है। सम्भवतः इसी भावना से प्रेरित होकर मैक्समूलर ने लिखा— "यह निश्चित हो चुका है कि हम सब पूर्व से ही आये हैं। इतना ही नहीं, हमारे जीवन की जितनी भी प्रमुख और महत्त्वपूर्ण बातें हैं, सबकी सब हमें पूर्व से ही मिली हैं। ऐसी स्थिति में जब हम पूर्व की ओर जायें तभी हमें यह सोचना चाहिए कि पुरानी स्मृतियों को सँजोये हम अपने पुराने घर की ओर जा रहे हैं।"[१]

फ्रांस के महान् सन्त एवं विचारक क्रूजे (Cruiser) ने बलपूर्वक लिखा है— "यदि कोई देश वास्तव में मनुष्यजाति का पालक होने अथवा उस आदि सभ्यता का, जिसने विकसित होकर संसार के कोने-कोने में ज्ञान का प्रसार किया, स्रोत होने का दावा कर सकता है, तो निश्चय ही वह देश भारत है।"[२] क्रूज़े की इस भारत स्तुति का कारण स्पष्ट करते हुए विलियम दुरां (Villiam Durant) ने कहा है—"भारत मनुष्य जाति की मातृभूमि और संस्कृत यूरोपियन भाषाओं की जननी है, वह हमारे दर्शन की जननी है, अरबों के माध्यम से हमारे गणित की जननी, बुद्ध के माध्यम से ईसाइयत में निहित आदर्शों की जननी, ग्राम पंचायत के माध्यम से स्वायत्त शासन और लोकतन्त्र की जननी है। वास्तव में भारतमाता अनेक रूपों में हम सबकी जननी है।"[3] इस प्रकार जिस भारत को विश्वभर का आदि देश होने का गौरव प्राप्त है, उसका आर्यों का आदिदेश होना तो स्वतः सिद्ध है।

---

१. We all come from the East—all that we value most has come to us from the East, and by going to the East, everybody ought to feel that he is going to his 'old home" full of memories, if only we can read them.—India : What Can it Teach us ? p. 29

२. If there is a country which can rightly claim the houour of being the cradle of human race or at least the scene of primitive civilisation, the succesive developments of wich carried into all parts of the ancient world, and even beyond, the blessings of knowledge which is the second life of man, that country assuredly is India.

३. India was the Motherland of our race and Sanskrit the Mother of Europeon languages; she was the Mother of our philosophy; Mother, throngh the Arabs, of much of our Mathematics; Mother, through the Budha, of the ideals embodied in Christianity; Mother, through the village community, of self-government and democracy. Mother India is in many ways the mother of us all.

Ravi Shastri

धार्मिक विश्वास

प्रायः यह मान लिया गया है कि वैदिक आर्य मूलतः बहुदेववादी अथवा अनेकेश्वरवादी थे। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वैदिक ऋषि जब अग्नि की उपासना करता था तो उसमें उन सब गुणों का समावेश कर लेता था जो किसी भी अन्य देवता में पाये जाते हैं। जब वह वायु की उपासना करता था जो वायु में उन सब गुणों को आरोपित कर लेता था जो अन्य देवताओं में देखता था। इससे यह प्रतीत होता है कि वह एक देवता का उपासक न होकर अनेक देवताओं में विश्वास करता था। इस विचारधारा पर चलते हुए मैक्समूलर ने बहुदेवतावाद (Polytheism) तथा एकेश्वरवाद (Monotheism) का समन्वय करके एक नये मत की कल्पना की जिसे उन्होंने हीनोथीइज्म (Henotheism) का नाम दिया। हीनोथीइज़्म का तात्पर्य है—जब किसी देवता की उपासना की जाय, तब उसी में सब गुण आरोपित कर दिये जायें और अन्य देवताओं को उससे हीन कल्पित कर लिया जाये।[1] परन्तु यह कल्पना सिर्फ़ इसलिए की गई, क्योंकि मैक्स-मूलर विकासवाद के विपरीत यह मानने के लिए तैयार नहीं कि मानव संस्कृति के प्रारम्भिक काल में एकेश्वरवाद जैसा उत्कृष्ट विचार मानव के मस्तिष्क में आ सकता था।

बाद में मैक्समूलर का यह विचार बदल गया। स्वामी दयानन्दकृत 'ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका' को पढ़ने के बाद उनके विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। वैदिक धर्म में एकेश्वरवाद की स्थिति के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा कि प्रथम दृष्टि में तो यही प्रतीत होता है कि वैदिक धर्म बहुदेववादी है, परन्तु बहुदेववाद का

---

१. The Oxford English Dictionary defines Henotheism as the 'belief in a single god, without asserting that he is the only god, a stage between Polytheism and Monotheism. According to Prof. Clayton, it denotes that each of the several divinities is regarded as the highest, the one that was worshipped and, therefore, treated as if he were the absolute being, independent and supreme for the worshipper.

जो अर्थ हम लगाते हैं, उस अर्थ में यह शब्द वैदिक धर्म का विशेषण नहीं हो सकता। वेद की घोषणा है—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" अर्थात् ईश्वर एक है। उसे अनेक नामों से पुकारा जाता है।"[१] यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

—ऋ० १।१६४।४६

ये नाम परमेश्वर के अनेक गुणों का स्मरण कराते हैं। उदाहरणार्थ—इन्द्र नाम परमात्मा के परमैश्वर्य सम्पन्न होने का, मित्र उसके सबका हितैषी होने का, वरुण सर्वोत्तम और अज्ञानान्धकार निवारक होने का, अग्नि नाम ज्ञानस्वरूप तथा सबका मार्गदर्शक नेता होने का, यम सर्वनियामक होने का, सूर्य सर्वप्रकाशक होने का, मातरिश्वा आकाश व जीवादि में अन्तर्यामिरूप से सर्वव्यापक होने का, सुपर्ण अति उत्तम कर्म करने का, गरुत्मान् महान् सर्वव्यापी आत्मा होने का और दिव्य अत्यन्त अद्भुत दिव्य-कर्म-स्वभाव सम्पन्न होने का स्मरण कराता है।

पहले मैक्समूलर आदि यह मानते थे कि यह मन्त्र वेद में पीछे से डाला गया है। मैक्समूलर के प्रमुख शिष्य मैकडानल ने अपनी पुस्तक 'A Vedic Reader for Students' की भूमिका में लिखा है—"ऋग्वेद के १० मण्डलों में ८ मण्डल पहले लिखे गये, फिर नौवाँ और अन्त में दशवाँ।" उसके कहने का अभिप्राय यह है कि पहले ८ और बाद के २ मण्डलों के लिखे जाने का समय भिन्न-भिन्न है। परन्तु 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' यह तो ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का मन्त्र है। फिर भी इसे प्रक्षिप्त माना गया, सिर्फ़ इसलिए कि यह विकासवादी विचारधारा में फ़िट नहीं बैठता। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अपने अर्थ को स्पष्ट करने के लिए स्वयं वेद की अन्तःसाक्षी प्रमाण होगी या रुडोल्फ़, रॉथ और मैक्समूलर जो कहेंगे वह प्रमाण होगा? वेदों का अर्थ यदि वेदों से ही स्पष्ट होता है तो उस प्रक्रिया का सर्वोच्च स्थान होना चाहिए।

हिरण्यगर्भसूक्त (ऋ० १०।१२१) में 'क'=सुखस्वरूप प्रजापति के नाम से भगवान् का स्मरण करते हुए उसी की श्रद्धापूर्वक उपासना का विधान किया है। दस मन्त्रों के इस सूक्त में चार बार परमेश्वर के लिए 'एकः' शब्द का प्रयोग हुआ है। वे चार मन्त्र इस प्रकार हैं—

---

१. There are hymns which assert the unity of the Divine as fearlessly as any passage of the Old Testament or the Koran. Thus the poet says–'That which is one, sages name it various ways—they call it Agni, Yama, Matarishva etc'.—India What can it teach us?

१. हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
२. यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
३. आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्त्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
४. यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

प्रथम मन्त्र में 'पतिरेकः' द्वितीय में 'महित्वैक इत्' तृतीय में 'असुरेकः' तथा चतुर्थ में 'देव एकः' पद परमेश्वर के एक होने की घोषणा कर रहे हैं। इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में कहा है—'त्वत् अन्यः एतानि विश्वा जातानि न परि बभूव' अर्थात् तेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं, जो इन पदार्थों में व्यापक हो तथा इनका स्वामी हो।

इस सूक्त पर टिप्पणी करते हुए मैक्समूलर ने लिखा है कि मैं एक और सूक्त (ऋ० १०।१२१) जोड़ना चाहता हूँ जिसमें एक ईश्वर का विचार इतनी प्रबलता और निश्चय के साथ प्रकट किया गया है कि हमें आर्यों के नैसर्गिक एकेश्वरवादी होने से इन्कार करते हुए बहुत अधिक संकोच करना पड़ेगा।[1]

चारों वेदों में अनेकत्र अत्यन्त स्पष्ट तथा असन्दिग्ध शब्दों में एकेश्वरवाद का उल्लेख हुआ है। उदाहरणार्थ—

स बाहुभ्यां धमति स पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।।
—ऋ० १०।८१।३, यजु० १७।१९; अथर्व० १३।२।२६

---

१. I add only one more hymn (Rig. 10. 121) in which the idea of One God is expressed with such force and decision that it will make us hesitate before we deny to the Aryans an instinctive Mono-theism.—History of Ancient Sanskrit Literature, p. 578.

See also—"Whatever may be the age when the collection of Rigveda was finished, it was before that age that the conceptions had been formed that there is but One Being, a Being raised high above all the conditions and limitations of personality and of human nature and nevertheless the Being that was really meant by all such names as Indra, Agni, Matarishiwan and by the name of Prajapati Lord of Creatures."
—Maxmueller : Six Systems of Philosophy.

एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।---अथर्व० २।२।१

पतिरेक एव नमस्यः।—अथर्व० २।२।२

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिः एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

—ऋ० १०।११४।५

अयं एक इत्था पुरुरु विचष्टे विश्पतिः।— ऋ० ८।२५।१६

स एको अस्ति देवता।—ऋ० ८।१।१७

स विश्वस्य करुणस्येश एकः।—ऋ० १।१००।७

स एक इत् तमुष्टुहि।— ऋ० ५।५१।१६

स एक इत् हव्यः।—ऋ० ६।२२।१

यो देवानां नामधा एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।

—ऋ० १०।८२।३, यजु० १७।२७, अथर्व० २।१।३

उपर्युक्त मन्त्रों में प्रत्येक में परमेश्वर के लिए 'एकः' (एक) अथवा 'एक इत्' (एक ही) शब्दों का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद के निम्न मन्त्रों में परमेश्वर के 'एक' और 'एक ही' होने का उल्लेख इतने स्पष्ट शब्दों में हुआ है कि उसके बाद आर्यों के एकेश्वरवादी होने में अणुमात्र भी सन्देह नहीं रह सकता—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।
स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न।
तमिदं निगतं सहः स एष एक एक वृद् एक एव।

—अथर्व १३।४।१६-२१

यज्ञ

व्याकरणानुसार यज्ञ शब्द यज धातु से नङ् प्रत्यय होकर बनता है। यज धातु के देवपूजा, दान और संगतिकरण ये तीन अर्थ हैं—**'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु'**। तदनुसार संसार में जितने भी शुभ और उपयोगी कर्म हैं, उन सबको यज्ञ कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण (१।७।४५) के अनुसार यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है—**'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**। इसका अभिप्राय यह है कि जितने श्रेष्ठ कर्म हैं, उनकी संज्ञा यज्ञ है। यज्ञ से समस्त प्रकृति, समस्त मनुष्य, पशु-पक्षी और समस्त कीट-पतंगों की समानरूप से तुष्टि होती है। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त आर्यों के सम्पूर्ण क्रियाकलाप यज्ञ के अन्तर्गत हैं। मनुस्मृति में कहा है—**"दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्"** (३।७५)। अर्थात् यज्ञ में प्रवृत्त मनुष्य सम्पूर्ण चराचर जगत् का पालन-पोषण करता है। अग्निहोत्र से जलवायु की शुद्धि होकर भक्ष्य पदार्थों की शुद्धि एवं पुष्टि होती है और इस प्रकार यज्ञ से सबका कल्याण होता है। ऐसे सर्वहितकारी कृत्य में किसी प्रकार की हिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती। फिर भी आम धारणा यह बनी हुई है कि प्राचीन काल में यज्ञों में पशु-बलि दी जाती थी। इस भ्रान्ति का मुख्य कारण वेदों के वास्तविक अर्थों को न समझना है।

बहुत दिन हुए, भारत के प्रसिद्ध विद्वान्, दार्शनिक व शिक्षाशास्त्री डा० सम्पूर्णानन्द ने 'गणेश' नाम का एक खोजपूर्ण ग्रन्थ लिखा। उसमें 'श्रुति में गणेश' शीर्षक अध्याय में **'गणानां त्वा···गर्भधम्'** (यजु० २३।१९) इस मन्त्र का महीधर और उवट के भाष्य के अनुसार अर्थ देकर उन्होंने लिखा—"इस अर्थ को देखकर आश्चर्य होता है, परन्तु दूसरा अर्थ करना सम्भव नहीं।" इस अर्थ और उससे होने-वाले कृत्य को अत्यन्त अश्लील और वीभत्स मानते हुए उसकी भर्त्सना की, परन्तु 'दूसरा अर्थ करना सम्भव नहीं' लिखकर इस सबके लिए उन्होंने वेद को ही दोषी ठहराया। तब हमने अपने पत्र दिनांक ९ फरवरी १९५१ में उन्हें लिखा—"आप महीधर और उवट के अर्थ को अश्लील और बेहूदा मानते हुए उसे प्रामाणिक मानते हैं। यदि आप वेदों को महीधर और उवट के चश्मे से देखेंगे तो वेदों में

सर्वत्र हिंसा, व्यभिचार, चोरी, जुआ, मद्यपान आदि सब-कुछ मिलेगा। तब आपके ही ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध वेदों के स्तुतिपरक वचनों का उनके साथ कैसे सामंजस्य होगा ? जहाँ तक महीधर आदि के वेदार्थ का सम्बन्ध है, उसका आधार वैदिक व्याकरण व कोश न होकर प्रचलित लौकिक संस्कृत के व्याकरण व कोश हैं। फलतः अनेक स्थलों पर अर्थ का अनर्थ हो गया है। खेद है कि आप जैसे मनीषी भी उनके भ्रमजाल में फँस गये और आपने यहाँ तक लिख डाला कि इस मन्त्र का दूसरा अर्थ सम्भव नहीं।

यह ठीक है कि शतपथ ब्राह्मण में यह मन्त्र अश्वमेध के प्रसंग में आया है। परन्तु वहीं (शतपथ में) **'अश्वमेध'** का निर्वचन करते हुए लिखा है—**'राष्ट्रं वा अश्वमेधः'** अर्थात् राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए योजनाबद्ध प्रयास करने को अश्वमेध कहते हैं। इस सन्दर्भ में महीधर का किया अश्लील और हिंसापरक अर्थ कैसे फ़िट बैठ सकता है ? वेद के प्रत्येक मन्त्र की देवता या प्रतिपाद्य विषय होता है। इस मन्त्र (**गणानां त्वा गणपतिं हवामहे**) की देवता **'गणपति'** है और इससे आगे-पीछे के मंत्रों की देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय राजा, प्रजा, राजप्रजे, सभासद्, न्यायाधीश आदि हैं। इसका अभिप्राय यह है कि इन मन्त्रों में जो कुछ कहा गया है, उसका सम्बन्ध देश की शासन व्यवस्था से है। वहाँ **'गणपति'** पद राष्ट्रपति का पर्याय है। गणतन्त्र या गणराज्य के सर्वोच्च शासक को राष्ट्रपति की जगह गण-पति नाम देना अधिक सार्थक है। वस्तुतः प्रसंगप्राप्त इस मन्त्र में राष्ट्रपति में अपेक्षित गुणों या योग्यताओं का उल्लेख हुआ है।" तदनुसार हमने इस मन्त्र का पूरा अर्थ उन्हें लिख भेजा।

श्री सम्पूर्णानन्दजी ने अपने पत्र दिनांक १५ फरवरी १९५१ में लिखा—"यह मन्त्र राजप्रजे दैवत हो सकता है और उसका अर्थ भी वह हो सकता है जो आपने लिखा है, परन्तु जब मुझे उन प्रथाओं और मान्यताओं का खण्डन करना होता है जो आज सनातनधर्मावलम्बी लोगों में प्रचलित हैं तो मैं उनके सामने उन्हीं पुस्तकों को रखता हूँ जिनको वे प्रमाण मानते हैं और उन्हीं अर्थों को रखता हूँ जिन्हें वे स्वीकार करते हैं। मेरे तर्क का रूप यह है—"मेरी निजी सम्मति कुछ भी हो, पर आप लोग उवट और महीधर के भाष्य को प्रमाण मानते हैं। उन दोनों ने इसे अश्वदैवत माना है और अश्वमेध की एक विशेष क्रिया में उसका विनियोग किया है, अतः आपके माने आचार्यों के अनुसार यह मन्त्र गणेशदैवत नहीं हो सकता, क्योंकि आप भी गणेश को अश्व का पर्यायवाची नहीं मानते। अतः आपके माने हुए प्रमाणों के अनुसार भी वेद गणेश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता।"

यहाँ तक तो ठीक था। परन्तु जहाँ उन्होंने वेदों में वर्त्तमान में प्रचलित गणेशपूजन को अपने ढंग पर अवैदिक सिद्ध किया वहाँ प्रसंग न होने पर भी इतना और लिख दिया—"अनेक प्रमाणों के आधार पर मैं ऐसा मानता हूँ कि वैदिक

काल में भी मद्य-मांस आदि का व्यवहार होता था, और पशुबलि भी होती थी।" परन्तु अपनी मान्यता की पुष्टि में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। सच तो यह है कि शतशः प्रमाणों से यह सिद्ध है कि न आर्य लोग मांस-मदिरा का प्रयोग करते थे और न यज्ञों में किसी प्रकार की हिंसा होती थी।

संसार के सभी धर्मग्रन्थ इस बात की पुष्टि करते हैं कि सृष्टि के आदिकाल में मानवों का भोजन कन्द-मूल-फल और कृषि द्वारा उत्पन्न अन्नादि ही था। दुर्जनतोषन्याय से, यदि विकासवाद के अनुसार, यह मान लिया जाये कि विकास-क्रम में मनुष्य की उत्पत्ति बन्दर से हुई तो इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि हमारे पूर्वज पहले तो फलाहारी थे ही, आज भी मांसाहारी नहीं हैं। जितने निरामिषभोजी पशु हैं, वे भूखे मर जायेंगे, पर मांस नहीं खायेंगे। वस्तुतः मनुष्य स्वभावतः मांसाहारी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके दाँतों और आँतों की बनावट मांसाहारी जीवों के समान नहीं है। मांसाहारी भी इस रूप में निरामिषभोजी हैं कि वे प्रायः निरामिषभोजी पशुओं का ही मांस खाते हैं, मांसाहारी पशुओं का नहीं।

यज्ञ के पर्याय अथवा कहीं-कहीं विशेषण के रूप में अध्वर शब्द का प्रयोग चारों वेदों में सैकड़ों स्थानों पर पाया जाता है। उदाहरणार्थ—

ऋग्वेद—१।१।४; १।१।८; १।१४।२१; १।१९।१; १।४४।१३; १।७४।१; १।९३।१२; १।१०१।८; १।१२८।४; १।१३५।३; १।१५१।३ व ७; २।२।५; ३।१७।५; ३।२०।१ व ५; ३।२४।२; ३।५४।१२; ४।२।१०; ४।९।६; ४।१५।२; ४।३७।१; ५।४।८; ५।२८।३ व ६; ५।४४।५; ६।२।३; ६।१६।२; ७।३।१; ७।४।१६; ८।३।५ व ७; ८।२७ १; ८।३५।२३; ८।४६।१८; ८।५०।५; ८।६६।१; ८।७०।२; ८।७१।१२; ८।९३।२३; ९।६७।१; १०।७७।८; १०।२२।७

यजुर्वेद में अध्वर शब्द का प्रयोग कम-से-कम ४३ स्थानों पर मिलता है।

उदाहरणार्थ—२।४; ३।११; ६।२३; ६।२५; १५।३८; २९।२६।

सामवेद में अध्वर शब्द का प्रयोग निम्नांकित तथा अन्य सैकड़ों मन्त्रों में पाया जाता है—पूर्वार्चिक—१।२।६; १।३।१; १।३।१२; २।२।६; १।६।७ उत्तरार्चिक—६।३।४।२, ६।३।५।२

अथर्ववेद में उदाहरणतः ये मन्त्र द्रष्टव्य हैं—१।४।२; २।२४।३; ५।१२।२, ३।१६।६; १८।२।२; १९।४२।४।

निघण्टुपठित 'ध्वृ' धातु हिंसार्थक है। 'अध्वर' में उसका निषेध है, अर्थात् 'नञ् पूर्वक ध्वृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर अध्वर शब्द निष्पन्न हुआ है। अध्वर शब्द का निर्वचन करते हुए यास्काचार्य ने लिखा है—

अध्वर इति यज्ञनाम—ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः। (निरुक्त १।८)।

अर्थात्—यज्ञ का नाम अध्वर है जिसका अर्थ हिंसारहित कर्म है।

इस प्रकार यज्ञवाची अध्वर शब्द से स्पष्ट है कि यज्ञों में किसी प्रकार की हिंसा नहीं हो सकती। यज्ञ में पशुवध होने पर अध्वर शब्द सार्थक नहीं हो सकता।

वेदों में अनेकत्र ऐसे वचन उपलब्ध हैं जिनमें स्पष्टत: पशुरक्षा का निर्देश किया है। यजुर्वेद के प्रारम्भ (१।१) में ही यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म की संज्ञा देते हुए कहा है—**'पशून् पाहि'**, पशुओं की रक्षा करो। इसी मन्त्र में गौ को **'अघ्न्या'** (न मारने योग्य) कहा है। यजुर्वेद ६।११ में पति-पत्नी के लिए आदेश है—**'पशूंस्त्रायेथाम्'** पशुओं की रक्षा करो। वहीं १४।८ में कहा है—**'द्विपादव चतुष्पात् पाहि'** अर्थात् दो पैरोंवाले (मनुष्यादि) तथा चार पैरोंवाले (पश्वादि) की रक्षा करो।

पशुरक्षाप्रतिपादक मन्त्रों के साथ-साथ पशुहिंसानिषेधक वाक्य भी यत्र-तत्र-अनेकत्र मिलते हैं। उदाहरणत:—

मा गामनागामदितिं वधिष्ट।—ऋ० ८।१०१।१५

य: पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधान:।
योऽघ्न्या भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥

—ऋ० १०।८७।१७

जो राक्षस मनुष्य के मांस और घोड़े आदि पशुओं के मांस से प्रसन्न होता है, हे अग्ने (परमात्मन्)! आप उसका शिरश्छेद कर दें।

ऋग्वेद में गोवध को, मनुष्यवध जैसा अपराध घोषित करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति यह अपराध करता है, उसे प्राणदण्ड दिया जाना चाहिए—

आरे गोहा नृहा वधो वोऽस्तु···।—ऋ० ७।५६।१७

आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नम्··।—ऋ० १।११४।१०

इसी प्रकार अथर्ववेद में गौ, अश्व और पुरुष का हनन करने वालों को समान रूप से गोली से उड़ा देने का आदेश दिया गया है—

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्याम:······॥—अथर्व० १।१६।४

यजुर्वेद में पशुओं के मारे जाने पर प्रतिबन्ध लगाते हुए कहा है—

मा हिंसीस्तन्वा प्रजा:। –यजु० १२।३२

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्।– १३।४७

मा मा हिंसीरदितिं विराजम्। –१३।४३

घृतं दुहानामदितिं जनाय···मा हिंसी:।—१३।४९

अन्तकाय गोघातम्। –३०।१८

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु।—१३।४८

अथर्ववेद मांस और अण्डा खानेवालों का नाश करने की आज्ञा देता है—

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।

गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥— अथर्व० ८।६।२४

मांसाहार को सुरापान, जुआ खेलने और व्यभिचार करने के समान पाप समझा गया है—

यथा मांस यथा सुरा यथा अक्षा अधि देवने।

यथा पुंसो वृषण्यतः स्त्रियां निहन्यन्ते मनः॥—अथर्व० ६।७०।१

अर्थात्—जैसा मांस, जैसा मद्य और जैसा जुआ है, उसी प्रकार पुरुष का मन स्त्री में (लीन होने पर) मारा जाता है।

इसके विपरीत पशुओं से होनेवाले लाभ का वर्णन वेदों में इन शब्दों में मिलता है—

पुष्टिं पशूनां परिजग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्।

पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्॥

—अथर्व० १९।३१।५

मैं पशुओं से पुष्टि लेता हूँ, द्विपादों और चतुष्पादों से भी पुष्टि लेता हूँ और उनसे धान्य भी लेता हूँ। पशुओं से दूध, ओषधियों (वृक्षादि) से रस लेता हूँ।

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ।—अथर्व० ४।२७।३

गौओं से दूध, ओषधियों से रस और घोड़ों से (यात्रा में) वेग कवि लोग प्राप्त करते हैं।

आहरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम्।—अथर्व० २।२६।५

मैं गौओं से दूध लेता हूँ तथा (भूमि) से धान्य तथा रस लेता हूँ।

संसिचामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।—अथर्व २।२६।४

मैं गौओं से दूध सिंचन करता हूँ तथा घी से बलवर्धक रस लेता हूँ।

उपर्युक्त वेदमन्त्र पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि वैदिक आर्य न यज्ञों में पशु हिंसा करते थे और न मांसाहार करते थे।

वेदों, उनके व्याख्यानग्रन्थ ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में अनेकत्र **संज्ञपन, अवदान, आलम्भ** तथा **मेध** शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनका अर्थ 'मारना' मानकर वैदिक साहित्य में सैकड़ों स्थानों पर स्पष्टतः हिंसारहित कर्म के वाचक अध्वर नाम से अभिहित यज्ञों में पशुबलि के विधान की कल्पना कर ली गई है। **'संज्ञपन'** शब्द सं पूर्वक णिजन्त ज्ञा धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर बनता है। **'देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते'** आदि शतशः प्रमाणों से सिद्ध है कि **सं पूर्वक ज्ञा** धातु का अर्थ परिचय, प्रेम, सम्यक् ज्ञान आदि हैं। अथर्ववेद (६।७४।१-२) के निम्नलिखित मन्त्रों में **संज्ञपन** तथा **संज्ञपयामि** आदि पदों का प्रयोग हुआ है। प्रकरण से स्पष्ट है कि इन शब्दों का अर्थ वहाँ ज्ञान देना-दिलाना या मेल कराना है—

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥
संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥

अर्थात्—तुम्हारे शरीर मिले हुए हों, मन संपृक्त हों, व्रत एक जैसे हों। ब्रह्मणस्पति कल्याणमय प्रभु ने तुम्हें एकत्र किया है। तुम्हारे मनों में मिलकर ज्ञान उत्पन्न हो, हृदयों में प्रेम हो। प्रभु के नाम से किये श्रम का मैं तुम्हें उत्तम ज्ञान प्राप्त कराता हूँ।

इसी प्रकार शतपथ में एक आख्यायिका है जिसमें मन और वाणी के बीच बड़प्पन के लिए किये गये झगड़े का उल्लेख है। उसमें अन्त में कहा है—

अथ ह वागुवाच। अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद् वै त्वं वेत्थाहं तद् विज्ञापयाम्यहं संज्ञपयामीति।—१।४।५।१०

वाणी कहती है—बड़ी तो मैं ही हूँ। तुझे तो ज्ञान ही ज्ञान है। तेरा वह ज्ञान किस काम का? जो कुछ तू जानता है, उसे प्रकट तो मैं करती हूँ। मैं ही उसे दूसरों को अच्छी तरह जनाती हूँ—**संज्ञपयामि।**

प्रायः **अग्निषोम** के प्रकरण में **संज्ञपन** का अर्थ बकरे को काटना किया जाता है। **संज्ञपन** का अर्थ सम्यक् ज्ञान करना तो है ही। यदि कथञ्चित् दुर्जनतोषन्याय से उसका अतिरिक्त अर्थ काटना भी मान लिया जाये तो भी **'सैन्धवमानय'** की तरह जो अर्थ प्रकरणसंगत होगा, वही माना जायेगा। अग्निषोम में पशुसंज्ञपन के पश्चात् **'वाचं ते शुन्धामि···चरित्रांस्ते शुन्धामि, वाक् त आप्यायताम्** आदि जितने भी शब्द हैं, सम्यक् ज्ञान के अधिक अनुकूल हैं। **'चरित्रांस्ते शुन्धामि'** (तेरा चरित्र सुधारता हूँ) की संगति पशुवध में नहीं, पशुप्रकृति, मूढ़ बालकादि को सम्यक् ज्ञान कराने में ही हो सकती है।

यज्ञों में पशुहिंसा की मान्यता के समर्थक **'अग्निषोमीयं पशुमालभेत प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते'** (यजुः २४।२९) आदि वाक्यों को उद्धृत करते हैं। आलम्भ का हिंसापरक अर्थ सर्वथा अज्ञानमूलक है। चरक (चिकित्सास्थान १९।४) में लिखा है—"**आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीय बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म।**" अर्थात् आदिकाल में यज्ञों में पशु इकट्ठे किये जाते थे, मारे नहीं जाते थे। चरक के इस पाठ में **'समालभनीया'** तथा **'समालम्भनीया'** पदों के प्रयोग से स्पष्ट है कि **'आलभन'** और **'आलम्भन'** ये दो स्वतन्त्र शब्द हैं **'लभ्'** और **'लम्भ'** इनकी दो स्वतन्त्र धातुएँ हैं। **आङ् पूर्वक 'लभ'** का अर्थ प्राप्त करना या स्पर्श करना है और **आङ्** पूर्वक **'लम्भ'** का अर्थ मारना है। वेद और वैदिक वाङ्मय में जहाँ-जहाँ पशुयज्ञों का वर्णन मिलता है, वहाँ सर्वत्र **'आलभते'** क्रिया का प्रयोग है। और उससे पशु का प्राप्त करना या स्पर्श करना अभिप्रेत है,

मारना नहीं।

पशुयज्ञों की संज्ञा **'पशुबन्ध'** है, पशुवध नहीं। इससे स्पष्ट है कि यज्ञ के अवसर पर पशुओं की प्रदर्शनी के निमित्त पशुओं को यूप से बाँधाभर जाता था। पशुयागों में यदि पशुओं का वध अभिप्रेत होता तो उनकी संज्ञा पशुवध होनी चाहिए थी। निघण्टु अथवा धातुपाठादि में वधार्थक धातुओं में **'आलभ्'** का उल्लेख कहीं नहीं हुआ है।

इस सन्दर्भ में मनुस्मृति अध्याय २ में निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं—

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धमाल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१७७॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥१७९॥
स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशंकायाम् ।—गौतमधर्मसूत्र २।२२

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों के प्रसंग में हिंसा का सर्वथा निषेध करने वाले श्लोकों में स्त्रियों का आलम्भन न करने का अर्थ स्त्रियों का स्पर्श न करने के सिवा और क्या हो सकता है? प्राणिमात्र की हिंसा का निषेध करने के बाद स्त्रियों के वध का निर्देश कैसे संगत हो सकता है?

अथास्य (ब्रह्मचारिणः) दक्षिणांसमधि हृदयमालभते।—पा० गृह्यसूत्र

पारस्करगृह्यसूत्र (२।२।१६) के उपनयन-प्रकरण के अन्तर्गत उक्त वाक्य का अर्थ है—आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय का स्पर्श करता है। हरिहर, गदाधर आदि सभी भाष्यकारों ने 'आलभते' का अर्थ 'स्पृशति' किया है।

आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान् ।—सुश्रुत, कल्पस्थान १।१९
वरो वध्वा दक्षिणांसं अधि हृदयमालभते ।—विवाहप्रकरण
कुमारं जातं पुरान्यैर्लम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्येन आशयेत् ।
—जातकर्म, प्रा० गृह्यसूत्र

पारस्करगृह्यसूत्र के उपर्युक्त वाक्यों तथा मीमांसाशास्त्र (२।२।७०) की सुबोधिनी टीका में आये **'वत्सस्य समीप आनयनार्थम् आलम्भः स्पर्शो भवति'** वाक्य में **'आलम्भ'** का अर्थ स्पर्श करना है। तब **'प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते'** का अर्थ 'प्रजापति (राजा) के लिए हाथी प्राप्त करता है' करना होगा। इसी प्रकार **'अग्निषोमीयं पशुमालभेत'** आदि ब्राह्मणवाक्यों में भी **आलभेत** स्पर्श अथवा प्राप्ति का ही द्योतक होगा, न कि मारने का।

'अवदान' शब्द **'डुदाञ् दाने, दो अवखण्डने, देञ् रक्षणे'** आदि धातुओं से सिद्ध होता है तथा यज्ञ में भिन्न-भिन्न निमित्तक हवि के लिए प्रयुक्त होता है। वर्तमान मीमांसक लोग इसे **'दो अवखण्डने'** से निष्पन्न मानकर पशु के विभिन्न अंगों को काट-काटकर यज्ञाग्नि में होम करते हैं, परन्तु शतपथब्राह्मण के उपज्ञाता

याज्ञवल्क्य स्वयं इस शब्द को '**देज्‌ रक्षणे**' से निष्पन्न मानते हैं। यह सन्दर्भ (शत० का० १ अ० ७) में आये '**तदेनांस्तदवदयते**' से स्पष्ट है। याज्ञवल्क्य कहते हैं—'**तदेनांस्तदवदयते तस्माद्यत्किंचनाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम**'—अर्थात् आहुतियों का नाम 'अवदान' इसलिए है, क्योंकि वे रक्षा करती हैं—ऋण के बन्धन से बचाती हैं।

मुख्यतः यज्ञ के पर्याय मेध शब्द को अश्वमेध, गोमेध, अजमेध, पुरुषमेध आदि शब्दों में देखकर वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा-विधान का भ्रम होता है। वस्तुतः वेदों में तो अश्वमेध शब्द को छोड़कर अन्य किसी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। '**मेधृ**' धातु के '**मेधृ संगमे हिंसायां च**' इस धातुपाठ के अनुसार शुद्ध बुद्धि को बढ़ाना लोगों में एकता या प्रेम को बढ़ाना और हिंसा ये तीन अर्थ हैं। परन्तु जिस धर्म और समाज में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो, वहाँ मात्र हिंसापरक अर्थ मानकर निरीह पशुओं की हत्या के विधान की कल्पना करना सर्वथा असंगत है।

पुरुषमेध, पुरुषयज्ञ तथा **नृयज्ञ** तीनों पर्यायवाची हैं। मनुस्मृति में नृयज्ञ की व्याख्या '**नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्**। (मनु० ३।७०) कहकर की गई है। नृयज्ञ वा नरमेध यज्ञ में मनुष्य की बलि देना अभिप्रेत न होकर उत्तम विद्वानों की पूजा करना है। **मेधृ** धातु के संगमनार्थ को लेकर मनुष्यों को उत्तम कार्य करने के लिए संगठित करना भी **नृमेध** के अन्तर्गत है। सामवेद के कुछ मन्त्रों का ऋषि (मन्त्रार्थद्रष्टा) **नृमेध** है। निश्चय ही वह मनुष्यों की बलि चढ़ानेवाला नहीं हो सकता। मनुष्यों में संगतिकरण या मेलमिलाप बढ़ानेवाले की संज्ञा नृमेध हो सकती है।

अश्वमेध, अजमेध तथा गोमेध को भी प्रचलित अर्थों में ग्रहण नहीं किया जा सकता। शतपथ (१३।१।१६) में कहा है—'**राष्ट्रं वा अश्वमेधः**, '**वीर्यं वा अश्वः**। अर्थात् अश्व शब्द राष्ट्र तथा वीर्य का वाचक है। तब अश्वमेध का अर्थ देशवासियों के बल व वीर्य की वृद्धि करना तथा राष्ट्र के सर्वाङ्गीण विकास के लिए प्रयास करना ही शास्त्रानुमोदित है। यजुर्वेद (२३।१९-४०) के जिन मन्त्रों का अश्वमेध में विनियोग करके महीधरादि ने उनके अत्यन्त अश्लील अर्थ करके वेदों को कलंकित किया है उनमें कहीं भी अश्व की हत्या का उल्लेख नहीं है। वस्तुतः इन मन्त्रों के देवता **गणपति, राजप्रजे, प्रजापति, प्रजा, श्री, विद्वांसः, सभासदः** आदि है। इससे स्पष्ट है कि इन मन्त्रों का वर्ण्यविषय राष्ट्र और उसकी शासन व्यवस्था है। महाभारत के शान्तिपर्व (३।३३६) में राजा वसु के अश्वमेध का वर्णन है जिसमें उस समय के सब बड़े-बड़े ऋषियों एवं विद्वानों ने भाग लिया था। उसके सम्बन्ध में बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखा है—'**न तत्र पशुघातोऽभूत्**'। वहीं आगे चलकर अध्याय ३३७ में अजमेध के विषय में लिखा है—

अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागान्नो हन्तुमर्हथ।
नैषः धर्मः सतां देवाः यत्र बध्येत वै पशुः॥

अर्थात्— वैदिक साहित्य में जब अजों से यज्ञों में होम करने को कहा जाता है तो वहाँ अज नामक बीजों से तात्पर्य होता है, बकरों का वध करना ठीक नहीं। पशुओं की हत्या करना भले आदमियों का धर्म नहीं है।

वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र-सर्वत्र गोवध को महापाप माना है। जैसे यज्ञ की संज्ञा **अध्वर** (हिंसारहित) है, वैसे ही गौ की **अघ्न्या** (न मारने योग्य) है। अतएव वद में तथा अन्यत्र गोवध करनेवाले के लिए प्राणदण्ड दिये जाने का आदेश है। ऐसी अवस्था में गोमेध के नाम पर गौ की हत्या करने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः गौ शब्द अनेकार्थवाची है। इसलिए गोमेध के 'वाणी का संस्कार करना, धरती को कृषियोग्य बनाना, गौ से उपलब्ध होनेवाले घी, दूध आदि की वृद्धि करना तथा उपलक्षण से पशुमात्र के पालन-पोषण की समुचित व्यवस्था' आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं।

अंग्रेज़ी में Agriculture शब्द का अर्थ 'The science and art of cultivating the soil' है। जन्द भाषा का गोमेज आर्यों के गोमेध शब्द का ही अपभ्रंश है। पारसी धर्म में खेती करना धर्म समझा जाता है, अतः खेती से सम्बन्ध रखनेवाले समस्त क्रियाकलाप का नाम गोमेज है।[1] कृषि के लिए समय-समय पर वर्षा होना आवश्यक है। देवयज्ञ इसमें परम सहायक है। इसलिए आर्यों का जीवन यज्ञमय था।

यज्ञ के प्रसंग में जहाँ कहीं पशु शब्द से सम्बन्ध रखनेवाले नाम आये हैं, उन सबका तात्पर्य अन्न से है, चतुष्पाद पशु से नहीं। वेदों में अन्नमय पशु के होम का ही विधान है। द्वयर्थक शब्दों से जो भ्रम हो सकता है उसका निराकरण वेदों तथा अन्य ग्रन्थों ने स्वयं कर दिया है। अथर्ववेद (१८।४।३२) में लिखा है—

धाना धेनुरभवद्वत्सोऽस्यास्तिलोऽभवत्।

अर्थात् धान ही धेनु है और तिल उसके बछड़े हैं। धान अनेक प्रकार के होते हैं, अतः अनेक धानों के नाम भी बता दिये गये हैं। अथर्ववेद में लिखा है—

एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्या कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते। तिलवत्सा ऊर्जमस्मै॥—अथर्व० १८।४।३४

अर्थात् हरिणी, श्येनी, कृष्णा और रोहिणी आदि धान, धेनु हैं। इनके तिल-रूपी बछड़े हमें बल दें। इसी प्रकार मांस आदि शब्दों के विषय में अथर्ववेद में लिखा है—

अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषा।—अथर्व० ११।३।५

---

१. The Parsi religion enjoins agriculture as religious duty and this is the whole meaning of Gomez.—Essays on the sacred language, writers and religion.

श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ।—अथर्व० ११।३।७

अर्थात्—चावल के कण अश्व हैं, चावल गौ हैं, भूसी मशक है। चावलों का श्याम भाग मांस और लाल भाग रुधिर है।

अन्य सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जो आपाततः पशुओं के नाम प्रतीत होते हैं, परन्तु आयुर्वेद के ग्रन्थों में वे पशुसंज्ञक नाम तथा अवयव वनस्पतियों तथा विशेष ओषधियों के वाचक हैं। इतना ही नहीं, वेद के व्याख्यानग्रन्थों ब्राह्मणों (प्रक्षिप्त अंशों को छोड़कर) ने भी कतिपय द्व्यर्थक शब्दों का निर्वचन किया है। उदाहरणतः शतपथ ब्राह्मण के अनुसार—

यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति ।
यदाप आनयति अथ त्वग् भवति ॥
यदा स यौत्यथ मांसं भवति ।
एषा वा संपद्याहुः पांक्तः पशुरिति ॥

अर्थात्—आटे की लोम संज्ञा है, पानी मिलने पर वह चर्म कहलाता है और गूँधे जाने पर उसकी संज्ञा मांस होती है। इस प्रकार पके हुए पदार्थ का नाम पशु है। महाभारत में निर्णायक घोषणा है—

श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां ब्रीहिमयो पशुः ।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥
सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु विद्यते ॥

अर्थात् - पूर्वकाल में याज्ञिक लोग अन्न-पशु से ही यज्ञ करते थे। मद्यमांसादि का प्रचार तो धूर्तों ने किया है। वेदों में यह कहीं नहीं हैं।

वेदों में यज्ञ के पर्यायवाची किसी भी शब्द के अर्थ से पशुवध या किसी प्रकार की हिंसा का संकेत नहीं मिलता, जबकि अध्वर शब्द से स्पष्टतः यज्ञ में हिंसा का निषेध सूचित होता है। यज्ञ में **'अध्वर्यु'** नाम से एक नियुक्ति भी इसलिए की जाती है कि वह यज्ञ में कायिक, वाचिक अथवा मानसिक किसी भी प्रकार की हिंसा न होने दे—**अध्वर्युः अहिंसं यज्ञमिच्छुः**। इतना ही नहीं, यज्ञवेदी में जल से परिपूर्ण तीन परिखायें इसलिए बनाई जाती हैं कि कोई कीड़े-मकौड़े भी अग्नि में गिरकर न जलने पायें।

Ravi Shastri

खान-पान

क्या अहिंसा के सिद्धान्त का कठोरता से पालन करनेवाला समाज, वेदों में मांसाहार के विरुद्ध अकाट्य प्रमाणों के होते हुए, अपने सदस्यों को मांसाहार की अनुमति दे सकता था? फिर भी समझदार लोगों में यह धारणा बनी हुई है कि प्राचीन आर्य लोग मांसाहारी थे। समझदार लोगों से तात्पर्य यहाँ उन लोगों से है जो पढ़े-लिखे हैं, समाज में प्रतिष्ठित हैं, किन्तु जिन्हें मूलग्रन्थ पढ़ने का अवसर नहीं मिला है या वैदिक भाषा पर जिन्हें अधिकार नहीं है। ऐसे लोग अपनी भ्रान्त धारणाओं को बलात् वेदों पर आरोपित करने की चेष्टा करते हैं। ऋग्वेद (१०।८५।१३) का प्रसिद्ध मन्त्र है—

सूर्याया वहतुः प्रगात्सविता यमत्रासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते॥

'हन्' धातु का प्रसिद्ध अर्थ हिंसा = वध करना या मारना है, परन्तु पाणिनि के अनुसार इसके निम्नलिखित अर्थ भी हैं—

गति (जाना, चलाना, प्रेरित करना आदि)
ज्ञान (जानना, समझाना, परिचित होना आदि)
प्राप्ति (पाना, प्राप्त करना, पहुँचाना आदि)

उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त 'हन्' धातु का प्रयोग इन अर्थों में भी होता है— गुणा करना, रक्षा करना, उठाना, ताड़ना, दुःख पहुँचाना, बाधा पहुँचाना, स्पर्श करना, दूर हटाना आदि।

दुर्भाग्य से प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वानों ने इसका 'मारना या वध करना' अर्थ ही लिया है और इस प्रकार अर्थ का अनर्थ कर डाला है। वैदिक इण्डेक्स (खण्ड २, पृष्ठ १४५) में लिखा है—"विवाह संस्कार के बाद भोजन के लिए बैलों को क़त्ल किया जाता था।"[1]

उक्त मन्त्र का सम्बन्ध सूर्या के विवाह नामक आख्यान से माना जाता है।

---

१. The marriage ceremony was followed by the slaying of oxen, clearly for food.

यह आख्यान भले ही अस्पष्ट हो, परन्तु यह निश्चित है कि मन्त्रान्तर्गत **'सूर्या'** और **'गावः'** इत्यादि सभी पद अलौकिक तत्त्वों के बोधक हैं। समूचे सूक्त के अध्ययन तथा पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए विवेच्य मन्त्र में गोवध की कल्पना नहीं की जा सकती। **'अघासु हन्यन्ते गावः'** का अर्थ करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है कि सविता के द्वारा सूर्या के विवाह में दी गई गौएँ मघा नक्षत्र में सूर्या के प्रति सोम के घर की ओर प्रेरित की जाती हैं। यहाँ 'हन्' धातु का अर्थ 'मारना' न होकर 'प्रेरित करना' है। वस्तुतः इस मन्त्र में सूर्य की सुषुम्णा रश्मियों के चन्द्रमा के साथ विवाह (मिलन) का आलंकारिक वर्णन है। अथवा मघा नक्षत्र (माघ मास) में सूर्य की किरणें मारी जाती हैं—मन्द पड़ जाती हैं और अर्जुनी नक्षत्र (फाल्गुन मास) में फिर चमक उठती हैं। यहाँ **'गावो हन्यन्ते'** का अभिप्राय गोवध कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेदों में सैकड़ों स्थानों पर गौ को **'अघ्न्या'**=अहन्तव्या कहा गया है।

वैदिक भाषा की एक विशेषता यह है कि यहाँ **'कृत्स्न'** (सम्पूर्ण वस्तु) के परिचायक शब्द द्वारा उसके अन्वगों (कृत्स्न से उत्पन्न उसके भागों) का भी बोध होता है।[1] सिद्धान्ततः इस बात को वैदिक इण्डेक्स' (खण्ड २, पृष्ठ २३४) में इन शब्दों में स्वीकार किया है—"गो शब्द गौ से बने पदार्थों के लिए भी प्रयुक्त होता है। गो शब्द प्रायः दूध के लिए आता है, कहीं-कहीं पशु के मांस के लिए भी आता है। कई जगह गो शब्द का अर्थ गोचर्म भी है जिसे धनुष की डोरी, गुलेल, चाबुक की रस्सी, लगाम या रथ के किसी भाग को बाँधने के लिए एक रस्सी आदि के रूप में बरता जाता है।"[2] यह जानते और मानते हुए भी वह यह लिखने में संकोच नहीं करते कि "मृतक के दाह संस्कार के लिए एक अनिवार्य कार्य के रूप में गोवध आवश्यक होता था, क्योंकि गोमांस से मृतक के शरीर को ढका जाता था।"[3] इस धारणा की पुष्टि में वहाँ ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र को उद्धृत किया गया है—

---

१. **'अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति "गोभिः श्रीणीत मत्सरम्" इति पयसः'**।—निरुक्त २।२।३।

२. The term Go (गो) is often applied to express the products of the cow. This frequently means milk, but rarely the flesh of the animal. In many passages it designates leather used as the material of various objects as a bow string or a sling or tongs to fasten parts of the chariot or reins of the lash of a whip.

३. The ritual of the cremation of the dead required the slaughter of a cow as an essential part, the flesh being used to envelop the dead body.—Ibid. P. 147.

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च।
नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन्पर्यङ्खयाते॥ १०।१६।७

यहाँ गो शब्द से तात्पर्य गौ से उत्पन्न पदार्थ घी से है, परन्तु सायण ने गोचर्म अर्थ करके मन्त्रार्थ को विकृत कर दिया है। मन्त्र का देवता अग्नि है, इसलिए यहाँ अग्निदेव के रूप में चिता की अग्नि अभिप्रेत है जो मृत शरीर को जलाती है। 'गो' शब्द का अर्थ गोचर्म किये जाने में मन्त्र के शब्दों से कोई प्रमाण नहीं मिलता। **'अग्नेर्वर्म परिगोभिर्व्ययस्व'** का अर्थ है कि मृतक के शरीर को गोघृत से उत्पन्न अग्नि की ज्वालारूपी कवच से अच्छी तरह ढक दो जिससे वह अच्छी तरह जल जाये। ऋग्वेद का यह मन्त्र अथर्ववेद १८।२।५८ में भी आया है। इस मन्त्र का भावार्थ करते हुए श्री सातवलेकरजी ने लिखा है—"मुर्दे को जलाते हुए घी पर्याप्त मात्रा में डालना चाहिए ताकि अग्नि खूब जोर से प्रज्वलित होकर उसे पूरी तरह जला दे। यास्क ने निरुक्त २।२।३ में उद्धृत **'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'** (ऋग्० ९।४६।४) का अर्थ 'गोदुग्ध के साथ सोमरस को पकाओ' लिखा है।

ऋग्वेद के निम्नलिखित दो मन्त्रों में बैल को पकाने का उल्लेख हुआ कहा जाता है—

१—**अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि तीव्रं सुतं पञ्चदशं नि षिञ्चम्।** १०।२७।२
२—**पचन्ति ते वृषभाँ अत्सि तेषां पृक्षेण यन्मघवन्हूयमानः।** १०।२८।३

वस्तुतः **'वृषभम्'** तथा **'पचन्ति'** का अर्थ सर्वत्र 'बैल' और 'पकाना' ही नहीं होता। वेद में वृषभ शब्द कई स्थानों पर **'मेघ'** और **'नरपुंगव'** अथवा समर्थ पुरुष के अर्थों में भी प्रयुक्त हुआ है। निरुक्त (९।२२।१) में इसकी निरुक्ति की गई है—**वर्षणात् वृषभः** अर्थात् वर्षा के कारण मेघ को 'वृषभ' कहा जाता है। **'पच्'** धातु का अर्थ आग पर रखकर राँधना ही नहीं है। हिन्दी में भी 'कान पक गये', 'बाल पक गये', 'फ़सल पक गई' आदि वाक्यों में पक (पच्) धातु का अर्थ 'आग पर रखकर राँधना' नहीं है। उपनिषदों में **'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते'** (कठ० १।६), **'अन्नेनाभिषिक्ताः पचन्तीमे प्राणाः'** (मैत्र्युपनिषद् ६।१२) इत्यादि वाक्यों में भी **'पच्'** का अर्थ 'आग पर राँधना' नहीं है। प्रकरणानुसार इसका अर्थ पुष्ट करना, परिपक्वता (परिणति=परिपाक) को प्राप्त करना, आत्मशक्ति को बढ़ाना, उसका विकास करना आदि भी है।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, वेदविषयक अनेक भ्रान्तियों का कारण लौकिक और वैदिक भाषा में भेद न करना है। लोक में **'उक्षा'** शब्द का अर्थ बैल है, परन्तु निरुक्त (१।४) में उक्षा 'शब्द' की निरुक्ति इस प्रकार की गई है— "**उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः उक्षन्तमुदकेनेति वा**" अर्थात् **'उक्ष'** धातु से, जिसका अर्थ वृद्धि करना और सिंचन करना है, उक्षा शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि मेघ पृथिवी का सिंचन करके ओषधियों की वृद्धि करता है, इस कारण मेघ को भी

'उक्षा' कहते हैं। वेद के शब्द यौगिक हैं, यौगिक के स्थान पर रूढ़ अर्थ लेकर ही ग्रिफ़िथ आदि ने प्राचीन (वैदिक कालीन) आर्यों के गोभक्षक होने का दुष्प्रचार कर दिया।

अथर्ववेद ९।६।३९ में सूक्त का देवता अतिथि सत्कार है। वहाँ **'एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्'** में मांस भोजन को स्वादिष्ट बताया गया कहा जाता है। इस मन्त्र से पूर्व का प्रसंग यह है कि अतिथि को भोजन कराने से पूर्व गृहस्थ को स्वयं भोजन नहीं करना चाहिए। मांस शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार **'मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदतीति वा'** (निरुक्त ४।१।३)—'मन को प्रिय लगनेवाला कोई भी उत्तम मनभावना पदार्थ' यह अर्थ लिया जा सकता है। शतपथब्राह्मण (११।७) में **'एतद्ध वै परमं अन्नाद्यं यन्मांसम्'** कहा है और अमरकोश, हेमचन्द्र, मेदिनी, शब्दार्थकौस्तुभ आदि संस्कृत कोशों में **'परमान्नं तु पायसम्'** खीर के लिए पायस शब्द का प्रयोग हुआ है। दक्षिण भारत में अभी तक खीर को परमान्न कहा जाता है।

'अतिथिग्व' शब्द का अर्थ **'अतिथीन् प्रति सेवार्थं गच्छन्'** अर्थात् अतिथियों की सेवा के लिए जानेवाले हैं। 'वैदिक एज' में श्री कन्हैयालाल मुंशी ने इसका अर्थ 'अतिथियों को गोमांस परोसनेवाला' कर दिया, परन्तु इसके लिए उन्होंने एक भी प्रमाण नहीं दिया। सायणाचार्य और महर्षि दयानन्द ने **'अतिथिग्व'** का वही अर्थ किया है जो यहाँ हमने दिया है। मोनियर विलियम्स ने अपनी Sanskrit English Dictionary में इस शब्द का अर्थ 'To whom guests should go' किया है। ब्लूमफ़ील्ड ने उसका अर्थ 'Presenting cows to guests' किया है।

सोमरस

वेद में सोमरस का उल्लेख प्रायः मिलता है। सोमपान सम्बन्धी उल्लेखों तथा विभिन्न प्रक्रियाओं के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि सोम कोई जड़ी-बूटी है जिसका रस पीनेवाला नशे में झूम उठता है। ऋग्वेद ९।११४।२ में इसे लताओं का पति कहा है—**'यो जज्ञे वीरुधां पतिः'**। इसी प्रकार अथर्ववेद में कहा है—**'सोमो वीरुधामधिपतिः स मामवतु।'** ऋग्वेद ९।९७।३३ में सोम के लिए **'सुपर्ण'** विशेषण प्रयुक्त है। यह सम्भव है कि सोम किसी लता का नाम हो जिसका चूर्ण अथवा रस औषध निर्माण में प्रयुक्त होता हो। गिलोय को भी सोमनाम से जाना जाता है। ऋग्वेद १।२३।२० में **'सोमोऽन्तर्विश्वानि भेषजा'** लिखा है।

अनेक शब्दों की भाँति सोम भी अनेकार्थवाची है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार **'एतद्वै देव सोम यच्चन्द्रमा'**—चन्द्रमा को सोम का पर्याय बताया है। ऋग्० १०।८५।१ में सोम की स्थिति द्युलोक में बताई है—**'दिवि सोमो अधिश्रितः'**। यह भी कहा जाता है कि वह १५ दिन तक बढ़ता रहता है और १५ दिन तक घटता रहता है। पारस्करगृह्यसूत्र में उसे **'नक्षत्राणामधिपतिः'** तथा **'ओषधीनामधिपतिः'** कहा है। ऋग्वेद १०।८५।२ में लिखा है—**'नक्षत्राणामुपस्थे सोम आश्रितः'**। तथा वहीं (१०।८५।४) यह भी कहा है—**'न ते अश्नाति पार्थिवः'**। ये सब लक्षण चन्द्रमा में घटते हैं।

परन्तु सोम का यह रूप सुरा का विरोधी है। शतपथ ५।१।२ के अनुसार **'सत्यं श्रीर्ज्योति सोमः। अमृतं पाप्मा तमः सुरा'**—सोम अमृत है तो सुरा विष है।

अब तक जो कहा है वह सोम का स्थूल एवं भौतिक रूप है। वास्तविक सोमपान तो प्रभुभक्ति है जिसके रस को पीकर—उसमें मग्न होकर—प्रभुभक्त आनन्दमय हो जाता है—**'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'** (तै० उप० २।७)। वेदों में सोम के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह प्रायः इसी को लक्ष्य करके कहा गया है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है—

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य॥ ८।४८।३

अर्थात्—हमने सोमपान कर लिया है, हम अमृत हो गये हैं, हमने ज्योति को प्राप्त कर लिया है, विविध दिव्यताओं को हमने अधिगत कर लिया है। हे अमृत-मय परमदेव ! मनुष्य की शत्रुता या धूर्त्तता अब हमारा क्या कर लेगी ?

इस सोम के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि परब्रह्म की भक्तिरूप रस सोम अत्यन्त स्वादिष्ट है, तीव्र है और आनन्द से युक्त है। इस ब्राह्म सोम का जिसने पान कर लिया है, उसे कोई पराजित नहीं कर सकता।

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ॥

—ऋ० ६।४७।१; अ० १८।१।४८

इस परमात्मदेव से सम्बद्ध सोमरस का पान करके साधक की आत्मा अद्भुत ओज, पराक्रम आदि से युक्त हो जाती है और वह सम्पूर्ण भुवन को आच्छादित कर देती है, अर्थात् वह सांसारिक द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है।[1] इस सोमरस के पीने से किसी प्रकार का अभिमान उत्पन्न नहीं होता, कोई थकावट नहीं होती। यह तृष्णा को शान्त करता है, ज्ञान-विज्ञान, शक्ति और शुभ प्रवृत्तियों को जन्म देता है।

इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि संसार की सभी नशीली चीज़ें अभिमान को पैदा करती हैं। उनके पीने से थकान होती है, आलस्य और प्रमाद उत्पन्न होते हैं, ज्ञान और चेतना नष्ट होती है और तामसिक वृत्तियाँ पनपती हैं। स्पष्ट है कि वैदिक सोम सांसारिक सुरा से सर्वथा भिन्न वस्तु है, वह नितान्त अलौकिक है। वेद के एक मन्त्र में प्रभुभक्तिरूप सोम को समस्त सांसारिक स्वादों की अपेक्षा अधिक स्वादिष्ट बताया गया है, सभी मधुर एवं आनन्दप्रद वस्तुओं में सर्वाधिक आनन्दप्रद (मदिष्ठ) कहा गया है। सोम से प्रार्थना की गई है कि इन्द्र-रूप आत्मा के पान के लिए अपनी इस प्रकार की स्वादिष्ट और मदिष्ठ धारा से प्रवाहित होता रहे। यह मन्त्र तीनों वेदों में मिलता है।[2]

वेद के अध्यात्म-व्याख्याकारों में मूर्धन्य श्री अरविन्द के अनुसार सोम आनन्द के रस का और अमृत के रस का अधिपति है। ऋग्वेद ९।८३ की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस सूक्त के सोमवर्णन को आलंकारिक बताया है। इस वर्णन में सोमरस को छानकर शुद्ध करने तथा इसे कलश में भरने के भौतिक कार्यों के साथ पूरा-पूरा रूपक बाँधा गया है। द्यौ के पृष्ठ पर तनी हुई छाननी[3] या परिशुद्ध करने का

---

१. अस्य पीत्वा मदानां देवो देवस्यौजसा। विश्वाभि भुवना भुवत् ॥
—ऋग्० ८।९२।६।

२. स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः॥ ऋ० ९।१।१

३. तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे—ऋग्० ९।८३।२।

उपकरण ज्ञान (चेतस्) से प्रकाशित मन है और मनुष्य का भौतिक शरीर सोमरस से परिपूर्ण कलश है।[1]

ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में 'सोम' शब्द का अर्थ प्रसंगानुसार ईश्वर, राजा, सेनापति, विद्युत्, वैद्य, सभापति, प्राण, अध्यापक, उपदेशक इत्यादि किया है। कुछ स्थलों में वे सोम का अर्थ ओषधि, ओषधिरस और सोमलता नामक ओषधिविशेष भी करते हैं, परन्तु सोम को सुरा या मादक वस्तु के रूप में कहीं ग्रहण नहीं किया है।

जुआ

ऋग्वेद में एक पूरा सूक्त (१०।३४) द्यूत की बुराइयाँ बताने के लिए है। उसके नवम् मन्त्र में जुए के पासों को अंगारों के समान बताया है जो ऊपर से शीतल दीखने पर भी हृदय को जलानेवाले होते हैं।[2] इसके आगे कहा है कि जुआरी की पत्नी बड़ी दुखी रहती है। उसकी माता इधर-उधर भटकती रहती है।[3] अन्य अनेक दोष गिनाने के बाद कहा है—"हे मनुष्य ! जुआ मत खेल, खेती कर। धर्म और परिश्रमपूर्वक धन कमा। ऐसा करने से ही तुझे उत्तम गौवें प्राप्त होंगी और पारिवारिक सुख मिलेगा। यह ईश्वर का आदेश है।"[4] इतने स्पष्ट शब्दों में जुए का निषेध होते हुए तत्कालीन लोगों के जुए में प्रवृत्त होने की कल्पना नहीं की जा सकती।

---

१. श्री अरविन्द: वेदरहस्य, पूर्वार्द्ध, पृ० ४४१-४४६।

२. दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति। १०।३४।९

३. जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्। १०।३४।१०

४. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥
—ऋ० १०।३४।१३

सामाजिक जीवन

वैदिक आर्यों के सामाजिक ढाँचे का परिचय हमें ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में मिलता है। जातिभेद के नाम से कुख्यात इस वैज्ञानिक व्यवस्था का मूल ऋग्वेद के इस मन्त्र में उपलब्ध है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

—१०।९०।१२

समाज में ब्राह्मण मुखस्थानीय है, क्षत्रिय बाहु-स्थानीय, वैश्य ऊरु-स्थानीय तथा शूद्र पद-स्थानीय है, अर्थात् शरीर में जो स्थान मुख का है, समाज में वही स्थान ब्राह्मण या बुद्धिजीवी का है। इसी प्रकार शरीर में जो स्थान भुजाओं का है, वही स्थान समाज या राष्ट्र में क्षत्रिय का है; जो स्थान शरीर में ऊरु (जंघा से लेकर कटिभाग तक जिसमें उदर भी शामिल है) का है, वही स्थान समाज में वैश्य का है और जो स्थान शरीर में पैरों का है, वही स्थान समाज में शूद्र या श्रमजीवी का है। यहाँ मुखादि अवयवों का नाम लेकर समाज में ब्राह्मणादि के सामर्थ्य तथा कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। मुख (सिर) में सब ज्ञानेन्द्रियों का समावेश है, इसलिए ज्ञान के संग्राहक तथा प्रवक्ता वर्ग को समाज में शीर्षस्थ माना गया है। बल के आधार पर शरीर की रक्षा में समर्थ बाहुओं के समान समाज या राष्ट्र की रक्षा में समर्थ तथा प्रवृत्त वर्ग को बाहु-स्थानीय कहा गया है। उदर का काम समस्त खाद्य पदार्थों का संग्रह कर समूचे शरीर को यथायोग्य बाँटना है। इसलिए समाज में कृषि, व्यापार आदि के द्वारा भौतिक पदार्थों का उत्पादन व संग्रह करके समाज के सभी घटकों में उसका समुचित वितरण करने के कारण वैश्य को ऊरु-स्थानीय कहा है। गति के बिना किसी भी कार्य का सम्पादन सम्भव नहीं। शरीर को गति देना पैरों का काम है। समाज के सभी वर्गों को अपने-अपने काम में सहायता देने के कारण शूद्र को पद-स्थानीय कहा गया है। उदाहरणार्थ वाणिज्य, कृषि, भूसम्पदा आदि पर वैश्य का अधिकार है, पर उत्पादन के लिए वह श्रमिकवर्ग या शूद्र पर निर्भर है। इस वर्णन में कहीं भी ऊँच-नीच, बड़े-छोटे

या स्पृश्य-अस्पृश्य का संकेत नहीं है। अपने-अपने स्थान पर सभी समानरूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

वेद की काव्यात्मक वर्णनशैली के रहस्य को न समझने के कारण ही इस मन्त्र के आधार पर लोगों ने जन्मना जातिवाद की कल्पना को प्रश्रय दिया। वास्तव में वह वर्ण विभाजन सामाजिक आवश्यकता से जुड़ा था। अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार अपने लिए वर्ण को चुनने के लिए हर कोई स्वतन्त्र था। चुनाव कर लेने के बाद प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती थी कि वह अपनी क्षमता का उत्तरोत्तर विकास करते हुए अपनी प्रवृत्ति, योग्यता और शक्ति के द्वारा समाज को पुष्ट करे। वही प्रवृत्ति उसकी जीविका का साधन बन जाती थी।

वेद द्वारा प्रतिपादित यह व्यवस्था इतनी स्वाभाविक, वैज्ञानिक एवं सार्वभौम है कि जाने-अनजाने उसे सबको अपनाना पड़ता है। वेद ने जिस वर्ग को ब्राह्मण का नाम दिया, उसी को वर्त्तमान में बुद्धिजीवी या Intellectuals के नाम से सम्बोधित किया जाता है। वेद के क्षत्रिय को सेना या पुलिस अथवा Army, Military, Defence Forces जैसे नाम से पुकारा जाता है। इसी प्रकार वैश्य को कृषक और व्यापारी वर्ग अथवा Business Community और शूद्र को श्रमजीवी या Labour Class के नाम से जाना जाता है। परन्तु वेद द्वारा नियत शब्दों के अर्थों में जो वैशिष्ट्य, गाम्भीर्य और व्यापकता है, वह प्रचलित नामों में नहीं है। इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि वर्ण-व्यवस्था मूलतः गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार की गई थी। वसिष्ठ, सत्यकाम और अगस्त्य जैसे अज्ञातकुल-शील व्यक्तियों का समाज में ससम्मान स्वीकार किया जाना इस बात का अच्छा प्रमाण है कि वैदिककाल में वर्णव्यवस्था का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं था।

पुरुषसूक्त ऋग्वेद के दसवें मण्डल में आता है जिसे बाद में रचा गया माना जाता है। इससे यह समझ लिया जाता है कि प्राचीन सूक्तों के रचनाकाल में वर्ण-व्यवस्था का अस्तित्व नहीं था।[1] इसकी पुष्टि में एक ही परिवार के अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग पेशे अपनाये जाने के साक्ष्यरूप यह मन्त्र दिया जाता है—

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽ नु गाइव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रवः॥

—ऋ० ९।११२।३

अर्थात्—मैं कारीगर हूँ, मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता चक्की पीसती है। इस प्रकार नाना प्रकार की बुद्धि रखनेवाले किन्तु धन की इच्छा रखनेवाले हम सब अपने-अपने कार्य का अनुष्ठान करते हैं और एक बाड़े में रहनेवाली गौओं की

---

१. काणे—हिस्ट्री आफ़ धर्मशास्त्र, १।१११; अल्तेकर, १९५९, २२५ आदि।

तरह प्रेमपूर्वक एक ही घर में रहते हैं।

परन्तु जो लोग ऐसा मानते हैं, उनके अनुसार तो दशम मण्डल की तरह नवम मण्डल भी वाद में रचा गया था। तब यदि दशम मण्डल का प्रामाण्य नहीं है तो नवम मण्डल का प्रामाण्य कैसे? वस्तुतस्तु सम्पूर्ण ऋग्वेद की रचना एकवारगी हुई है। जहाँ तक प्रस्तुत मन्त्र (९।११२।३) का सम्बन्ध है, इसमें वर्णव्यवस्था का निषेध न होकर जन्म अथवा पारिवारिक परम्परा के आधार पर वर्णव्यवस्था का निषेध किया है। एक घर में अनेक लोग रहते हैं, वे सब अपनी-अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार अलग-अलग पेशा अपनाने में स्वतन्त्र हैं। एक डाक्टर बन जाता है, दूसरा इन्जीनियर बन जाता है, तीसरा अध्यापक है और चौथा किसी व्यापार में लग जाता है, परन्तु वे सब एक साथ आनन्दपूर्वक रहते हैं। इसी प्रकार अलग-अलग धन्धा करनेवाले लोग एक परिवार, एक ग्राम तथा एक देश में आनन्दपूर्वक रह सकते हैं। यह आवश्यक नहीं कि एक परिवार के सब सदस्यों को पारिवारिक परम्परा के आधार पर एक ही जैसा कार्य करना पड़े। इससे अधिक यह मन्त्र कुछ नहीं कहता।

हड़प्पा सभ्यता की कलात्मक उपलब्धियों को देखकर कौन कह सकता है कि ये काम तकनीकी दक्षता और तदनुकूल प्रशिक्षण के बिना सम्भव थे। यह भी निश्चित है कि कार्य-विभाजन के बिना इतनी दक्षता प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए यह स्वीकार करना होगा कि वर्णव्यवस्था के आधार पर कार्य-विभाजन हड़प्पा काल में था। पर भारत में वर्णव्यवस्था की स्थापना के लिए आर्यों को ही ज़िम्मेदार ठहराया जाता है। ऐसी स्थिति में आर्यों को हड़प्पा सभ्यता से पूर्व-कालिक मानना होगा। यदि हड़प्पा सभ्यता को वैदिक सभ्यता से पूर्वकालिक माना जाये तो प्रश्न उपस्थित होता है कि कार्य-विभाजन के रहते आर्यों को नये सिरे से यह विभाजन करने के लिए वर्णव्यवस्था चालू करने की क्या आवश्यकता थी?

यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि वर्ण अर्थात् रंग को वैदिक वर्णव्यवस्था का आधार नहीं माना जा सकता। भारतीय सन्दर्भ में गोरे और काले या साँवले का अर्थ यह नहीं होता जो यूरोपीय सन्दर्भ में होता है। तथापि राम, कृष्ण, आंगिरस, श्याव काण्व और चाणक्य जैसे उच्च वर्णस्थ किसी भी प्रकार गोरे नहीं माने जा सकते और न एक शूद्र (मल्लाह) की सन्तान होने के कारण सत्यवती को काली माना जा सकता है। वर्णव्यवस्था का एकमात्र आधार गुण-कार्य-स्वभाव रहा है। कालान्तर में गुण-कर्म-स्वभाव का स्थान जन्म ने ले लिया, पर रंग को उसका आधार कभी नहीं माना गया।

Ravi Shastri

स्त्रियों की स्थिति

वैदिक काल में नारी की स्थिति अत्यन्त उच्च, सम्मानित तथा गौरवमयी थी। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर हम कह सकते हैं कि जैसी गौरवास्पद स्थिति नारी की वैदिक सभ्यता के काल में थी, वैसी संसार के इतिहास में कहीं नहीं मिलती। वेद में उसे पति के समकक्ष रक्खा गया था। जैसे पत्नी के लिए पति आदर और स्नेह का पात्र था, वैसे ही पति के लिए पत्नी भी सम्मान और स्नेह के योग्य थी। वेद के अनुनार पत्नी को ही घर माना जाता था।[1] वेद में पति और पत्नी दोनों को दम्पती (दम-पती=घर के स्वामी) कहा गया है। वैदिक इण्डेक्स के लेखक मैकडानल और कीथ ने इस शब्द के विवरण में लिखा कि द्विवचनान्त रूप में पति-पत्नी दोनों के लिए संयुक्त रूप में 'दम्पती' शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि आर्यसमाज में पत्नी को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त था। पुरुष और स्त्री परिवाररूप, समाजरूप और राष्ट्ररूप रथ के दो चक्र हैं जिनमें से किसी एक के बिना अथवा उनमें बराबरी के बिना रथ गति नहीं कर सकता।

विवाह संस्कार के अवसर पर पढ़े जानेवाले मन्त्रों में कहा गया है—पुरुष द्यौलोक है तो स्त्री पृथिवी है, पुरुष साम है तो स्त्री ऋक् है।[2] दोनों में सामंजस्य होने पर सृष्टि का कार्य सम्पन्न होता है। इसलिए पति-पत्नी दोनों एक साथ कामना करते हैं कि सब देव—विवाह-मण्डप में उपस्थित विद्वान् तथा वृद्धजन हम दोनों को एक कर दें। हम दोनों के हृदय मिलकर ऐसे एक हो जायें जैसे पानी में मिलकर पानी एक हो जाता है।[3] पतिगृह में प्रत्येक सदस्य की दृष्टि में नववधू उच्च सिंहासन पर आसीन है। वेद के अनुसार वह पतिगृह में दासी बनकर नहीं, सम्राज्ञी बनकर आती है; केवल पति की दृष्टि में नहीं, अपितु सास, ससुर, देवर,

---

१. जाया इद् अस्तम्।—ऋग् ३।५३।४; तुलनीय—न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। महा० १२।१४५।६

२. सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्।

३. समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।—ऋक्० १०।८५।४७

नन्द—सबकी दृष्टि में वह सम्राज्ञी होती है।[1]

वेद के अनुसार जब लड़का और लड़की ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर युवक और युवती हो जाते हैं, तभी उनका विवाह होना उचित है। अथर्ववेद में कहा है कि ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण करने के पश्चात् कन्या युवा पति प्राप्त करती है।[2] युवा और युवती ही विवाह के अधिकारी हैं, इस विषय के प्रतिपादक अनेक मन्त्र वेदों में मिलते हैं।[3] विवाह के लिए वर तथा कन्या दोनों की सहमति होना आवश्यक था —ऋक्० १०।२७।१२।

वेदों में नारी को हीन दृष्टि से देखा जाता था, इसकी पुष्टि में एक तर्क यह दिया जाता है कि वेदों में सर्वत्र पुत्र ही माँगा गया है, पुत्री की कामना कहीं नहीं दिखाई देती। परन्तु वास्तव में यह स्थापना सही नहीं है। वेदों में सर्वाधिक प्रार्थनायें 'प्रजा' शब्द से की गई हैं और प्रजा से पुत्र-पुत्री दोनों का ग्रहण होता है। उदाहरणार्थ—**प्रजायेमहि रुद्र प्रजाभिः** (ऋ० २।३३।१); **अग्निः प्रजां बहुलां मे करोतु** (यजु० १९।४८); **आप्यायमाना प्रजया धनेन** (ऋ० १०।१८।२); **इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु** (ऋ० १४।१।५४)। ऐसे भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनमें स्पष्टतः पुत्री या कन्या की कामना की गई है। उदाहरणतः—**मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्** (ऋक्० १०।१५९।३); **पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः** (ऋ० ८।३१।८); **आ भक्षत् कन्यासु नः** (ऋ० ९।६७।१०)। यजुर्वेद की प्रसिद्ध राष्ट्रीय प्रार्थना में जहाँ राष्ट्र में विजयशील, सभ्य और वीर युवकों की कामना की गई है, वहीं बुद्धिमती नारियों (**पुरन्धिर्योषाः**) के उत्पन्न होने की भी प्रार्थना की गई है।

वैदिक आर्यों को कन्या अभीष्ट नहीं थी, इसकी पुष्टि में दो मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं। पहला है—**स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह** (अथर्व ६।११।३), अर्थात् स्त्री का जन्म अन्यत्र कहीं हो, इस गर्भ से तो पुरुष सन्तान ही हो। सब जानते हैं कि आयुर्वेद का मूल अथर्ववेद में है। जिस सूक्त का यह मन्त्र है, उसमें कुल तीन मन्त्र हैं। जिस स्त्री के गर्भ से केवल कन्यायें ही उत्पन्न होती हों, इसमें उसकी चिकित्सा का वर्णन है। शमी वृक्ष के ऊपर उगे पीपल की जड़, छाल, पत्र, फल आदि के समुचित प्रयोग से उस स्त्री का यह दोष दूर हो सकता है, इसका

---

१. **सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।**
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥—ऋक्० १०।८५।४६
त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य।—अथर्व० १४।१।४३

२. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।—अथर्ववेद ११।५।१८

३. उदाहरणतः—ऋग्वेदः १।२३।१०; १।१६७।६; २।३५।४; ३।५४।१४; ३।५५।१६; ५।२।१; ५।६१।९; ७।१।६; ७।८०।२; १०।३०।६; १०।४०।११

संकेत इस सूक्त में है। उक्त प्रयोग से वह नारी पुत्र का प्रसव करे, कन्याजन्म वहाँ हो जहाँ कन्या अपेक्षित है। इससे कन्या की अवांछनीयता सिद्ध नहीं होती।

दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—**पिङ्ग रक्ष जायामानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्** (अथर्ववेद ८।६।२५)। इसका अर्थ यह किया जाता है कि हे पति! उत्पन्न होनेवाले पुत्र की रक्षा करो, उसे स्त्री न बनाओ। यह मन्त्र गर्भ रक्षा के प्रकरण का है। 'पिङ्ग' ओषधिविशेष का नाम है। सायण के अनुसार यह सफ़ेद सरसों (गौर सर्षप) है। 'पिङ्ग' ओषधि के प्रयोग से गर्भपिण्ड के भक्षक (आण्डाद) रोगक्रमियों को नष्ट किया जा सकता है, मन्त्र में इसका उल्लेख हुआ है। पूरा मन्त्र और इसका अर्थ इस प्रकार है—

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्।
आण्डादो गर्भान् मा दभन् बाधस्वेतः किमीदिनः॥

हे पिङ्ग ओषधि, तू उत्पन्न होनेवाले शिशु की रक्षा कर। गर्भाण्ड को खा जानेवाले रोगक्रमि गर्भ में, चाहे पुत्र हो या कन्या, उसे पीड़ित न करें। वे गर्भों को नष्ट न करने पायें। यहाँ से, गर्भाशय से गर्भभक्षक रोगक्रमिरूप राक्षसों को दूर कर।

'मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्' का 'गर्भस्थ पुरुष को स्त्री न बना' यह अर्थ संगत भी नहीं है, क्योंकि गर्भ में यदि वस्तुतः पुत्र है तो उसे पुत्री कौन बना सकता है? अगले ही मन्त्र में नारी गर्भाशय के दोष बताये हैं—**'अप्रजास्त्वं मार्तवत्सम्'** (मन्त्र २६) अर्थात् गर्भ स्थित न होने के कारण सन्तान न होना अथवा मृत सन्तान होना। ये रोग पिङ्ग ओषधि द्वारा दूर किये जा सकते हैं।

वेद में नारी की स्थिति को हीन और निन्द्य बतलाने के लिए जो मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं, उनमें पहला है—

इन्द्रश्चिद् घा तदब्रवीत् स्त्रिया अशास्यं मनः। उतो अह क्रतुं रघुम्॥

—ऋ० ८।३३।१७

इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया जाता है—"स्वयं इन्द्र ने कहा है कि स्त्री के मन पर शासन नहीं किया जा सकता। उसकी बुद्धि तुच्छ होती है। सायण ने भी इस मन्त्र का यही अर्थ किया है। पर इसका वास्तविक अर्थ यह है कि पुरुष के समान स्त्री भी विचार करने में स्वतन्त्र है। उसके विचारों का परिवार या समाज को लाभ मिलना चाहिए। इसलिए स्त्री के मन पर शासन या अंकुश नहीं लगाना चाहिए। इस मन्त्र में दूसरी बात यह कही गई है कि स्त्री का क्रतु रघु होता है। वैदिक कोश निघण्टु के अनुसार क्रतु शब्द का अर्थ बुद्धि और कर्म होता है। लौकिक संस्कृत में रघु शब्द का एक अर्थ छोटा या तुच्छ भी होता है, पर वैदिक भाषा में इसका यह अर्थ कहीं नहीं मिलता। वेदों में यह शब्द विभिन्न विभक्तियों में तथा समस्तरूप में ३७ बार प्रयुक्त हुआ है और सर्वत्र इसका अर्थ फुर्तीला,

क्रियाशील या वेगवान् किया गया है।[1] फिर नारी के प्रसंग में ही इसका अर्थ 'तुच्छ' क्यों किया जाये ? **'उतो अह क्रतुं रघुम्'** का सही अर्थ यह होगा कि नारी का क्रतु अर्थात् उसकी बुद्धि और क्रियाशीलता बहुत तीव्र होती है। इस प्रकार यह मन्त्र नारी की हीनता का द्योतक न होकर उसकी गरिमा या प्रशंसा का द्योतक है।

नारी की निन्दा करनेवाला या आर्यों की दृष्टि में उसे हीन सिद्ध करनेवाला मन्त्र इस प्रकार है—**"न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता"** (ऋग्० १०।९५।१५)। अर्थात् स्त्रियों से मित्रता करना अच्छा नहीं होता, उनकी मित्रता लक्कड़बग्घे के समान क्रूर होती है। आपाततः यह मन्त्र स्त्री-निन्दा परक ही प्रतीत होता है। परन्तु पूर्वापर प्रसंग को देखने के बाद अर्थ करने पर वास्तविकता सामने आ जाती है। यह मन्त्र पुरुरवा और उर्वशी के संवाद में आया है। पुरुरवा अत्यन्त कामासक्त है। उसे सन्मार्ग पर लाने के लिए स्वयं उर्वशी का यह वक्तव्य है। भला स्वयं स्त्री अपनी निन्दा क्यों करने लगी ? इसका अभिप्राय यह है कि स्त्रियों के साथ अत्यधिक कामासक्ति ठीक नहीं होती। अन्ततः यह पुरुष के लिए लकड़बग्घे के समान घातक सिद्ध होती है। वेद में यत्र-तत्र अनेकत्र उपलब्ध नारी के स्तुतिपरक वचनों के रहते अल्पज्ञों द्वारा प्रस्तुत अर्थों को स्वीकार करने से तो वेद में वदतोव्याघात का दोष आरोपित होगा।

कतिपय विद्वानों का मत है कि वैदिककाल में बहुपत्नी-प्रथा प्रचलित थी। ऋग्वेद (१०।१४५।१) तथा अथर्ववेद (३।१८।१) के आधार पर वे कहते हैं कि वैदिककाल में एक पुरुष की कई पत्नियाँ हुआ करती थीं और स्त्रियों का सारा समय अपनी सौतों के अनिष्ट-चिन्तन में बीतता था। वह मन्त्र यह है—

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्॥

ऋग्वेद में इस सूक्त को उपनिषत् कहने से ही यह स्पष्ट है कि इसका प्रतिपाद्य अध्यात्म है, अर्थात् इसमें किसी आध्यात्मिक रहस्य का वर्णन हुआ है। यदि सपत्नियों के निवारण पक्ष में ही इस मन्त्र पर विचार किया जाये तो भी इतना तो स्पष्ट है कि उसमें यह कहीं नहीं कहा है कि किसी स्त्री की कई सौतें विद्यमान हैं और वह उनको नष्ट करके पति पर एकाधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। इस मन्त्र में जो कुछ कहा गया है, वह ऐसी स्त्री के विषय में कहा गया हो सकता है जिसकी सौतें हैं तो नहीं, किन्तु निस्सन्तान होने के कारण उसे भय है कि कहीं उसका पति दूसरा विवाह करके सौत को ले न आये। मन्त्रार्थ के अनुसार

---

१. उदाहरणतः ऋग्० ४।५।१३; ५।३०।४; ५।४५।६; १०।४६।२

ऐसी स्त्री कह रही है कि मैं अमुक ओषधि[1] खोदकर लाती हूँ तथा उसका सेवन करती हूँ जिससे मैं सन्तान उत्पन्न कर सकूँगी और सम्भावित सपत्नी के भय से मुक्त हो जाऊँगी। सन्तानोत्पादन का सामर्थ्य प्रदान करनेवाली ओषधियों में यह सर्वाधिक बलवती है जिसके प्रयोग से कोई भी स्त्री सौत आने को रोक सकती है और इस प्रकार अपने पति को जीत सकती है।

भाष्यकारों के अशुद्ध अर्थों के कारण ही इस प्रकार की भ्रान्ति फैली है। वेद की दृष्टि में एकाधिक पत्नी का होना अत्यन्त विकट है। ऋग्वेद में कहा है कि रथ में दोनों धुरों के बीच में जुता हुआ, कष्ट से हिनहिनाता हुआ घोड़ा ऐसे चल रहा है, जैसे घर में दो पत्नियोंवाला पुरुष दोनों ओर से खींचा जाता हुआ, कष्ट में बकझक करता हुआ अपने दिन काटता है।[2]

वेद विधवाओं को अभिशप्त जीवन बिताने के लिए विवश नहीं करता। अपितु वे चाहें तो पुनर्विवाह करके सुख-सुविधापूर्ण तथा सम्मानित जीवन-यापन के लिए स्वतन्त्र हैं। पति के मरने पर उसके पास बैठकर विलाप करना स्वाभाविक है। कुछ काल के पश्चात् वहाँ उपस्थित लोग उस विधवा को सान्त्वना देते और ढाढस बँधाते हुए कहते हैं—

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥

—ऋ० १०।१८।८ अथर्व० १८।३।२

हे नारि! तू इस निष्प्राण पति के पास पड़ी हुई है। आ, जीवितों के लोक में आने के लिए उठ। तेरा पाणिग्रहण करनेवाले तथा भरण-पोषण करनेवाले पति की सन्तान को तू पा चुकी है—इसी के पालन-पोषण में मन लगा।

एतद्विषयक दूसरे मन्त्र में कहा गया है—

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥

—अथर्व० १८।३।१

इस मन्त्र में मृत पुरुष को कहा जा रहा है कि प्राचीन काल से चली आ रही परम्परा के अनुसार हम तेरी पत्नी को पतिलोक (पतिगृह) में रक्खेंगे। अब तेरी सन्तान और सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी यही होगी। यह अधिकार उसी अवस्था में प्राप्त होगा जब वह देवर के साथ विवाह करके अथवा बिना विवाह के उसी घर में जीवन व्यतीत करेगी। किन्तु यदि वह अन्यत्र विवाह करके इस घर को

---

१. अथर्ववेद, काण्ड ४, सूक्त १७ के अनुसार वन्ध्यात्व अथवा अनपत्यता रोग अपामार्ग नामक ओषधि के प्रयोग से ठीक हो जाता है।

२. उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।—१०।१०१।११

छोड़ देगी तो वह इस अधिकार से वंचित हो जायेगी।

विधवा के पुनर्विवाह का स्पष्ट विधान अथर्ववेद के निम्न मन्त्र में किया है—

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेऽपरम्।
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः॥

—अथर्व० ९।५।२७-२८

जो स्त्री पहले पति को प्राप्त करके पुनः उससे भिन्न पति को प्राप्त करती है, पुनः पत्नी होनेवाली स्त्री के साथ यह दूसरा पति एक ही गृहस्थलोक में वास करनेवाला हो जाता है।

वेद में सती प्रथा या सहमरण का समर्थन कहीं नहीं किया है। मृतपति के पास से हटकर पुनर्विवाह की अनुमति देनेवाला मन्त्र यह है—

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम्॥

—अथर्व० १८।३।३

मैंने विधवा युवति को मृतों के बीच से अर्थात् श्मशान से जीवित ले जाई जाती हुई तथा पुनर्विवाह की जाती हुई को देखा है, क्योंकि यह पतिविरहजन्य दुःखरूप घोर अन्धकार से प्रावृत थी, इस कारण इसे पूर्वपत्नीत्व से हटाकर दूसरा पत्नीत्व मैंने प्राप्त करा दिया है।

मन्त्र का पूर्वार्द्ध पुनर्विवाह के प्रत्यक्षदर्शी की ओर से कहा गया है तथा उत्तरार्द्ध पुनर्विवाह करानेवाले की ओर से। यहाँ युवति शब्द द्रष्टव्य है। यदि विधवा नारी युवति है तो उसका दूसरा विवाह हो जाना ही अच्छा है—इससे यह ध्वनित होता है। सतीप्रथा का मूल जिस मन्त्र में बताया जाता है, वह इस प्रकार है—

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥

—ऋग्० १०।१८।७; अथर्व० १८।३।५७

इस मन्त्र का सीधा अर्थ है—ये पति से युक्त नारियाँ (अविधवाः) पतिव्रता बनकर सुगन्धित पदार्थों से सुशोभित होकर स्वगृह में प्रवेश करें। वे अश्रुरहित, रोगरहित, सुन्दर आभूषण आदि से सुसज्जित तथा श्रेष्ठ गुणोंवाली सन्तानों को जन्म देने में समर्थ स्त्रियाँ घर में पहले—आगे प्रवेश करें। इस मन्त्र में किसी ने जानबूझकर या अनजाने 'अग्रे' को 'अग्ने' बनाकर विधवा के पति के शव के साथ जल मरने की प्रथा को चालू किया और उसे सती का नाम दे डाला। परन्तु मन्त्रगत 'अविधवा नारीः' शब्दों से सर्वथा विस्पष्ट है कि यहाँ जो कुछ कहा गया है, वह 'सधवा' (पति से युक्त) नारी के विषय में कहा गया है। 'अग्ने' पद मानने पर मन्त्रगत अन्य सभी शब्द निरर्थक या असंगत हो जाते हैं। मैक्समूलर ने इस

विषय में लिखा है—"विवेकहीन धर्म के ठेकेदार क्या कुछ कर सकते हैं, शायद यह उसका अत्यन्त ज्वलन्त उदाहरण है। एक सन्दर्भ को तोड़-मरोड़कर, उसके अशुद्ध अर्थ करके और उसका मिथ्या विनियोग करके हज़ारों की हत्या कर दी गई।"[1]

प्रत्येक गृहस्थ के लिए यज्ञ करना अनिवार्य है और पत्नी के बिना यज्ञ अधूरा है, क्योंकि **'अर्धो वा एष यो यज्ञस्य यत्पत्नी'** (शत० २।५।२।२६)—पत्नी निस्सन्देह यज्ञ का आधा भाग है। इसलिए पत्नी के बिना पुरुष यज्ञ करने का अधिकारी नहीं है—**'अयज्ञो वा एष यो अपत्नीकः'**—तै० ब्रा० २।२।२।६

---

१. This is perhaps the most flagrant instance of what can be done by an unscrupulous priest-hood. Here have the lives of thousands been sacrificed on the authority of a passage which was mangled, mistranslated and misapplied.

Ravi Shastri

अन्त्येष्टि

यजुर्वेद (४०।१७) में बताया है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ् शरीरम् ।

अर्थात् जीवात्मा (**वायुः**) अपार्थिव=अभौतिक (**अनिलं**) होने से नित्य अविनाशी (**अमृतम्**) है। किन्तु (अथ) शरीर (**शरीरं**) भस्म होने पर समाप्त हो जाता है (**भस्मान्तम्**)।

इससे स्पष्ट है कि वेद के अनुसार अन्त्येष्टि का अर्थ शरीर को जलाना है। आर्यों में आज भी प्रायः यही रीति अपनाई जाती है, परन्तु पाश्चात्य एवं तदनुयायी विद्वानों के अनुसार वैदिक काल में अन्त्येष्टि की दो रीतियों का प्रचलन बताया जाता है—शवदाह और समाधि, अर्थात् शव को जलाना और धरती में गाड़ना। इस मत की पुष्टि में वेद के ये तीन मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ।।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधया जुषन्ताम् ।।

—अथर्व० १८।२।३४-३५

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशन्तन्वङ्कल्पयाति ।। यजु० १९।६०

वैदिक इण्डेक्स के लेखक 'अग्निदग्ध' और 'अनग्निदग्ध' शब्दों से क्रमशः शव के जलाये जाने और गाड़े जाने का ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार वे 'निखाता' से धरती में गाड़े गये, 'परोप्ता' से पारसियों की तरह जानवरों के खाने के लिए छोड़े गये तथा 'उद्धिताः' से बूढ़ों के निराश्रित मरने के लिए छोड़ दिये गये का ग्रहण करते हैं। वे 'अग्निष्वात्ता' का अर्थ अग्नि से खाये गये अर्थात् जलाये गये और 'अनग्निष्वात्ता' का अग्नि से न जलाये गये अर्थात् गाड़े गये करते हैं।

ये सभी अर्थ ऐसे लोगों द्वारा कल्पित हैं जो वेदमन्त्रों के गूढार्थ को नहीं समझते या समझना नहीं चाहते अथवा मन्त्र को उसकी समग्रता में न देखकर

उसके एक अंश का मनमाना अर्थ करने का प्रयास करते हैं। वेदार्थ की प्रक्रिया का हम पहले उल्लेख कर आये हैं। तदनुसार वेदार्थ में सहायक शास्त्रों के आधार पर इन मन्त्रों का अर्थ करने पर इनसे वेद का सर्वज्ञानमयत्व (**सर्वज्ञानमयो हि सः, सर्वं वेदात् प्रसिध्यति**—मनु०) ही सिद्ध होता है।

यहाँ '**निखाता**' का अर्थ है खनिज विद्या में निष्णात और '**परोप्ता**' का अर्थ है बीज बोने अथवा कृषिविद्या में निष्णात। '**दग्धाः**' से विदग्ध अर्थात् मेधावी पुरुष अभिप्रेत हैं और '**उद्धिताः**' से सबका उत्तम हित करनेवाले समाजसेवियों का ग्रहण होता है। इसी प्रकार द्वितीय तथा तृतीय मन्त्रों में आये '**अग्निदग्धाः**' तथा '**अग्निष्वात्ताः**' का अर्थ अग्निविद्या में पारङ्गत विद्वान् तथा '**अनग्निदग्धाः**' व '**अनग्निष्वात्ताः**' का अर्थ अग्नि से इतर पदार्थविद्याओं में पारङ्गत विद्वान् है। वर्त्तमान में बच्चों, संन्यासियों तथा कुछ व्याधियों से ग्रस्त लोगों को गाड़ने या जल में प्रवाहित करने की प्रथा है, परन्तु यह सब अवैदिक अथवा अनार्योचित है।

Ravi Shastri

शासन-व्यवस्था

प्रायः यह माना जाता है कि वैदिककालीन शासन-व्यवस्था मूलतः राजतन्त्रात्मक थी। वेद में पाये जानेवाले राजा, सम्राट्, स्वराट्, एकराट्, विराट्, अधिराट् आदि शब्दों से भी यही ध्वनि निकलती है, परन्तु राजसत्ता को स्वीकार करनेवाले विद्वान् भी यह निश्चय नहीं कर पाये कि इसका स्वरूप वंशानुगत था या निर्वाचन पर आधारित। उदाहरणार्थ—वैदिक इण्डेक्स के अनुसार यह सर्वथा स्पष्ट है कि जहाँ अनेक स्थितियों में राजसत्ता में वंशानुक्रम देखा जाता है, वहाँ अन्य परिस्थितियों में उसमें चुनाव प्रक्रिया का उल्लेख भी हुआ है। फिर यह स्पष्ट नहीं है कि यह चुनाव केवल राजपरिवार के सदस्यों में से ही करना होता था या कोई भी उपयुक्त व्यक्ति इसका अधिकारी हो सकता था।

वेदादिशास्त्रों को देखने से पता चलता है कि राजा के चुनाव में किसी न किसी रूप में सभी प्रजाजन भाग लेते थे। वेद में प्रजाजनों के लिए **'विश'** शब्द का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद ३।४।२ में कहा है कि देश में रहनेवाली समस्त प्रजायें राज्य करने के लिए तेरा वरण करें, तुझे चुनें—**'त्वां विशो वृणतां राज्याय'**। सायणाचार्य द्वारा उद्धृत श्रौत, आपस्तम्ब तथा बौधायन सूत्रों के अनुसार **'विश'** का अर्थ है राष्ट्र अथवा राज्य की समस्त प्रजा। कात्यायन ने **'विश'** का अर्थ जाति किया है। अथर्ववेद ३।४।१ में कहा है—**'सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु'**—समस्त दिशाओं के वासी तुझे आदरपूर्वक बुलायें और तेरा स्वागत करें। राजा पर समूचे राष्ट्र के योगक्षेम का उत्तरदायित्व होता है। इसलिए उसके चुनाव में छोटे-छोटे माण्डलिक राजाओं (वर्त्तमान में गवर्नरों) से लेकर साधारण से साधारण व्यक्ति को अपनी सम्मति देने का अधिकार है। वेद ने इस सिद्धान्त की बड़े स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है—

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥

—अथर्व० ३।५।७

राजा के निर्वाचन में भाग लेनेवाले लोगों (Electoral College for the

election of the King) को 'राजकृतः' (राजा को बनानेवाले) कहा गया है। वैदिक समाज चार वर्णों में विभक्त है। ऐतरेय ब्राह्मण (८।२८) तथा तैत्तिरीय (१।७।८) के अनुसार राजा के राज्यारोहण से पूर्व ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चारों की अनुमति प्राप्त होना आवश्यक था। शतपथ (६।३।२।५) में लिखा है—

ता अस्मा इष्टाः प्रीता एतं सर्वमनुमन्यते। ताभिरनुमतः सूयते यस्मै वै राजा, नो राज्यमनुमन्यते स राजा भवति, न स यस्मै न।

अन्यत्र (शत० ५।३।५।३१-३७ तथा ५।२।३।४) में इस विषय का विस्तृत विवेचन करते हुए कहा है कि जब तक राजा को ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा पृथिवी पर रहनेवाले सभी वर्णों तथा वर्गों का समर्थन और उनकी अनुकूलता प्राप्त न हो तब तक उसका अभिषेक नहीं हो सकता।

वैदिक काल के '**राजकृत**' ब्राह्मणकाल में '**रत्नी**' तथा रामायणकाल में '**राजकर्त्ता**' कहलाने लगे। राम और भरत का निर्वाचन उन्हीं लोगों ने किया था।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रजा द्वारा राजा का निर्वाचन प्रत्यक्ष (Direct) न होकर प्रजा के विभिन्न वर्गों के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा होता था।

सिद्धान्ततः राजा में अपेक्षित गुणों के आधार पर ही निर्वाचन द्वारा राजा की नियुक्ति होती थी। तथापि इतिहास की दृष्टि से वंशानुक्रम में इस पद को प्राप्त करनेवाले अनेक राजाओं के नाम मिलते हैं। ऐसा आज भी हो रहा है। जवाहरलाल नेहरू के बाद इन्दिरा गांधी और इन्दिरा गांधी के बाद राजीव गांधी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। निर्वाचन अवश्य हुआ है, पर निर्वाचन में वही सफल होते रहे हैं, और यह सब भारत में लोकतन्त्र के अन्तर्गत हो रहा है। यह अकारण नहीं है। व्यक्तित्व का निर्माण करने में जहाँ पूर्वजन्म के संस्कार और इस जन्म का पुरुषार्थ सहायक होता है, वहाँ पैतृक संस्कार तथा पारिवारिक परिवेश एवं वातावरण की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती। जहाँ चौबीसों घण्टे राजनीतिक दावपेंच और शासन-व्यवस्था की चर्चा होती हो, राजनेताओं की भीड़ लगी रहती हो, पारिवारिक जनों को न केवल राजनीतिशास्त्र का पाठ पढ़ाया जाता हो, अपितु व्यावहारिक प्रशिक्षण भी मिलता रहता हो—बाप-दादा के समय से यही पेशा चला आता हो, उसका राजनीति में दक्ष हो जाना, सर्वत्र सम्पर्कसूत्र कायम हो जाना और इस कारण जनता की नज़रों में चढ़ जाना स्वाभाविक है। फलतः उसकी सफलता की सम्भावना बढ़ जाती है। प्रधानमन्त्री आदि तो वह अर्जित योग्यता के आधार पर चुना जाकर ही बनता है, परन्तु परिस्थितियाँ उसे योग्यता

---

१. **समेत्य राजकर्त्तारः समामीयुः द्विजातयः**—वा० रा० अ० काण्ड ६७।२;
समेत्य राजकर्त्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन्—वा० रा० अ० काण्ड ७९।१

प्राप्त करने का अवसर प्रदान कर देती हैं। इस प्रकार वंशानुक्रम चलता है। परन्तु अन्ततः नियुक्ति निर्वाचन के द्वारा ही होती है। वैदिक काल में यही परम्परा थी।

अथर्ववेद में एक मन्त्र द्वारा राजा को सावधान भी किया गया है—

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥

—अथर्व० ६।८७।१; ऋग्० १०।१७३।१

(**विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु**) समस्त प्रजा तुझे हृदय से चाहें। देख, कहीं तेरे दोष से (**राष्ट्रम्**) राष्ट्र (**त्वत्**) तेरे हाथ से (**मा अधिभ्रशत्**) न फिसल जाये। अर्थात् जब तक प्रजा चाहेगी तब तक ही तू सत्ता में रहेगा। यदि तेरा शासन ठीक नहीं होगा तो सत्ता तेरे हाथ से निकल जायेगी। यह कोरी धमकी नहीं है। **'राजा वै प्रकृतिरञ्जनात्'**—प्रजा का रंजन करने से ही राजा की यह संज्ञा है। अथर्ववेद १५।८।१ में कहा है—**'सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत'** उसने प्रजा को प्रसन्न रक्खा, इसलिए वह राजा कहलाया। महाभारत में कहा है—**'रंजिताश्च प्रजास्सर्वा तेन राजेति शब्द्यते'** (शा० प० ५९।१२५)। जो राजा अपने कार्यों द्वारा प्रजा को दुःखी या असन्तुष्ट रखता है, उसे राज्य-च्युत कर दिया जाता है। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। राजा राष्ट्रपति या गणपति की सामान्य संज्ञा है। उसे संविधान के अन्तर्गत ही शासन करने का अधिकार है। एकाधिकार अथवा अधिनायकवाद के विरुद्ध चेतावनी देते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः। विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति। —शत० १३।२।३१

यदि राजवर्ग प्रजा से स्वतन्त्र होगा तो वह प्रजा को ऐसे खा जायेगा, जैसे हिंसक पशु अन्य हृष्ट-पुष्ट पशु को मारकर खा जाता है।

किन गुणों से युक्त व्यक्ति को राजा बनाना चाहिए, इस विषय में ऋग्वेद १०।१६७।३ में कहा है—

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि।
तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम्॥

इस मन्त्र की मानो व्याख्या करते हुए मनु ने लिखा है—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥—७।४

राजा को इन आठ गुणों से युक्त होना चाहिए—

१. इन्द्र (वृष्टिकारक शक्ति) जैसे भरपूर जल बरसाकर जगत् को तृप्त करता है, वैसे ही राजा अपनी प्रजा को हर प्रकार का ऐश्वर्य, भौतिक सुख-सुविधायें प्रदान करनेवाला हो।

२. जैसे **वायु** सब प्राणियों को प्राणवत् प्रिय होता है और सर्वत्र व्याप्त होकर उनके हृदय की बात को जानता है, वैसे ही राजा को सबका प्रिय होना चाहिए और गुप्तचरों द्वारा उसे प्रजा की बातों की जानकारी होनी चाहिए।

३. जैसे **यम** (ईश्वर की नियामक शक्ति) सारे विश्व को नियन्त्रित करता है और सबको धर्मपूर्वक अर्थात् न्यायानुसार सबको दण्डित करता है, वैसे ही राजा को निष्पक्ष होकर विधान के अनुसार प्रजा का नियमन करना चाहिए।

४. **अर्क**—जैसे सूर्य अपनी किरणों द्वारा बिना सन्तप्त किये जल ग्रहण करता है, वैसे ही राजा का कर्त्तव्य प्रजा को पीड़ित किये बिना कराधान करना है।

५. **अग्नि**—जैसे अग्नि अशुद्धि का नाश करती है, उसी प्रकार राजा अपराध, हानि एवं दुष्टता का नाश करके प्रजा को पीड़ित करनेवालों का प्रभावशाली ढंग से दमन करे।

६. **वरुण**—जैसे जल, अपने भँवररूपी पाश में किसी को फँसा लेता है, वैसे ही राजा अपराधियों और षड्यन्त्रकारियों को बाँधकर रक्खे।

७. **चन्द्र**—जिस प्रकार चन्द्रमा सबको आनन्द व शीतलता प्रदान करता है और हर कोई चन्द्रमा को देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार प्रजा को शान्ति प्रदान करनेवाला हो, प्रजाजन उसे देखकर प्रसन्नता अनुभव करें।

८. **वित्तेश**—जैसे कुबेर (धनाढ्य) के पास किसी वस्तु की कमी नहीं होती और वह सबको उदारतापूर्वक ऐश्वर्य प्रदान करता है, वैसे ही राजा के शासन में प्रजा को किसी वस्तु का अभाव नहीं होना चाहिए।

वेद में राजा को जिन गुणों या शक्तियों से सम्पन्न माना गया है, यह आवश्यक नहीं कि वैदिक राजा सदा इन सबपर खरे उतरते रहे हों। पर इस विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता कि—

१. वैदिक आर्य अपने राजा को आदर्श मानकर उसमें उन गुणों को देखना चाहते थे और कुशासन का दोषी होने पर उसे पदच्युत भी कर सकते थे।

२. अधिकांश राजा उन कसौटियों पर खरा उतरने का प्रयत्न करते रहे होंगे।

"स विशोऽनु व्यचलत्, तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्याचलन्" (अथर्व० १५।९) वह (राजा) प्रजा के अनुकूल चलता था तो सभा, समिति तथा सेना भी उसके अनुकूल चलती थी।

वेद ने शासन-व्यवस्था को अनेक व्यक्तियों की सहायता से चलनेवाला बताया है—**"व्याचिष्टे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये"** (अथर्व० ५।६६।६)। शासन-व्यवस्था

की ज़िम्मेदारी तीन पर होती थी—सभा, समिति और आमन्त्रण ।[1] इन्हीं को आज-कल क्रमशः लोकसभा, राज्यसभा तथा मन्त्रिपरिषद् कहा जाता है। वेद में आये गणपति, विश्पति, अमात्य, सचिव, अधिवक्ता, सेनानी आदि पदों से पता चलता है कि वैदिक काल में एक संवैधानिक तथा व्यवस्थित राजतन्त्र था जो प्रशासनिक दृष्टि से अनेक विभागों में विभक्त था, परन्तु यह सारी व्यवस्था लोकतन्त्र पर आधारित थी।

---

१. It has been proposed by Ludwig (Rigveda, Vol. III, P. 253) to see in these two terms (Sabha and Samiti) the designations of two different forms of assembly; the one would be the assembly of the whole people, while the other would be an analogue of the Homeric council of elders, a select body to which great men alone would go to take council with the king—Keith in Cambridge History of India, Vol. I, Chap. IV, P. 86.

सहायक ग्रन्थ सूची

ऋग्वेद
यजुर्वेद
अथर्ववेद
शतपथब्राह्मण
मनुस्मृति
यास्क—निरुक्त
वररुचि—निरुक्तसमुच्चय
स्कन्दगुप्त—निरुक्त
दुर्गाचार्य—निरुक्त
बृहद्देवता
मुण्डकोपनिषद्
वाल्मीकि रामायण
महाभारत
पाणिनि—अष्टाध्यायी
वायुपुराण
विष्णुपुराण
कुमारिलभट्ट—तन्त्रवार्त्तिक
काठकसंहिता
अमरकोश
स्वामी दयानन्द—सत्यार्थप्रकाश
" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
अरविन्द—वेदरहस्य
रघुनन्दन शर्मा—वैदिक सम्पत्ति
सम्पूर्णानन्द—आर्यों का आदिदेश
भगवानसिंह—हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य

उदयवीर शास्त्री—सांख्यदर्शन का इतिहास
राहुल सांकृत्यायन—वोल्गा से गंगा
रामविलास शर्मा—भारत के प्राचीन भाषापरिवार और हिन्दी
अगस्त्य—भारतीय इतिहास तथा कालक्रम का विपर्यास
रोमिला थापर—भारत का इतिहास
मिल्स—भारत का इतिहास
अल्बरूनी का भारत
जयदेव उप्रेती—वेद में इन्द्र
उमेशचन्द विद्यारत्न—मानेवर आदि जन्मभूमि
तैत्तिरीय संहिता
शिवस्वरोदय
चरकसंहिता
नाना पावगी—आर्यावर्त्तांतील आर्यांची जन्मभूमि
वराहमिहिर—बृहत्संहिता
ताण्ड्य महाब्राह्मण
पद्मपुराण
Cambridge History of India
Maxmueller—Rigveda
,, Life and Letters of Maxmueller
,, Origin of Religion
,, Ancient Sanskrit Literature
,, Selected Essays on Language, Mythology and Religion
,, Lectures on Science and Religion
,, History of Sanskrit Literature
,, Science of Language
,, India : What can it teach us
,, Chips from a German Workshop
,, Biographies of words and the home of the Aryans
Macdonel—History of Sanskrit Literature
,, A Vedic Grammar for Students
,, Vedic Reader

B. G. Tilak—Orion
,, Arctic Home in the Vedas
Jesperson—Language, its nature and development
Hertsfield—Zorast and his world
Harprasad Shastri—Journal of Behar Oriental Studies
Mac Crindle—Ancient India of Magesthanese
W. D. Whitney—Language
Monier Williams—Sanskrit English Dictionary
,, Modern India and the Indians
H. H. Wilson—Religious and Philosophical Systems of India
John Muir—The Oriental Studies
,, Sanskrit Texts
P. Mathew—Christianity and Govt. of India
S. Radhakrishnan—History of Indian Philosophy
A. H. Sayes—Antiquity of Civilised Man
Ramchandra Dikshitar—The Matsyapuran—a study
R. Zinimerman—Hymns from the Rigveda
A. C. Das—Rigvedic India
N. B. Pavagi—Vedic Fathers of Geology
A. K. Coomarswamy—A new approach to the Vedas
William Jones—Asiatic Resergents
Margaret—Gift of Toungs
John Marshal—Mohenjodaro and the Indus Civilisation
Rao—The decipherment of Indus Script
Jagatpati Joshi—Transformation of Harappa Culture in Kachha
A. K. Sharma—Evidence of Horse from the Harappa Settlement at Surkotada Archaeology
Maning—Ancient and Medieval India
Weber—History of Sanskrit Literature
G. C. Narang—Real Hinduism
Dailes—Civilisation and Floods in the Indus Valley
Wheeler—Early India and Pakistan

D. D. Kosambi—Early stages of Caste system in Northern India
R. S. Sharma=Material Culture and Social Formation
V. R. Ramchandran—A Peep into Historical Past
Ramchandran Dikshitar—Mauryan Polity
Mac Crindle—Ancient India after accounts of Megasthanese
M. Troyer—Rajatarangini
Count Bjorustjourna—Theogony of the Hindus
Proceedings of All India Oriental Conference
Hackel—History of Creation
R. N. Dandekar—Progress of Indic studies
H. G. Wells—Outline of World History
Kaegi—Rigveda
R. G. Bhandarkar—Indian Antiquity
Buhler—Notes on Prof; Jacobi's Age of Rivgeda and on Tilak's Orion
Griffith—Rigveda
R. C. Datta—Rigveda
V. R. Ramchandran Dikshitar–Origin and Spread of Tamils
P. T. Shriniwas Ayyangar—Dravadian studies
Imperial Gazetteer of India
Imeno—The dialects of old Indo-Aryans
Rikes and Diason—The Pre-historic climate of Bilochistan and Indus Valley
S. P. Gupta—Archaeology and Soviet Central Asia and the Indian Border Lands
Elphinston—History of India
The Origin of Brahmi Script
Caldwel—Comparative philology of Dravadian or South Indian Languages
George Campbwell—Ethnology of India
Grovar—Folk Songs of Southern India
Gilbert Stater—Dravadian Element in Indian Culture
Shrikantha Shastri—Bharatiya Vidya

Nesfield—Brief Review of Caste System in North-Western Provinces of Oudh
Shri Aurobindo – The Vedas
P. Sharan–Sir William Meyer Endowment Lectures Delivered at the University of Madras, 1981
Tamil Antiquity
T. R. Shesha Iyangar—The Ancient Dravadians
George Grierson—Linguistic Survey of India
S. Radhakrishnan—The Gita
Hindustan Times, New Delhi
Indian Express, New Delhi
,, ,, Ahemedabad
Tribune, Chandigarh
Muslim India, New Delhi
Maxmueller—Sacred Books of the East
Journal of the Royal Asiatic Society, London
Jacobi—Culture and Civilisation of Ancient India
Encyclopaedia Brittanica
Warren—Paradise Found or the Cradle of Human Race at the North Pole
Taylor—Origin of the Aryans
Nandlal De—Geographical Dictionary
Maxmueller—Six Systems of Indian Philosophy
P. V. Kane—History of Dharmashastra

विषय निर्देशिका

स्वामीजी की अन्य रचनाएँ

१. अनादि तत्त्वदर्शन
२. वेद-मीमांसा
३. ईशोपनिषद् रहस्य
४. तत्त्वमसि
५. प्रस्थानत्रयी और अद्वैतवाद
६. भूमिकाभास्कर
७. द्वैतसिद्धि
८. आर्यों का आदि देश—सभी क्षेत्रीय भाषाओं में
९. आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता
१०. चत्वारो वै वेदाः
११. वेदार्थ-भूमिका
१२. खट्टी-मीठी यादें
१३. स्वराज्य दर्शन
१४. राजधर्म
१५. सृष्टि विज्ञान और विकासवाद—प्रकाश्य
16. Vedic Concept of God
17. The Brahmasutra—a new approach
18. Theory of Reality
19. Anatomy of Vedanta
20. The Age of Shankara
21. Original Home of the Aryans
22. Political Science

फ़ाउंडेशन द्वारा प्रकाशित एवं प्रसारित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

श्री वेदेन्द्रकुमार कपूर विरचित

१. वैदिक पीयूषधारा
२. Vedic Concept of Yoga Meditation
३. Lectures on Yoga Meditation

श्री स्वामी विद्यानन्द सरस्वती विरचित

१. भूमिकाभास्कर
२. आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता
३. वेदार्थभूमिका (हिन्दी)
४. वेदार्थभूमिका (संस्कृत)
५. Vedic Concept of of God
६. The Brahmasutra —a new approach

डा० कृष्णलाल विरचित

वैदिक यज्ञों का स्वरूप—पशुबलि के विशेष सन्दर्भ में

पुस्तक के विषय में—

श्री बलराम जाखड़ अध्यक्ष लोकसभा, लिखते हैं—आज देश में विघटनकारी तत्त्वों द्वारा प्रादेशिकता, जातीयता आदि पर आधारित संकीर्ण विचारों को बढ़ावा देकर जनमानस को भ्रमित करने का जो प्रयास हो रहा है उसे रोकने के लिए आवश्यक है कि हम अपने देश के अतीत और उसकी सभ्यता का सही मूल्यांकन करें। स्वामी विद्यानन्द सरस्वती की कृति 'आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता' निश्चय ही राष्ट्र में एकता की भावना को उभारने में सहायक होगी। स्वामीजी ने इस मत की पुष्टि में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं कि आर्यजन इसी देश के आदिवासी हैं और वेद मानव को ईश्वरप्रदत्त आदि ज्ञानपुंज है। (भूमिका से)

श्री कृष्णचन्द्र पन्त रक्षामन्त्री भारत, के मत में—स्वामी विद्यानन्द सरस्वती का यह शोधनिबन्ध भारत के आदिकालीन इतिहास पर एक ऐसा प्रकाश डालने का प्रयास है जिसमें भारत में रहनेवाली सभी जातियों, धर्मों और भाषाओं के लोग अपने आपको वैदिक काल के सभ्य और सुसंस्कृत समाज से सम्बद्ध होने पर निस्सन्देह गौरवान्वित अनुभव कर सकें।

इतिहासवेत्ताओं को यह पुस्तक रुचिकर लगेगी क्योंकि इसमें हमारे इतिहास की एक नयी व्याख्या की गई है। यह पुस्तक हमारे अतीत सम्बन्धी शोधकार्यों में आदर का स्थान पायेगी और अन्य विद्वानों को भी इस सामग्री के आधार पर चिन्तन और शोध के लिए प्रेरित करेगी। (प्रस्तावना से)

ग्रन्थकार

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती वैदिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वान्, यशस्वी लेखक तथा कुशल वक्ता हैं। संस्कृत वाङ्मय में वैदिक, जैन तथा बौद्ध आचार्यों द्वारा स्थापित सूत्रात्मक दर्शनशास्त्र की परम्परा का आधुनिककाल में प्रतिनिधित्व करने का श्रेय स्वामी विद्यानन्द सरस्वती को है। स्वामीजी की प्रतिपादन शैली का अपना वैशिष्ट्य है। वेद, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र तथा प्राचीन इतिहास आदि विभिन्न विषयों पर संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेज़ी में आपने लगभग दो दर्जन मौलिक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें से अनेक केन्द्रीय एवं प्रादेशिक सरकारों तथा स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत हैं। पूर्वाश्रम में प्रिंसिपल लक्ष्मीदत्त दीक्षित के नाम से प्रख्यात स्वामी विद्यानन्दजी ने ५० वर्ष तक शिक्षा-क्षेत्र में कार्य किया हैं। लगभग २० वर्ष तक वे डिग्री तथा पोस्ट ग्रेजुएट कालेजों के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे हैं। आपकी योग्यता तथा सेवाओं के उपलक्ष्य में भारत के राष्ट्रपति ने आपको पंजाब विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित सदस्य के रूप में मनोनीत किया। कुछ समय तक आपने गुरुकुल विश्वविद्यालय बृन्दावन के आचार्य पद को भी सुशोभित किया। वर्षों तक आप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की विद्यासभा (सेनेट) तथा उसकी अनेक उच्चस्तरीय समितियों के सदस्य रहे। पंजाब, हरियाणा व दिल्ली की अनेक धार्मिक सांस्कृतिक, शैक्षणिक तथा सामाजिक संस्थाओं से आपका निकट सम्बन्ध रहा है।

आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती